



श्री गणेशप्रसाद वर्णी नि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ३२

# जैन-न्याय

भाग २

लेखक

सिद्धान्ताचार्य (स्व) प कैलाशचन्द्र शास्त्री

पूर्व प्राचार्य श्री स्याद्विद्या महाविद्यालय

भदनी वाराणसी

सम्पादक

डा कमलेशकुमार जैन

जैनदर्शन-प्राध्यापक

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन सस्थान

वाराणसी

# भारतीय आदिवासी

लेखक

उमाशंकर मिश्र

अध्यक्ष, मानव विज्ञान विभाग  
विद्यांत हिन्दू डिग्री कालेज  
लखनऊ

प्रभात कुमार तिवारी

अध्यक्ष, मानव विज्ञान विभाग  
श्री जयनारायण डिग्री कालेज,  
लखनऊ



उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

लखनऊ

1975

प्रकाशक

ग्रन्थालय हीमालय

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

लखनऊ

शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय भारत सरकार  
की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत  
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

© उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

पुनरीक्षक

डा० कृपाशंकर माथुर

अध्यक्ष, नशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रथम संस्करण 1100 प्रतिया—1975

मूल्य 12 50

मुद्रक

विश्व मोहन

पन्नार मुद्रक

117 नजीराबाद

लखनऊ



## प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964-66) की सस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को ससद के दोनों सदनो द्वारा इस सम्बन्ध में एक सकल्प पारित किया गया। उस सकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मन्त्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चय किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गई। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गई।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण की योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्व विद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाठ्यलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित कराई जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणों द्वारा तैयार की गई थी।

प्रस्तुत पुस्तक इस योजना के अन्तर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गई है। इसके लेखक श्री उमाशंकर मिश्र तथा श्री प्रभात कुमार तिवारी हैं। इसका विषय संपादन डा० कृपाशंकर माथुर ने किया है। इन विद्वानों के इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित हो सकेगा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

अध्यक्ष, प्राची मंडल

उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

## बी शब्द

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी के सौजन्य से प्रकाशित यह पुस्तक राष्ट्र के उस उपेक्षित वर्ग से सम्बन्धित है जिनकी समस्याओं का समाधान आज की आवश्यकता है। सम्पूर्ण देश के बहिष्कृत एवं असम्य अर्थों में फँसे हुए यह जनसमुदाय सदियों से हमारे सामान्य जनजीवन की धारा से विलग उपेक्षित जीवन व्यतीत करते चले आ रहे हैं। अंग्रेजी भाषा में इन जन समुदायों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। सामान्य जिज्ञासुओं एवं आज के विद्यार्थी वर्ग की आवश्यकताओं को देखते हुए हिंदी भाषा में इस विषय पर प्रामाणिक पठन सामग्री का लगभग अभाव सा ही प्रतीत होता है। प्रस्तुत पुस्तक इस अभाव की पूर्ति कर सकेगी हमें ऐसी भाषा है।

आदिमजातीय समुदायों के सही वास्तव में देश के आजीवनतम विकास हैं अथवा नहीं—यह एक विवाद का विषय हो सकता है किंतु देश के अन्य वर्गों की अपेक्षा वे देश की मिट्टी से कहीं अधिक निकट हैं यह एक प्रत्यक्ष सत्य है। अतीत के अंधकार में छिपा उनका इतिहास आज भी प्रागैतिहासिक युग की सीमाओं में घिरा हुआ प्रतीत होता है। अंत उन्हें देश के 'आदिवासी' संवीचन पर विशेष बल देते हुए ही पुस्तक का नाम 'भारतीय आदिवासी' रखा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अधिक से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सके, इस दृष्टिकोण से कि ही विशेष आदिमजातियों को ही वर्णों का विषय न बना कर सामान्य तथ्यों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। पुस्तक के अंत में दो परिशिष्टों में आदिवासी समुदायों एवं विस्तृत अध्ययन सामग्री की सूची प्रस्तुत करके पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय आदिवासियों के अध्ययन में (स्व०) डा० श्रीरेन्द्र नाथ

मजूमदार का नाम अग्रगण्य है। हमे उनके शिष्य होने का भी सौभाग्य प्राप्त है और हमारा वह प्रवास उनकी स्मृति को समर्पित है।

पुस्तक के लेखन मे हमारी प्रेरणा के स्रोत डा० कृपाशंकर माधुर—अध्यक्ष मानव विज्ञान विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय रहे हैं जिनका सतत निर्देशन हमे प्राप्त होता रहा है। यदि इस पुस्तक मे कुछ भी बल पडा है तो उसका श्रेय उनके उदार सहयोग एवं विद्वतापूर्ण निर्देशन को ही है। हिंदी ग्रंथ अकादमी के निदेशक श्री ब्रह्मादत्त दीक्षित का सहयोग अविस्मरणीय रहेगा। जिस प्रकार मुक्त हृदय से उन्होंने हमारा अमूल्य उत्साहवर्धन किया है—वह सराहनीय है।

समय समय पर हमारे विशिष्ट मित्र वृन्दो मे श्री हरी सहाय सक्सेना श्री दीपक त्यागी डा० ब्रजराज किशोर शुक्ल एवं श्री चंद्र मोहन अमोली के सुझावो एवं आलोचनाओ से हमे बडा प्रोत्साहन मिला है। पुस्तक को निखरा हुआ स्वरूप देने मे श्री विद्व मोहन ने मुद्रण व्यवस्था का कार्य जिस लगन से अल्प समय मे ही सम्पादित किया वह उनकी कुशलता का परिचायक है।

हम उन अनेक लेखका एवं प्रकाशको के भी आभारी हैं जिनकी पुस्तको के अध्ययन हमारे मस्तिष्क मे नई नई जिज्ञासाये जागन करते रहें हैं। प्रस्तुत पुस्तक उही जिज्ञासाओ को एक मूर्त रूप देने का परिणाम है।

आदिवासी संस्कृतियों की विविधताओ एवं विशिष्टताओ का परिसर इतना बृहद् है कि किसी एक पुस्तक मे उनका अध्ययन प्रस्तुत कर पाना एक कठिन कार्य है। फिर भी उनकी मूल समस्याओ से सम्बन्धित लगभग सभी सामाजिक सांस्कृतिक पक्षो की चर्चा पुस्तक मे की गई है। हमे आशा और विश्वास है कि विद्वान पाठकबन्ध हमारी त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए अपने सुझाव प्रेषित करेंगे जिससे भविष्य मे हम इसे और भी उपयोगी बना सक।

लेखकद्वय

## विषय सूची

	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना	पाँच
दो शब्द	सात
1 भारत के आदिवासी-एक परिचय	1
2 भारत के आदिवासियों का वर्गीकरण	25
3 आदिवासी अर्थव्यवस्था	53
4 सामाजिक संगठन	89
5 भारत में आदिमजातीय राजतन्त्र एवं प्रशासन	116
6 आदिवासी जन आंदोलन एवं क्रान्तियाँ	154
7 आदिवासी धर्म	193
8 आदिवासी समस्याएँ एवं कल्याण	218
9 आदिवासी कल्याण एवं नीतियाँ	245
<b>परिशिष्ट</b>	
भारत की अनुसूचित आदिम जातियाँ	261
भारत की प्रमुख आदिम जातियाँ (मान चित्र)	
प्रस्तावित पाठ्य सामग्री	271
संदर्भ ग्रन्थ सूची	277
विषय संदर्भिका	292
शुद्धि पत्र	301

## भारत के आदिवासी—एक परिचय

आदिम समाजों के लोग देश के आदिवासी हैं—यह एक सदिग्ध विषय है। उनसे संबंधित ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में यही मान्यता श्रेयस्कर है। किंतु देश की सांस्कृतिक धरोहर के रूप में वे महत्वपूर्ण हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। भारत की सांस्कृतिक विविधता को आदिवासी संस्कृतियाँ एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं। हमें उनकी संस्कृतियों पर गर्व है। सम्भव विविधता के इसी विशिष्ट स्वरूप का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप से गणतंत्र दिवस पर करके हम विविधता में एकता का परिचय देते हैं। इस अवसर में देश के आदिवासी समुदायों का एक सामान्य परिषद प्रस्तुत किया गया है।

सामाजिक समूहों का उनकी विशिष्टताओं के आधार पर कबीला, जाति वग, जनजाति तथा प्रजाति आदि कुछ श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाता है। सभी देशों में यह सभी प्रकार के सामाजिक समूह नहीं पाये जाते। इसके विपरीत सभी देशों के सामाजिक समूहों को एक से अधिक प्रकार की उपर्युक्त श्रेणियों में श्रेणी-बद्ध किया जा सकता है। यहाँ हमारा उद्देश्य ऐसे सामाजिक समूहों की चर्चा करना है जिन्हें सामान्यतया जनजाति अथवा आदिम जाति कहा जाता है। ससार के अधिकांश क्षेत्रों में इस प्रकार के जनसमूह पाये जाते हैं। इनकी कुछ सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टताओं के आधार पर इन्हें परिभाषित किया जाता है। जाति वर्ग तथा प्रजाति आदि श्रेणियों तथा इस वर्ग में आने वाले जन समूहों में भेद स्थापित किया जा सकता है। जहाँ जाति तथा वर्ग में सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधार पर इन जन समूहों को अलग किया गया है वहाँ प्रजाति की श्रेणी में केवल जन्म जात मौलिक लक्षणों के आधार पर माने गये जनसमूहों को ही सम्मिलित किया जाता है। अधिकांशतः जाति एवं वर्ग की तुलना में ये जनसमूह आकार में बहुत छोटे हुए करते हैं तथा इनके सामाजिक संबंधों का विस्तार सीमित क्षेत्रों में ही होता है। इसी दृष्टिकोण में साधारणतया इन जनसमूहों को सीमित विस्तार वाले जन समूह अथवा लघु समाज कहा जाता है। परंतु वास्तव में यह विशेषता ठीक प्रकार से इस श्रेणी में आने वाले जन समूहों का परिचय नहीं दे पाती। इन जन समूहों की अपनी एक भाषा होती है। उनका अपना एक सीमित क्षेत्र भी होता है। ससार के सभी भागों में इस प्रकार के जन समूह अधिकतर घने जंगलों सीमांत प्रदेशों, पर्वत शृंखलाओं निम्न महस्थलों तथा छोटे छोटे द्वीपों में निवास करते हैं। यह सभी क्षेत्र बहुधा ऐसे क्षेत्र हुआ करते हैं जहाँ अन्य प्रकार के वर्गों के जन समूहों से इनका संपर्क बहुत कम हो पाता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि जिन क्षेत्रों में ये निवास करते हैं उनमें आवागमन के साधनों के अभाव में बाहरी लोगों का पहुँच पाना संभव नहीं होता। एक सीमित क्षेत्र में विशेष प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियों में काफी लंबे समय से रहते चले आने के परिणाम स्वरूप तथा बाह्य संपर्कों की न्यूनता अथवा अभाव में इन जनसमूहों के जीवन यापन के विधानों तथा इनकी संस्कृतियों में भी विशेषता आ जाती है। इसी कारण से इस प्रकार के जन समूहों में अपनी एक विशिष्ट संस्कृति का होना, जो कि अपने प्रकार के ही अन्य समूहों की संस्कृतियों से भिन्न होती है इनका एक विशेष लक्षण हो जाता है। इनकी भाषाएँ भी अन्य प्रकार के जनसमूहों द्वारा बोली जाने वाली

भाषाओं से सर्वथा भिन्न हुआ करती हैं। इनमें से अधिकांश भाषायें लिपि हीन हैं। केवल कहीं-कहीं जहाँ इन जनसमूहों का संपर्क अन्य प्रकार के जनसमूहों से हो चुका है वहाँ किसी विदेशी लिपि का उपयोग भी होने लगा है। परन्तु इस प्रकार के लोगो द्वारा बोली जाने वाली ऐसी भाषाओं की संख्या भी बहुत कम है। एक और विशेषता जो कि इन लोगों में पाई जाती है वह है इनका आर्थिक पिछड़ापन। अधिकांशतया जिस प्रकार के क्षेत्रों में यह लोग रहते हैं वहाँ इन्हे अपने क्षेत्र में ही प्राप्त प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करना पड़ता है। आर्थिक आत्मनिर्भरता इन समाजों का एक विशेष लक्षण है। अपने पर्यावरण में जीवन निर्वाह के इनके साधन अत्यन्त साधारण होते हैं आर्थिक व्यवस्था इतनी अविकसित होती है तथा साधन इतने म्यून होते हैं कि अथक परिश्रम के उपरांत भी केवल मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाना ही संभव होता है। अतः अन्य प्रकार के समुदायों की तुलना में आर्थिक पिछड़ापन इन समाजों की एक विशेषता मानी जाती है। साधारणतया सभ्यता का मूल्यांकन आर्थिक साधनों की प्रगति शीलता तथा लिखने पढ़ने की परंपराओं के आधार पर ही किया जाता है। इन दोनों के अभाव में ही संभवतः इन जनसमूहों को असभ्य माना जाता है। इन्हीं आधारों पर सभ्य कहे जाने वाले मानव समाजों से दूर अपने सीमित क्षेत्रों में भ्रमण करने वाले तथा अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपराओं से जकड़े हुये यह मानव समाज संसार का भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बसे हुये हैं। जहाँ अन्य प्रकार के सामाजिक समूहों का अध्ययन समाज शास्त्र अथ शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र आदि में किया गया है इन शास्त्रों के द्वारा ये मानव समाज अधिकांशतया उन्मिन्न ही रहे हैं। मानव विज्ञान ही एक ऐसा विषय है जिसके अंतर्गत अन्य प्रकार के मानव समूहों के साथ-साथ इन मानव समाजों का भी अध्ययन विस्तार पूर्वक एवं वैज्ञानिक आधार पर किया गया है।

मानववैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रकार के जन समूह अन्य जन समूहों से सामाजिक व्यवस्था में भी भिन्न होते हैं। अधिकांशतया इनका सामाजिक संगठन बहुत्व संबंधों पर आधारित होता है। इनके अपने बह्यहिक नियम एवं पद्धतियाँ हुवा करती हैं। प्रत्येक समूह के वैवाहिक संबंध अपने समूह में ही सीमित होते हैं। प्रत्येक समूह की अपनी राजनीतिक प्रणाली भी होती है—समूह के आंतरिक मामलों का निपटारा परंपरागत आधार पर सामूहिक परिषदों, बड़े-बूढ़ों की गोष्ठियों अथवा समूह का नेतृत्व करने वाले मुखिया अथवा सरदार के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार से जिस देश में



भी यह सोच रहते हैं बहुत के अन्य प्रकार के निष्कर्षों तथा पड़ोसियों की तुलना में ये समाज विशिष्ट प्रकार के समुदायों के रूप में पाये जाते हैं। इन्हीं समुदायों को जनजाति, आदिमजाति, आदिवासी आदि शब्दों से संदर्भित किया जाता है।

उपयुक्त दृष्टिगत विशेषताओं के होते हुए भी, इन आदिमजातियों की परिभाषा कर सकना एक कठिन कार्य हो जाता है क्योंकि यह सभी लक्षण भिन्न भिन्न अंशों में अन्य प्रकार के सामाजिक समूहों में भी पाये जाते हैं। अतः निश्चित आधारों पर इनमें तथा अन्य प्रकार के सामाजिक समूहों में अंतर स्थापित करना कठिन हो जाता है। फिर भी मानव विज्ञान के क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने आदिमजाति शब्द की परिभाषा करने के प्रयत्न किये हैं, जिनके आधार पर किसी सीमा तक इस अवधारणा को समझा जा सकता है।

### आदिमजाति की परिभाषा

नाडेल ने इस सबंध में चर्चा करते हुये लिखा है कि किसी भी जन समूह की परिभाषा करने में हमें दो प्रमुख बातों की ओर ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक समूह का निर्माण व्यक्तियों के द्वारा ही होता है। इसलिये यदि आवश्यकता हो तो किसी भी समूह की परिभाषा करते समय उन व्यक्तियों के सबंध में कुछ कहा जाये। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समूह का एक क्रियाशील क्षेत्र होता है और उस समूह की समस्त कानूनी राजनीतिक तथा आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र अपनी क्रियाशील सीमाओं के अंतर्गत ही हुआ करता है। अतः समूह की परिभाषा करते समय इन क्षेत्रों के विस्तार की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। इसी आधार पर आदिमजातियों की परिभाषा भी की जानी चाहिये क्योंकि जाति बस अथवा आदिम जातियाँ यह सभी सामूहिकता के भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। आदिमजातियाँ एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सांस्कृतिक संगठन के स्वरूप हैं। इस शब्द का प्रयोग भी वास्तव में एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था का ही परिचायक है। नाडेल के उपर्युक्त विचारों के आधार पर जब हम आदिमजातियों के क्रियाशील क्षेत्रों की सीमाओं का निर्धारण करने का प्रयत्न करते हैं तो भौगोलिक भाषागत, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रमुख रूप से सामने आते हैं। क्योंकि एक सामान्य क्षेत्र, सामान्य राजनैतिक प्रशासन तथा विशिष्ट संस्कृति यह तीनों विशेषताएँ लगभग सभी विद्वानों द्वारा आदिमजातियों की प्रमुख विशेषताएँ मानी गई हैं। विशेष रूप से मानववैज्ञानिकों ने सांस्कृतिक आधार पर भेद स्थापित करने के सिद्धांत को अधिक महत्व

दिया है परंतु सांस्कृतिक जंगल पर आदिमजातियों को परिभाषित करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। भारतभर में विशेष रूप से ये कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त, कहीं-कहीं पर एक ही विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक आदिमजातियाँ पाई जाती हैं और उनमें आपस में सांस्कृतिक भिन्नताओं के स्थान पर समानताएँ ही अधिक पाई जाती हैं। अतः इन समाजों की क्रियाशीलता के क्षेत्रों को भौगोलिक, भाषा तथा राजनैतिक सीमाओं के आधार पर ही अधिक सुविधा पूर्वक निश्चित किया जा सकता है।

इम्पीरियल गजेटियर में आदिमजाति की परिभाषा करते हुये कहा गया है—‘एक आदिमजाति परिवारों का एक वह समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं तथा एक सामान्य क्षेत्र में वा तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र से संबंधित मानते हैं तथा ये समूह अतिविवाही ही होते हैं। इस परिभाषा में एक आदिम जाति के सदस्यों के लिये (1) सामान्य नाम (2) एक भाषा अथवा उपभाषा का बोलना (3) एक सामान्य क्षेत्र में निवास करना अथवा उस क्षेत्र से अपने को संबंधित मानना तथा (4) वैवाहिक संबंधों का समूह के अंदर ही सीमित रहना आदिमजाति की विशेषताएँ माना गया है।

डब्लू० एच० बार० रिबर्स ने आदिमजाति की परिभाषा करते हुये लिखा है कि आदिमजाति एक अत्यन्त साधारण कोटि का सामाजिक समूह होता है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं उसकी एक शासन प्रणाली होती है तथा सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तथा युद्ध इत्यादि की स्थिति में एकता का प्रदर्शन करते हैं।’

डा० रिबर्स की इस परिभाषा में एक सामान्य क्षेत्र में निवास करने को कोई महत्व नहीं दिया गया। इसके विपरीत पेरी आदि अन्य अनेक विद्वानों ने इसे आदिमजातियों के समूहों की महत्वपूर्ण विशेषता माना है। इन लोगों के अनुसार यहाँ तक कि खानाबदोश आदिमजातियाँ भी जो कि कभी स्थाई रूप से अधिक समय तक एक ही स्थान पर निवास नहीं करती, सदैव एक सीमित क्षेत्र में ही विचरण करती हैं। रेडक्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलिया में किये गये अध्ययनों के आधार पर लिखा है कि किन्हीं-किन्हीं अवसरों पर एक ही आदिमजाति के भिन्न-भिन्न वर्गों में आपस में ही युद्ध होता है। अतः डा० रिबर्स की परिभाषा में युद्ध इत्यादि कुछ विशेष परिस्थितियों में सम्मिलित सहयोग की बात भी सभी स्थानों पर नहीं पाई जाती।

जेम्स ने आदिमजातियों की परिभाषा करते हुये कहा है कि आदिम

जातियाँ ऐसे लोगों का एक समूह होती हैं जिनकी अपनी एक सामान्य संस्कृति होती है। क्रोबर के अनुसार मानव विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृति की अवधारणा के अनुरूप आदिमजाति के सदस्यों का एक ही सामान्य संस्कृति का अंग होना उनका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है।

आदिमजाति शब्द के संबंध में मानव वैज्ञानिकों में मतभेद न होने का एक मूल कारण यह है कि प्रत्येक मानववैज्ञानिक ने जिन क्षेत्रों की आदिम जातियों में कार्य किया है उन्हीं के अनुभवों के आधार पर इस शब्द की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। अतः अपनी परिभाषाओं में क्षेत्र विशेष की आदिमजातियों में प्राप्त विशेषताओं का उल्लेख किया है। परंतु इस शब्द की भिन्न भिन्न परिभाषाओं के आधार पर सार्वभौमिक रूप से आदिम जातियों में पाई जाने वाली विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। इन्हीं सामान्य विशेषताओं की चर्चा पहले की जा चुकी है।

### भारतीय आदिमजातियाँ

संसार के अन्य क्षत्रों की भाँति भारतवर्ष की आदिमजातियों का भी अपना एक निश्चित स्वतंत्र होना है और इसी क्षत्र की सीमाओं में इनकी क्रियाशीलता तथा उनके सामाजिक संबंध सीमित होते हैं। कुछ आदिमजातियों में जहाँ काम की धोज में लोग अपने क्षत्र का छोड़ कर औद्योगिक संस्थानों, खानों अथवा चाय बागानों में चले गये हैं और लगभग स्थाई रूप से उन्हीं क्षत्रों में रहने भी लग गये हैं वे भी अपने मूल क्षत्र से पूर्णतया अपना संबंध विच्छेद नहीं कर सके हैं। अपने मूल क्षत्रों का ही परंपरागत रूप से अपना मूल स्थान मानते चले जा रहे हैं। उदाहरण के लिये असम के चाय बागानों में काम करने वाले स्थान सदय बिहार तथा पश्चिमी बंगाल के उन्हीं क्षेत्रों को अपना परंपरागत निवास स्थान घोषित करते हैं जहाँ के वे मूल निवासी हैं।

जैसा कि पहले कह चुके हैं—आदिमजाति की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर भिन्न भिन्न रूप से की है। फिर भी इन सभी के आधार पर आदिमजाति की अवधारणा के संबंध में कुछ सामान्य लक्षणों की चर्चा की जा सकती है। हमने यह भी कहा है कि संसार के अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष में कुछ विशेष परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण सामान्य परिभाषा के आधार पर भारतीय जनजातियों को अभी बढ़ करने में कठिनाई होती है। अनेक भारतीय मानव वैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने भारतीय आदिवासी क्षेत्रों में अपने अनुभवों के आधार पर आदिमजाति शब्द

की परिभाषा भारतीय संदर्भ में की है। अतः भारतीय आदिवासियों की वर्गीकरण करते हुये इन परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

डा० मजूमदार ने बिहार के सिंहभूम-भानगूम जिलों के आदिवासियों में कार्य किया। वैसे उनके कार्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत रहा है फिर भी इस क्षेत्र में उन्होंने अधिक कार्य किया है। डा० मजूमदार ने आदिमजाति शब्द की परिभाषा इस प्रकार से की है—

यद्यपि किसी भी भारतीय आदिम जाति के सभी सदस्यों में आपस में रक्त संबंध नहीं हुआ करते फिर भी सिद्धान्ततया रक्त संबंध प्रत्येक आदिम-जाति के सामाजिक संबंधों के संगठन एवं नियंत्रण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परिणाम स्वरूप अपने समूह के अंतर्गत ही वैवाहिक संबंधों का सीमित होना तथा अधिकांश आदिम जातियों का गणों तथा उपगणों में विभाजित होना एक सामान्य विशेषता पाई जाती है। यह गण रक्त सम्बन्धी होने के कारण बहिर्विवाही होते हैं।

प्रत्येक भारतीय आदिमजाति के सभी सदस्यों की अपनी एक विशेष भाषा होती है। एक ही क्षेत्र में बसे होने पर भी भाषाओं में भिन्नता अक्सर उनके संपर्कों को शिथिल कर देती है तथा उनमें सांस्कृतिक अन्तर बैसे के बैसे बने रहते हैं। इस सम्बन्ध में सेमानागा आदिमजाति का उल्लेख करते हुये जे० एच० हटन ने एक बड़ी ही रोचक घटना का विवरण दिया है, जिसमें बताया है कि सात भिन्न सेमानागा आदिम जाति के सदस्य अकस्मात् अपनी यात्राओं के दौरान एक ही स्थान पर रात काटने के लिये विश्राम करने लगे। सभी ने अपनी भाषा में अपनी-अपनी खाद्य सामग्री का वणन किया। परन्तु जब उन्होंने खाने के लिये अपना खाना निकाला तो सभी के पास एक ही खाद्य सामग्री निकली। भाषाओं का अन्तर आस-पास की जसी हुई आदिम-जातियों में एक पर्व का कार्य करता रहता है जिसके कारण परस्पर सांस्कृतिक आदान प्रदान में अवरोध उत्पन्न होता है। परन्तु इसके विपरीत भारतवर्ष के कुछ क्षेत्रों में आदिमजातियों में अपनी भाषा के साथ-साथ अपने पड़ोसी आदिमजातियों अथवा बने हुये सभ्य हिंदू लोगों की भाषा भी प्रचलित हो जाती है और वे दोनों भाषाओं का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ करते हैं। ऐसे क्षेत्र में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा सहकार को प्रोत्साहन मिला है। बिहार तथा मध्य प्रदेश की अधिकांश आदिमजातियों में ऐसी ही परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं।

यद्यपि भिन्न भिन्न आदिमजातियों में परस्पर संघर्ष कुछ क्षेत्रों में पाये

जाते हैं फिर भी एक ही आदिमजाति के अन्तर्गत सामूहिक स्तर पर संघर्षों का अभाव मिलता है। यह भारतीय आदिमजातियों की एक विशेषता है। नागालैंड क्षेत्र की आदिम जातियाँ अपने आपसी संघर्षों के लिये प्रख्यात है। इसी प्रकार अरुणाचल प्रदेश में भी आपातानी तथा डाकला आदिम जातियों में निरन्तर संघर्ष चलते रहते हैं। इसके विपरीत ऑस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका की आदिमजातियों में सामूहिक स्तर पर संघर्ष बने रहते हैं जिससे उनमें एकता तथा संबद्धता के बलवन् भारतीय आदिमजातियों की अपेक्षा मिथिल होते हैं।

यद्यपि राजनतिक दृष्टिकोण से प्रत्येक आदिमजाति उसी राज्य के राजनतिक प्रशासन के अन्तर्गत मानी जाती है जिस राज्य में वह रहती है तथा देश के अन्य क्षेत्रों एवं लोगों की भांति उनका प्रशासन भी संबंधित राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व है तथापि प्रत्येक आदिमजाति की अपनी एक परंपरागत राजनतिक व्यवस्था भी होती है जिसके द्वारा उनके निजी मामलों का निपटारा तथा सामाजिक नियंत्रण का कार्य चलता रहता है। भिन्न-भिन्न आदिमजातियों में एक अथवा एक से अधिक आदिमजातीय पंचायतें होती हैं। अधिकांशतया पूरे समूह का नियंत्रण बयस्कों द्वारा निर्मित परिषद अथवा किसी एक ही सरदार अथवा मुखिया के नेतृत्व के द्वारा होता है।

इन सबके अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया जा सकता है जो भारत की आदिमजातियों में तो पाई जाती हैं परंतु अन्य सभ्य लोगों में उनका अभाव पाया जाता है। जैसे सांस्कृतिक विषमता इनमें से एक है। यह सांस्कृतिक विषमतायें उनके विशिष्ट सामाजिक संगठन, रीति रिवाज धार्मिक क्रियाओं, विवाह के नियमों नृत्य संगीत पहनावा तथा दैनिक जीवन में व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं के रूप में पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त इनका आर्थिक पिछड़ापन तथा आर्थिक जीवन के साधन एवं स्रोत भी इन्हें भारतवर्ष के सभ्य कहे जाने वाले समाजों से पृथक् करते हैं। इनका आर्थिक संगठन भी सभ्य लोगों के आर्थिक संगठन से भिन्न होता है और यह भी इनके आर्थिक पिछड़ेपन का एक मूल कारण है। उदाहरण के लिए सभ्य लोगों के आर्थिक संगठन की भांति न तो श्रम का विभाजन (कुछ गिमे बुने आधारों जैसे आयु तथा लिय को छोड़कर) ही उस स्तर का पाया जाता है और न किसी प्रकार का आर्थिक विशिष्टीकरण ही देखने की मिलता है। आर्थिक क्रियाओं के जितने भी क्षेत्र होते हैं उन सभी क्षेत्रों में सभी व्यक्तियों

के सङ्ग होने की अपेक्षा की जाती है। निम्न ही कुछ व्यक्ति कुछ कार्यों की अन्य कार्यों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से कर सकने की सामता रखते हैं। परन्तु उनके आर्थिक संगठन कम हैं इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। साथ ही उनका तकनीकी ज्ञान इतना सीमित होता है तथा इसके परिणाम स्वरूप उनके साधन इतने अधिकसिंत होते हैं कि बोटे से उत्पादन के लिए उन्हें दृष्टेय समय तथा अन्न भक्षण पड़ता है। सम्म समाजों के आर्थिक संगठनों में इससे विपरीत दशाएँ पाई जाती हैं। अतः आर्थिक जीवन के आधार पर भारत की आदिमजातियों तथा देश के अन्य वर्गों में स्पष्ट रूप से अंतर स्थापित किया जा सकता है। इन वर्गों के परिणाम स्वरूप देश की आदिमजातियों तथा अन्य वर्गों के मध्य सांस्कृतिक विषमताएँ विद्यमान हैं।

यद्यपि उपर्युक्त वर्णित अधिकांश विशेषताओं के आधार पर सार्वभौमिक रूप से आदिमजाति शब्द की अवधारणा की परिभाषा की गयी है परन्तु संसार के अन्य क्षेत्रों की तुलना में भारतवर्ष में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण अक्सर सार्वभौमिक रूप से मान्य इस परिभाषा को अपनाने में कठिनाई होती है। मानव विज्ञान के क्षेत्र में सर्व प्रथम अध्ययन आस्ट्रेलिया अफ्रीका दक्षिण अमेरिका तथा प्रशांत महासागरीय द्वीप समूहों मेलांशिया आदि क्षेत्रों में किये गये जहाँ आदिमजातीय तथा अन्य वर्गों के लोगों में स्पष्ट रूप से विषमताएँ पाई गईं और किसी सीमा तक आज भी जाँझकास तथा वैसी ही परिस्थितियाँ बनी हुई हैं। इन्हीं अनुभवों पर आधारित आदिमजाति की परिभाषा एवं अवधारणा को सबमान्य किया गया। परन्तु भारतवर्ष में वैसी आदर्श परिस्थितियों का लगभग अभाव सा पाया जाता है। हमारे देश में सैकड़ों वर्षों से आदिमजातियाँ काफी क्षेत्रों में अन्ध प्रकार के लोगों के संपर्कों में रहती चली आ रही हैं। अतः केवल कुछ क्षेत्रों को छोड़कर अधिकांश अन्य क्षेत्रों में निरन्तर परस्पर सांस्कृतिक आदान प्रदान की प्रक्रिया चलती रही है जिसके कारण उनकी संस्कृतियाँ अपने पड़ोसी सम्प्र समाजों की संस्कृतियों के अधिक निकट आ चुकी हैं और उनमें व्याप्त विषमताओं में कमी हुई है। विशेष कर पिछले पचास वर्षों में इन क्षेत्रों में औद्योगिक गतिविधि के बढ़ने से तथा आवागमन के साधनों में परिवर्धन तथा सड़कों के निर्माण कार्य से इस प्रक्रिया में तीव्रता आई है। बस्तुतः अधिकांश आदिमजातीय क्षेत्रों में, आदिमजातियों के निविष्ट किमारेवक क्षेत्रों की अब स्पष्ट रूप से अंकित नहीं किया जा सकता। विशेषकर छोटा नागपुर क्षेत्र के जोरौन तथा कन्यास एवं मध्य प्रदेश की जीठ आदिमजातियों का संसार अधिक

विस्तृत क्षेत्रों में हुआ है और अब इनके सीमित भौगोलिक क्षेत्र नहीं रहे हैं। जनसंख्या के दृष्टिकोण से इन तीनों की संख्या सम्मिलित रूप से देश की संपूर्ण आदिमजातीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग है।

अपनी एक भाषा का होना जिसे आदिम जाति के सभी सदस्य बोलते हो, इन समाजों का एक विशेष लक्षण माना गया है। परन्तु इस दृष्टिकोण से भी भारतवर्ष की आदिमजातियों में हमें विशेष परिस्थिति मिलती है। कुछ इने गिने क्षेत्रों को छोड़कर अधिकांश आदिमजातियाँ सामान्यतया दो भाषाएँ बोलती हैं। एक तो अपनी भाषा तथा दूसरी अपने पड़ोसी आदिमजातियों अथवा हिंदुओं की भाषा। इसीलिये उनकी विशिष्ट भाषा के आधार पर कोई सीमा रेखा स्थापित नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि कुछ आदिमजातियों ने तो अपनी भाषा पूर्णतया त्याग कर अपने पड़ोसियों की भाषा अपना ली है। उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश के भील तथा उत्तर प्रदेश के थारू लोगों की अब अपनी कोई भाषा नहीं रह गई है तथा वे अपने पड़ोसी हिंदुओं द्वारा बोली जानेवाली हिंदी भाषा की ही किसी उपभाषा का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार से दक्षिण भारत में काफी संख्या में आदिमजातियाँ अपने पड़ोसी सभ्य समाज के लोगों द्वारा बोली जाने वाली द्रविड भाषा परिवार की भाषाएँ तमिल, तेलगू, कन्नड़ अथवा मलयालम भाषाय अपना चुकी हैं। इस प्रकार से आदिम जातियों तथा समाजों में निरन्तर सम्पर्कों के कारण सांस्कृतिक समन्वय भी भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न सीमाओं तक हुआ है। रीति रिवाजों, धर्म तथा पहनने ओढ़ने के ढंगों और त्योहारों तथा पर्वों के अन्त में यह सांस्कृतिक समन्वय अधिक दिखाई पड़ता है। अतः भारतवर्ष में वर्तमान समय में जो परिस्थितियाँ हैं उसमें मानव वैज्ञानिका द्वारा अपनाई गई परिभाषा के अनुरूप आदिमजातियाँ बहुत कम संख्या में ही पाई जा सकती हैं। वास्तव में अधिकांश आदिमजातियाँ परिवर्तन की भिन्न भिन्न अवस्था में हैं। किन्हीं क्षेत्रों में तो परिवर्तन का यह क्रम इस सीमा तक पहुँच चुका है कि इनका अपना अस्तित्व ही लगभग समाप्तप्राय हो चुका है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे अपने पड़ोसी सभ्य समाजों एवं संस्कृतियों का ही एक अंग बन चुकी हैं। इसीलिए भारतवर्ष में किसी एक स्पष्ट परिभाषा के आधार पर आदिम जातियों तथा देश के अन्य प्रकार के जनसमूहों के बीच अंतर स्थापित कर पाना एक कठिन कार्य है। इसीलिये हमारे देश में आदिमजातियों के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि परिवर्तन के जो भिन्न भिन्न स्तर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में देखने को मिलते हैं वे

परिवर्तन की सभी प्रक्रिया के परिणाम हैं। इन प्रक्रियाओं का अध्ययन स्वयं में एक भूखान अध्ययन का विषय है। वास्तविकता तो यह है कि इन अध्ययनों की उपेक्षा और अधिक वहीं की जा सकती। यदि आज हम सचेष्ट होकर इन प्रक्रियाओं का अध्ययन न कर सकें तो संभवतः आने वाले कुछ ही दशकों में यह अवसर सदब के लिये हमारे हाथ से निकल जायेगा। क्योंकि देश में औद्योगिक प्रगति एवं कल्याणकारी कामों का काम जिस तीव्रता से चल रहा है उसके अनुसार परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं में अधिक तीव्रता आना अवश्यभावी है।

### अनुसूचित आदिमजातियाँ

सन् 1950 में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 16 में भारतवर्ष की जनसंख्या के कुछ विशेष वर्गों की चर्चा की गई है। इसी अनुच्छेद की धारा 330 में उन विशेष वर्गों को नामांकित किया गया है जिनके संबंध में इस अनुच्छेद में कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। इन विशेष वर्गों को (अ) अनुसूचित जातियाँ तथा (ब) अनुसूचित आदिमजातियाँ कहा गया है। इसी अनुच्छेद की धारा 342 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सांख्यिक सूचना के द्वारा समय-समय पर आदिमजातियाँ अथवा आदिम समुदायों अथवा इनके कुछ भागों अथवा समूहों का अनुसूचित घोषित करे तथा संविधान के उद्देश्यों के लिये इसी घोषणा के आधार पर उन्हें अनुसूचित आदिमजातियाँ कहा जायेगा। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा घोषित अनुसूचित आदिमजातियों की कुल संख्या लगभग 160 है जिनमें आसाम की अनुसूचित आदिमजातियों को सम्मिलित नहीं किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 3 में मौलिक अधिकारों की चर्चा की गई है जिसके अनुसार भारतवर्ष के सभी नागरिकों में धर्म प्रजाति जाति लिंग तथा स्थान आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। संविधान के इस अनुच्छेद का महत्व आदिमजातियों के संबंध में और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि भूतकाल में धर्म प्रजाति एवं जन्म स्थान के आधार पर आदिमजातियों में अत्यधिक भेदभाव किया जाता रहा है। इस प्रकार से अन्य अनेक व्यवस्थाओं के द्वारा ऐसी सुविधाएँ प्रदान की गईं जिनसे यह आशा की गई कि देश का यह वर्ग भी धीरे-धीरे उन्नत तथा सभ्य समाजों के समकक्ष आ सकेगा तथा संविधान के चले आ रहे सामाजिक अन्त्याय तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहारों से उन्हें छुटकारा मिल सकेगा। स्पष्ट है कि इन



व्यवस्थाओं के लिये अनुसूचित आदिमजातियों की तालिका में केवल उन्हीं समूहों को चुना गया जिनमें इन व्यवस्थाओं की आवश्यकता सबसे अधिक समझी गई। अतः संविधान में प्रयुक्त इस शब्द के अन्तर्गत भारतीयों में हजारों की संख्या में प्राप्त सभी आदिमजातियों को सम्मिलित नहीं किया जाता बल्कि यह आदिमजातियों का एक विशेष वर्ग ही कहा जा सकता है।

यद्यपि इस पुस्तक में उपर्युक्त वर्णित जन समूहों को जिन्हें अंग्रेजी भाषा में 'ट्राइब' की संज्ञा दी गई है लेखको ने आदिमजाति कहना ही अधिक उपयुक्त समझा है। अपितु हिन्दी भाषा में इनके लिए अंग्रेजी और शब्दों का प्रयोग भी भिन्न भिन्न पुस्तकों में पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समय-समय पर की जाने वाली जनगणनाओं में भिन्न भिन्न जाँघारों पर अधिकारियों ने विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है। ये सभी शब्द अनेक पुस्तकों में भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा अपने-अपने औचित्य के अनुसार अपनाये गये हैं। हर्बर्ट रिजले लेसी बेरियर एलविन तथा ठक्कर बापा आदि ने इन जन समूहों को आदिवासी कहना अधिक उपयुक्त समझा। वेम्स ने इन जन समूहों को पर्वतीय कबीला कहा। ग्रिगसन ने इन्हें पर्वतीय कबीला अथवा वन्य कबीले कहा है। स्पष्ट है कि इन दोनों ने इन जन समूहों के अधिकांशतः पहाड़ियों तथा जंगली क्षेत्रों में बसे होने को अधिक महत्व दिया। इसी प्रकार टैलेंटस, सेगविच ने इन्हें जीववादी कहना अधिक उपयुक्त माना। यहाँ पर इन समूहों की धार्मिक विश्वताओं को महत्व प्रदान किया गया क्योंकि अधिकांशतः इनके धार्मिक विश्वासों में आत्मा तथा प्रेतात्मा की मान्यताएँ पाई गई और इन विश्वासों को जीवात्मावाद की संज्ञा दी गई। जे० एच० हटन ने सभ्यत आर्थिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन को अधिक महत्व देते हुए इन समूहों को पिछड़े कबीले कहना उचित समझा। बुरे को इनके धार्मिक विश्वासों में अस्पष्ट रूप से हिंदू विश्वासों का आभास प्रतीत हुआ। इसीलिये इन्होंने इन समूहों को पिछड़े हिंदू कहा। इस संबंध में कुछ अंग्रेजी लेखकों के विचारों को प्रस्तुत करना आवश्यक है क्योंकि काफी समय तक जनगणना के व्योरो में धार्मिक आधार पर ही इन जन समूहों को अन्य वर्गों से पृथक् किया जाता रहा है। इसका काफी विरोध हुआ है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कई विरोध आत्मा तथा प्रेतात्मा में आस्था भरे इनके धार्मिक विश्वासों के कारण हुए। परन्तु अधिकांश लेखकों एवं विद्वानों ने इन विश्वासों तथा हिंदू धर्म में निहित विश्वासों में कोई मौलिक अंतर नहीं पाया। उदाहरण के लिए रिजले ने हिंदू धर्म के संबंध में अपने

विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि "हिंदू धर्म धार्मिकता के माझर में परिवर्तित जीवजाद ही बना जा सकता है जिसमें जादू टोका, जादि की मान्यताओं को उत्तम ज्ञान का आच्छादन दे दिया गया है।" इसी आधार पर रिजले ने कहा कि हिन्दू धर्म तथा जीवजाद के मध्य विभक्तन रेखा खींचा असम्भव ही पाई जाती है। इसी प्रकार से वेट (जो कि सन् 1911 में जन-गणना अयुक्त थे) तथा सन् 1891 के जनगणना आयुक्त वेन्स ने इन जन समूहों पर हिन्दू धर्म के प्रभाव तथा खीरे-खीरे होते जा रहे हिन्दू धर्म के प्रसार का मूल्यांकन करते हुए कहा कि कभी तक्या में इन समूहों के बारे में यह निश्चित कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है कि कहीं वे अपना धर्म छोड़ चुके हैं तथा कहीं हिंदू धर्म को अपना चुके हैं, क्योंकि दोनो प्रकार के धार्मिक विश्वासों में किसी प्रकार के विरोधाभास के अभाव में जीवजाद के अन्तर्गत आने वाले विश्वासों के साथ-साथ हिन्दू ग्राह्यमणों के प्रति भद्रा तथा हिन्दू देवी देवताओं का समावेश अधिकता से पाया जाता है। इन्हीं बिचारों के आधार पर कुछ विद्वानों ने धार्मिक आधार को ही महत्व देते हुये इन जन समूहों को पिछड़े हिन्दू कहना उचित समझा। जे० एच० हट्टन ने इस परिस्थिति को अपने इस कथन से और भी स्पष्ट कर दिया कि आदिवासी धर्म एवं धार्मिक विश्वास उन बिछरे हुए इ ट रोडों के समान हैं जिनको संजोकर एवं व्यवस्थित करके हिन्दू विश्वासों के मदिर का निर्माण किया जा सकता है।

मानववैज्ञानिक लेखों में अक्सर आदिमजातियां की अंग्रजी भाषा के केवल 'ट्राइब' शब्द से न संबोधित करके 'प्रिमिटिव ट्राइब' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस 'प्रिमिटिव' शब्द के सलग्न कर देने के संबंध में आपत्ति की गई है तथा अधिकांश विद्वानों ने इसके औचित्य को निराधार माना है। सामान्यतया प्रिमिटिव शब्द का प्रयोग आदिम संस्कृतियों के लिये एक विशेषण के रूप में किया जाता है। परन्तु तात्किक दृष्टि से इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि ट्राइब शब्द से सलग्न करने पर यह शब्द ट्राइब की किसी विशेषता का बोध नहीं कराता। इसके साथ-साथ किसी भी सामाजिक व्यवस्था, रीति रिवाजों अथवा धार्मिक विश्वासों को पिछड़ा कहना उचित नहीं माना जा सकता है। प्रत्येक संस्कृति एक समाज के व्यक्तियों के रहन-सहन का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण निरूपित करती है। संभव है यह दृष्टिकोण हमारे अपने दृष्टिकोण से बेश न लगता हो, अथवा हमारी अपनी मान्यताओं अथवा मूल्यों के विरुद्ध हो। इसका सामर्थ्य यह नहीं कि हम उस संस्कृति को हम दृष्टि से देखें। एक वैज्ञानिक के अनुसार यह

सर्वथा अमान्य है। वास्तविकता तो यह है कि मानव वैज्ञानिक वैज्ञानिक दृष्टि कोण का अनुसरण करते हुये इस शब्द के प्रयोग को अनुचित तो मानते हैं परन्तु 'प्रिमिटिव ट्राइब' शब्द मानव विज्ञान के साहित्य में इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि इस शब्द को आसानी से छोड़ा नहीं जा सकता। प्रारम्भिक मानववैज्ञानिक अध्ययन उद्विकासवादी मान्यताओं से इतना अधिक प्रभावित थे कि सभ्य कहे जाने वाले समाजों एवं संस्कृतियों की तुलना में इन आदिम समाजों एवं संस्कृतियों को अप्रगतिशील अथवा कम प्रगतिशील मानने लगे और इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर इन समाजों एवं संस्कृतियों के लिये 'प्रिमिटिव' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु आज जब वैज्ञानिक एवं तार्किक कसौटी पर उद्विकासवाद का महल ढह चुका है तो इस संदर्भ में इस शब्द के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं रह गया।

### हिन्दू जाति तथा आदिमजाति

आदिमजातियों के अतिरिक्त जाति हमारे देश में एक दूसरी महत्वपूर्ण सामाजिक श्रेणी है जिसमें देश की जनसंख्या के सबसे अधिक लोग सम्मिलित किये जा सकते हैं। इस श्रेणी की चर्चा यहाँ पर करना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि परिभाषा एवं सामान्य अध्ययनों के आधार पर दाना प्रकार के समूहों में काफी सामंजस्य मिलता है और इस साम्य को कुछ लेखकों ने इतना अधिक महत्व दिया कि कहीं कहीं पर आदिम जाति तथा जाति शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया गया यद्यपि यह दोनों शब्द सदा भिन्न प्रकार के जन समूहों के लिये हैं। इमीलिय इन दोनों अवधारणाओं में अंतर स्थापित करना आवश्यक हो जाता है।

एक आदिमजाति की भाँति जाति भी केवल कुछ परिवारों का एक समूह है और उस समूह का भी एक नाम होता है। आदिमजातियों की भाँति जातियाँ भी या तो वास्तव में एक निश्चित क्षेत्र में निवास करती हैं अथवा उसमें अपने को सम्बंधित मानती रहती हैं। इसी प्रकार जाति के सदस्य भी अधिकतर एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं तथा जाति भी एक अंतरविवाही सामाजिक समूह है। एक ही जाति के कुछ सदस्य जब किसी दूर के क्षेत्र में जाकर बस जाते हैं दूसरी भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तथा अपने स्वजातियों से उनके सामाजिक संबंध तथा सम्पर्क समाप्त हो जाते हैं तो एक नई जाति का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार आदिम

जातियों की भाँति जातियों में भी उनके सामाजिक नियंत्रण के लिये एक प्रकार का राजनैतिक संगठन पाया जाता है। जातीय पंचायतें वास्तव में जातियों में प्रभावशाली संगठन हुवा करती हैं। कुछ विद्वानों ने आर्थिक आधार पर भेद स्थापित करते हुये यह कहा है कि आदिमजातियाँ आर्थिक दृष्टिकोण से आत्मनिर्भर इकाइयाँ होती हैं जब कि जातियाँ एक बृहद आर्थिक व्यवस्था की उप इकाइयाँ होती हैं। प्रत्येक जाति का अपना एक परम्परागत व्यवसाय माना जाता है जबकि आदिम जातियों में इस प्रकार की बात नहीं पाई जाती। जैक्स बेजर ने अपने निबन्ध सोशल स्ट्रक्चर में बर्चा करते हुए कहा है कि जब एक भारतीय आदिमजाति अपनी क्षेत्रीय सीमाओं का उत्खनन करके अपने को एक निश्चित भूभाग में सीमित नहीं रखती तो वह जाति में परिणित हो जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि जहाँ एक आदिमजाति ने अन्तर्गत सदस्यों में पदों के आधार पर भेद स्थापित किये जा सकते हैं वहाँ एक जाति के सभी सदस्य एक ही सामाजिक स्तर के हुवा करते हैं। बेजर द्वारा बताये गये इन अनुरो के अतिरिक्त जाति एवं आदिमजाति में एक सामान्य अंतर उनके सदस्यों का हिन्दू संस्कारों एवं पुरोहितों के प्रति भावना में पाया जाता है। बहुत सी आदिमजातियों में पड़ोसी हिन्दुओं के सम्पर्कों के प्रभावों के कारण धार्मिक अनुष्ठानों में हिन्दू पुरोहितों को मायता दी जाती है। इन पुरोहितों के द्वारा अधिकांश अनुष्ठानों को सम्पादित करवाना आवश्यक माना जाता है। परन्तु उनके बीच हिन्दू पुरोहितों की स्थिति सदब बाहरी व्यक्ति (जिसमें उनकी आस्था तो होनी है परन्तु जिहे वे अपना नहीं मानते) के समान हाती है। परन्तु जातियों के सदस्यों में अपनत्व की भावना निहित होती है। वे उसे कोई बाहरी व्यक्ति नहीं मानते। ऐसी भी कुछ आदिमजातियाँ हैं जिन्होंने लगभग पूर्ण रूप से हिन्दू धर्म एवं धार्मिक विश्वासों को अपना लिया है परन्तु पूजा रूप से अपने मूल धार्मिक विश्वासों को छोड़ पाना उनके लिये सम्भव नहीं हो सका। उदाहरण के लिये मध्य प्रदेश में कुछ आदिमजातियाँ हैं जिन्होंने पूजा रूप से हिन्दू धर्म को अपनाकर अपने को राजपूत कहना शुरू कर दिया है, परन्तु आज भी वे हिन्दू देवी देवताओं की अपेक्षा अपने आदिम विश्वासों के प्रतीक बोगा में अधिक आस्था रखती हैं और उसके संबन्ध में उन्हें अधिक जानकारी भी है।

वास्तव में भारत की आदिमजातियों पर अधिकांश क्षेत्रों में जाति की धोनी में आने वाले हिन्दू धर्मावलम्बियों का सम्पर्क इतना प्रभावशाली

रहा है कि सैकड़ों वर्षों से वे केवल हिन्दू धर्म के अपनाने की ही नहीं बल्कि आदिमजातियों की जातियों में परिवर्तित होने की प्रक्रियायें भी चलती आ रही हैं। यहाँ तक कि कुछ मानववंशशास्त्रियों का तो यह मत है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत निम्न जातियों (जिन्हें परिणामित जातियाँ भी कहा जाता है) में अधिकांश जातियाँ ऐसी हैं जो कि आदिमजातियों के उन सदस्यों के द्वारा ही निर्मित हैं जो कि अपनी आदिम व्यवस्था को त्यागकर समय-समय पर हिन्दू जाति व्यवस्था को अपनाते रहे हैं। इस बात की पुष्टि के लिये अक्सर निम्न जाति के सदस्यों तथा आस पास के क्षेत्रों की आदिम-जाति के सदस्यों में प्रजातीय साम्य के प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं।

### आदिमजाति के जाति में परिवर्तित होने की प्रक्रियायें

जाति तथा आदिमजाति दो भिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का दूसरे प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तित होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन एक महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय माना जा सकता है। भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा यह परिवर्तन होते रहे हैं। रिजले ने ऐसी चार प्रकार की प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पहली प्रक्रिया में किसी आदिमजाति के कुछ व्यक्ति अपने आस पास के क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से खेती योग्य जमीन का स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं और तब उसी क्षेत्र की किसी विशेष जाति (साधारण तथा राजपूत) की सदस्यता ग्रहण कर लेने का प्रयास करते हैं। इसके लिये वे हिन्दू ब्राह्मण पुरोहितों का अपनी उत्पत्ति तथा उच्चवर्णता के संबंध में कोई कथा अथवा घटना गढ़ने के लिये तैयार कर लेते हैं। ऐसा हो जाने पर तथा ब्राह्मण के ज्ञान तथा उसके कथन में आये लोगों का अत्यधिक विश्वास होने के कारण अन्य जाति के लोग इस कथन की सत्यता में विश्वास करने लगते हैं और धीरे धीरे हिन्दू जाति व्यवस्था में उन्हें एक निश्चित स्थान प्राप्त हो जाता है।

दूसरी प्रक्रिया में आदिमजाति के कुछ लोग अपने धार्मिक रीति रिवाजों को छोड़कर हिन्दू धार्मिक रीति रिवाजों पर्वों आदि का अनुसरण करने लगते हैं। धीरे धीरे धार्मिक निकटता के साथ ही साथ वे अपने आदिमजातीय नाम को त्याग कर हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रवेश करते हैं। साधारणतया इस प्रक्रिया के द्वारा ऐसे समूहों की हिन्दू जाति व्यवस्था की निम्न श्रेणियों में ही स्थान प्राप्त हो पाता है और कालान्तर में वे उस क्षेत्र की हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का एक अंग बन जाते हैं और अपनी आदिमजाति से उनका सबंध विच्छेद

हो जाता है। तीसरी प्रकार की प्रक्रिया से एक सम्पूर्ण आदिमजाति अथवा उसका एक बड़ा भाग अपने आदिमजातीय नाम को त्याग कर किसी एक नई जाति के नाम से हिन्दू जाति व्यवस्था का बंध बन जाती है तथा हिन्दू धार्मिक एवं सामाजिक रीति रिवाजों को अपनाने लगती है। चौथी प्रकार की प्रक्रिया से कोई सम्पूर्ण आदिमजाति अथवा उसका एक बड़ा भाग धीरे धीरे हिन्दू सत्कारी को अपनाने लगता है; यद्यपि वे पूर्ण रूप से अपने आदिम सत्कारों का परित्याग नहीं करते। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे वे हिन्दू समाज व्यवस्था का एक अंग बन जाते हैं। रिजवे द्वारा बताई गई इन चार प्रक्रियाओं के अतिरिक्त कभी-कभी किसी आदिमजाति का कोई प्रभावशाली व्यक्ति किसी उच्च जाति का नाम तथा भोज अपना लेता है। अपनी व्यक्तिगत धनार्पता तथा प्रभाव के आधार पर उस जाति विशेष के अन्य सदस्यों को धीरे-धीरे अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। परिणामस्वरूप कुछ समय के बाद वह व्यक्ति उस जाति विशेष का ही एक सदस्य मान लिया जाता है तथा अपनी आदिमजाति से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता। अक्सर यह प्रक्रिया एक अन्य रूप में भी काय करती देखी जाती है। साधारणतया उन क्षेत्रों में जहाँ हिन्दू जाति के लोग पड़ोसियों के रूप में आदिमजातियों के काफी निकट होते हैं वहाँ आदिमजातियों में अपने प्रति एक प्रकार की हीनता की भावना विकसित होती रहती है। वे हिन्दू लोगों को एक आदर्श तथा उच्च वर्ग के समुदाय के रूप में देखने लगते हैं। अतः उनमें अपनी हीन स्थिति में परिवर्तन की लालसा मदीन बनी रहती है। हिन्दू समाज ने ब्राह्मण पुरोहित उनकी इस मानसिक कमजोरी से लाभ उठाने की दृष्टि से इस दिशा में उनका नेतृत्व करने का तैयार हो जाते हैं। वे उन लोगों में हिन्दू धार्मिक एवं सामाजिक सत्कारों का प्रसार करते हैं जिसके पीछे उनके व्यक्तिगत आर्थिक लाभ की ही भावना निहित रहनी है। इस प्रकार से आदिमजातियों तथा उनके पड़ोसी हिन्दुओं के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक अंतर धीरे धीरे कम होते जाते हैं। इन्हीं मिश्र मिश्र प्रक्रियाओं के द्वारा भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में काफी समय से आदिमजातियों की सामाजिक व्यवस्था बंध होकर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सीम होती रही है। बिहार के पालामऊ तथा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के करीब आदिमजाति के लोग एक उच्च हिन्दू जाति के सदस्य माने जाने लगे हैं तथा वे उच्च जाति के हिन्दुओं की शक्ति पर निर्भर भी धारण करने लगे हैं। इसी प्रकार से पश्चिमी बंगाल के दौलतपुर का क्षेत्र तथा पूर्व बिहार जिले में रहने वाले पोलिवा आदिम-

जाति के लोग अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से मानने लगे हैं और अपने को राजबासी कहने लगे हैं ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिमजातीय सामाजिक व्यवस्था एवं जातीय सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संगठन के दो भिन्न स्वरूप होते हुये भी एक व्यवस्था का दूसरी व्यवस्था में परिवर्तन भारतवर्ष में एक अत्यन्त साधारण प्रक्रिया रही है इसलिये काफी क्षेत्रों में हमें ऐसे जनसमूह प्राप्त होते हैं जिनका आर्थिक स्तर अत्यन्त पिछड़ा हुआ होते हुये भी सामाजिक एवं धार्मिक आधार पर उन्हें आदिमजातियों की श्रेणी में नहीं माना जा सकता । वास्तविकता तो यह है कि भारतवर्ष में एक और हिन्दू जाति व्यवस्था की उच्च स्तर की जानियाँ तथा दूसरी ओर हिन्दू जाति व्यवस्था से परे आदिमजातियाँ भारतीय सामाजिक व्यवस्था के दो विपरीत ध्रुव माने जा सकते हैं जिनके मध्य में या तो वे जनसमूह हैं जो कि अपने आदिमजातीय स्तर को त्याग कर हिन्दू जाति व्यवस्था का अंग बनने की दिशा में अग्रसर हुये हैं अथवा वे जनसमूह हैं जिनका कि हिन्दू जाति व्यवस्था में किसी समय एक उच्च स्थान रहा है परन्तु नियमानुसार सत्कारों इत्यादि का पालन न कर सकने के कारण उन्हें अपने स्थान से ध्युत होना पड़ता है । फिर भी दोनों प्रकार के जनसमूह इस द्विध्रुवीय मध्यांतर में भिन्न-भिन्न स्तरों वाली जातियों के रूप में समाविष्ट हैं और यह सब मिलकर भारतवर्ष की जनसंख्या के सबसे बड़ा अंश का निर्माण करते हैं ।

### आदिमजातीय जनगणना सबंधी कुछ प्रश्न एवं निष्कर्ष

भारतवर्ष में आदिमजातियों की जनसंख्या सबंधी आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण एशिया में अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष में आदिवासियों की जनसंख्या सबसे अधिक है । परन्तु यहाँ पर आदिमजातियों से संबंधित जनसंख्या के आँकड़े अधिक विश्वसनीय नहीं रहे हैं । इस स्थिति के कुछ विशेष कारण हैं । जैसे 1—आदिम जातियों का वर्गीकरण एक कठिन समस्या रही है । 2—सन् 1909 के बाद धार्मिक आधार पर वर्गीकृत जनसंख्या सबंधी आँकड़ों को प्रस्तुत करने के निश्चय के कारण भिन्न भिन्न धर्म से संबंधित लोगों के द्वारा अपने अपने समूहों की संख्या में वृद्धि की चेष्टा की जाने लगी है । इस कुचेष्टा के परिणामस्वरूप जनगणना के अन्वय-न्यासों की तुलना में आदिमजातियों से संबंधित न्यास सबसे अधिक वृद्धिपूर्ण रहे हैं । इन वृद्धियों के संख्या में सबसे अधिक आलोचना सन् 1941 की

जनगणना के आसानी से की गई है। श्री एच० बन्धुखर ने 1950 में जून 1941 की जनगणना के आसानी से की जा सकती है हुये कहा है कि इस जनगणना में कुछ स्थानों में आदिम जातियों की गणना अछूत जातियों की आसानी से की गई है। पिछले बीस बरों में देश की जनसंख्या में किस प्रकार से वृद्धि होती रही है उसी प्रकार आदिमजातियों की जनसंख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हुई होगी। इस आधार पर देश में आदिमजातियों की संख्या आसानी से लगभग ड्राई करोड यानी जा सकती है।

सन 1931 तथा उससे पूर्व की जनगणनाओं में देश के लोगों को धार्मिक आधार पर वर्गीकृत करते हुये एक सारिणी प्रस्तुत की गई। इसके अतिरिक्त एक अन्य सारिणी में देश के लोगों को प्रजाति जाति तथा आदिम जातियों के आधार पर वर्गीकृत किया गया। परन्तु सन् 1941 की जनगणना में इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया। इस परिवर्तित व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजाति, जाति आदिमजाति तथा धर्म से संबंधित पूछे गये कुछ प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर एक सारिणी में लोगों को भिन्न भिन्न समुदायों के रूप में श्रेणीबद्ध किया गया। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप जहाँ सन् 1931 की जनगणना के आधार पर देश में आदिम जातियों की संख्या 22615708 थी वहाँ सन 1941 की जनगणना में 25441489 हो गई।

सन 1948 में आदिमजातियों से संबंधित मानव वैज्ञानिकों तथा कार्यकर्ताओं के अधिवेशन में देश में आदिवासियों की कुल संख्या लगभग ड्राई करोड होने का अनुमान लगाया गया। इस अधिवेशन में यह भी निश्चित किया गया कि लगभग दो करोड आदिवासी मैदानी क्षेत्रों में निवास करते हैं और उनका अर्थ प्रकार के लोगों से घनिष्ठ संपर्क स्थापित है। केवल 50 लाख ऐसी आदिम जातियों की जनसंख्या यानी गई जो अधिकारी तथा निर्जन पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करती हैं। सन 1951 की जनगणना के अनुसार आदिमजातियों की जनसंख्या 22 511854 बताई गई जो कि देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का 5.6 प्रतिशत थी। वास्तव में सन 1951 की जनगणना में प्रजाति जाति तथा आदिमजाति संबंधी कुछ विशेष प्रश्न उन्हीं लोगों से पूछे गये जिनका उल्लेख सविधान में अनुसूचित लोगों की तुलना में किया जा चुका था। ऐसे लोगों को इन्हीं प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर तीन श्रेणियों अर्थात् अनुसूचित जातियाँ अनुसूचित आदिमजातियाँ तथा पिछड़े वर्गों में इनका विभाजन किया गया। इन तीन वर्गों के अतिरिक्त अलग से 198 ऐसी अवस्था में आदिमजातियों का उल्लेख भी किया



गया जो किसी समय इस प्रकार के कार्यों में रत रहा करती थी परन्तु वे ऐसे छोड़ दिये थे। इनकी जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़े प्रस्तुत नहीं किये जा सके। स्पष्ट है कि केवल अनुसूचित तालिका में सम्मिलित लोगों में से ही आदिम जातियों की जनसंख्या का निर्धारण किये जाने के फलस्वरूप सन् 1941 की अपेक्षा 1951 की जनसंख्या में आदिम जातियों की संख्या का कम होना स्वाभाविक था। सन् 1951 की जनगणना में यह पाया गया कि किसी भी एक आदिमजाति की जनसंख्या कुछ सौ व्यक्तियों से लेकर 20 लाख व्यक्तियों तक थी। कुछ आदिमजातियों की जनसंख्या में पिछले दस वर्षों के समय में अत्यधिक वृद्धि पाई गई जबकि कुछ आदिम जातियों का कि अत्यन्त क्षीण साधनों पर निर्भर करती थी की जनसंख्या में काफी कमी पाई गई। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार अधिक जनसंख्या वाली आदिमजातियों में क्रमानुसार गोड सथाल भोल ओराव कोड तथा मुंडा हैं।

सन् 1961 तथा 1971 की जनसंख्या के आँकड़ों के अनुसार भारतवर्ष में अनुसूचित आदिमजातियों की संख्या लगभग 3 एब 3.8 करोड़ पाई गई जो कि देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का 6.8 एब 7.2 प्रतिशत थी। आर्थिक क्रियाओं के आधार पर निर्धारित 90% आदिमजातियाँ किसी न किसी रूप में कृषि से सम्बन्धित पाई गई तथा शेष 10% आदिमजातियाँ अन्य प्रकार के श्रम कार्यों पर निर्भर करती थी। सन् 1971 की जनगणना के आधार पर भिन्न भिन्न प्रांतों में आदिम जातियों की जनसंख्या निम्नलिखित पाई गई है।

तामिलनाडु में प्रांत की कुल जनसंख्या 4.11 करोड़ थी जिसमें आदिम जातियों की जनसंख्या 75 प्रतिशत थी। करल में 2.12 करोड़ की कुल जनसंख्या में अनुसूचित आदिमजातियों की संख्या 1.25 प्रतिशत थी। मैसूर में प्रदेश की कुल जनसंख्या 2.92 करोड़ में आदिमजातियों की संख्या का प्रतिशत 1.25 था। आंध्र प्रदेश में 4.34 करोड़ की कुल संख्या में 3.80 प्रतिशत आदिम जातियाँ थी।

मध्य भारत के अन्तों में उड़ीसा में कुल 2.19 करोड़ की जनसंख्या में अनुसूचित आदिमजातियों की संख्या 24 प्रतिशत थी। मध्य प्रदेश में कुल 4.16 करोड़ की कुल संख्या में आदिमजातियों का प्रतिशत 20 था। गुजरात तथा महाराष्ट्र प्रदेशों में क्रमशः लगभग 2.67 एब 5.03 करोड़ की जनसंख्या में आदिमजातियों की जनसंख्या लगभग 14 एब 5 प्रतिशत पाई गई। राजस्थान में लगभग 2.57 करोड़ की जनसंख्या में आदिमजातियों का

प्रतिशत 12 था। पंजाब एवं जम्मू तथा काश्मीर में कोई अनुसूचित आदिमजाति नहीं है। बिहार में कुल 563 करोड़ की जनसंख्या में अनुसूचित आदिमजातियों का प्रतिशत लगभग 9 था। पश्चिमी बंगाल की कुल जनसंख्या 444 करोड़ से अनुसूचित आदिमजातियों की संख्या 56 प्रतिशत थी। अधिक आदिमजातियों वाले प्रांतों में मध्य प्रदेश, बिहार व उड़ीसा के साथ-साथ असम का भी प्रमुख स्थान है। वहाँ 146 करोड़ की कुल जनसंख्या में लगभग 14 प्रतिशत आदिमजातियों के लोग हैं।

पिछली तीन जनगणनाओं के आधार पर विभिन्न प्रांतों की आदिवासी जनसंख्या का अनुमान अगले पृष्ठ की सारिणी से हो सकता है। पिछले कुछ दशकों के आदिमजातियों से सम्बन्धित जनसंख्या के आँकड़ों के अध्ययन में पता चलता है कि सन् 1911 की जनगणना के बाद से देश की आदिम जातीय जनसंख्या में देश की सामान्य जनसंख्या के अनुपात में बढ़ि नहीं प्रतीत होती है। इस स्थिति के निम्नलिखित कुछ विशेष कारण माने जा सकते हैं।

1—काफी संख्या में आदिमजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में रहती हैं जहाँ मलेरिया का अत्यधिक प्रभाव रहा है। यह क्षेत्र वैसे भी अस्वास्थ्यकर क्षेत्र हैं। इसके परिणाम स्वरूप मलेरिया तथा अन्य प्रकार के रोगों से यह आदिमजातियाँ सदा घटती रहती हैं और इन बीमारियों से इनमें मृत्यु संख्या अधिक बनी रही है।

2—असम के मैदानी क्षेत्रों में एक मध्य प्रदेश तथा राजस्थान के क्षेत्रों में निरन्तर आदिम जातियों का हिन्दू धर्म एवं समाज व्यवस्था में समावेश होता रहा है।

3—असम की लुशाई खासी और जयंतिया पहाड़िया में मध्य प्रदेश तथा ट्रावनकोर कोचीन क्षेत्रों में ईसाई धर्म के प्रसार के कारण आदिम जातियाँ भग होती रही हैं।

4—सम्य समाज के सम्पर्क में आकर संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के द्वारा भी आदिमजातियों का अस्तित्व समाप्त हुआ है और वे सम्य समाज का अंग बनती गई हैं। उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समय-समय पर निम्न निम्न प्रकार की नीतियों के अपनाने के कारण जनगणनाओं में आदिमजातियों की जनसंख्या के जो भी आँकड़े प्रस्तुत किये जाते रहे हैं उनसे देश की आदिमजातियों की संख्या का ठीक-ठीक अंदाज नहीं लग पाता। सन् 1951 के बाद से केवल अनुसूचित आदिमजातियों को ही आदिम

1951 1961 तथा 1971 की जनगणना से उपलब्ध विभिन्न प्रांतों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में  
आदिवासी जनसंख्या

प्रांत एवं केंद्रशासित प्रदेश	1951	1961	1971
भारत (कुल आदिवासी जनसंख्या)	22 511 854	30 172 221	38 015 162
आंध्र प्रदेश	1 149 919	1 324 368	1 657 637
असम	1 554 801	2 064 816	1 919 947
बिहार	3 880 097	4 204,984	4 932,767
पश्चिमी बंगाल	1 566 868	2 054,281	2,532 969
उड़ीसा	3 009 580	4 223 757	5 071 937
उत्तर प्रदेश	1967 से पूर्व कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं		198 565
पंजाब	2 661	14 132	—
हिमाचल प्रदेश	27 928	108 194	141 610
राजस्थान	1 774 278	2,351 470	3 125 506
गुजरात	2 092 556	2 754 446	3 734 422

मध्य प्रदेश	4 844 123	6 678 410	8,387 403
महाराष्ट्र	1 650 852	2 397 159	2,954,249
कर्नाटक	80 402	192 096	231,268
तमिलनाडु	136 376	251 991	311 515
केरल	137 757	212 762	269 356
मेघालय	—	—	814 230
नागालैंड	206 633	343 697	457 602
केन्द्र शासित प्रदेश	—	—	—
अन्धमाल प्ण निकोबार द्वीपसमूह	—	14 122	18,102
सकादीव निजिमबाय एव अनीलदीवी द्वीपसमूह	13,486	23 391	29,540
मनीपुर	194 239	249 049	334 466
मिजुरा	192 293	360 070	450,544
सावरण एव नगर हवेली	—	51 259	64,445
अरुणाचल प्रदेश	—	298 167	369,408
गोवा, दमन एव दीव	1968 से पूर्व कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं	—	7 654

जातियों की धोबी में सम्मिलित किया गया। इसके परिणामस्वरूप काफी सख्या में ऐसी आदिमजातियों को अन्य वर्गों में सम्मिलित किया गया है जो वास्तव में आदिमजातीय अवस्था में हैं परन्तु सविधान में उन्हें अनुसूचित आदिमजातियों की श्रेणिका में स्थान नहीं प्राप्त हो पाया। इस दृष्टिकोण से सन् 1961 की जनगणना में भी आदिमजातियों की जो जनसंख्या बताई गई है वह भी त्रुटिपूर्ण ही मानी जा सकती है। अनुसूचित जातियाँ देश की सभी आदिमजातियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती।



## भारत के आदिवासियों का वर्गीकरण

वर्ग विभेद के प्रति आक्रोश बीसवीं शताब्दी के जीवन दर्शन की विशेषता है। किन्तु बिल्कुल इसके विपरीत वर्गीकरण इसी शताब्दी में एक ठोस वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में उभर कर सामने आया है। मानव विज्ञान में भी आदिम समुदायों के अध्ययनों में इसी प्रणाली का अनुसरण किया गया है। अतः विभिन्न आधारों पर आदिम समुदायों का वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है।

वर्गीकरण वैज्ञानिक अध्ययन की आधारशिला होती है। किसी भी ऐसे विषय के वैज्ञानिक अध्ययन में जहाँ विविधताओं में समानताएँ निहित होती हैं, वर्गीकरण के द्वारा ही इन समानताओं का निरीक्षण एवं उनकी विवेचना सुलभ हो जाती है। आदिवासियों के अध्ययन में भी इसी दृष्टिकोण से वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष के आदिवासियों के अध्ययन में यह विशेष रूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि ससार के किसी एक देश की अपेक्षा भारतवर्ष जैसे विशाल देश में आदिवासियों में विविधता का रूप कहीं अधिक पाया जाता है। वैसे तो भारत जैसे विशाल देश में सभी आदिवासियों का अध्ययन कर पाना कठिन कार्य है परन्तु भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बसने वाले जिन आदिवासियों के सम्बन्ध में अध्ययन किये जा चुके हैं उनके आधार पर स्पष्ट रूप से कुछ आधारों पर वर्गीकरण किये जा सकते हैं। इस अध्याय में विभिन्न सम्भव आधारों में से कुछ आधारों पर भारतीय आदिवासियों का वर्गीकरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

भारतवर्ष एक विशाल भूखण्ड है जिसमें भिन्न भिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थितियाँ उन क्षेत्रों में बसने वाले लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करती हैं। सम्य समानता की तुलना में आदिवासियों का जीवन इन परिस्थितियों से कहीं अधिक प्रभावित होता है क्योंकि आदिवासी सम्य लोगों की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट होते हैं। अतः भौगोलिक परिस्थितियाँ प्राकृतिक कारकों के रूप में उनके दैनिक जीवन को अधिक प्रभावित करती हैं। परिणामस्वरूप किसी क्षेत्र विशेष में बसने वाले आदिवासियों में कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक समरूपताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय भूखण्ड का प्राकृतिक विभाजन स्वयं एक ऐसा आधार हो जाता है जिसके अनुरूप भिन्न भिन्न क्षेत्रों में निवास करने के आधार पर भी वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार से भारतीय आदिवासियों में निहित प्रजातीय विषमताएँ भी इतनी महत्वपूर्ण हैं कि इस दृष्टिकोण से भी आदिवासियों की विवेचना आवश्यक हो जाती है। भारतवर्ष के प्रागैतिहासिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में ही भारतवर्ष मूल रूप में एक दूसरे से भिन्न पाषाणकालीन सभ्यताओं का केन्द्र रहा है। यद्यपि कालिक साक्ष्यों के अभाव में इन प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के कर्णधारों के प्रजातीय लक्षणों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है फिर भी अधिक सम्भावना इसी बात की मानी जाती है कि उत्तर भारत में 'सोहन सभ्यता परम्परा' एवं

दक्षिणी भारत में 'मद्रासी-वस्त्र' से सम्बन्धित सांस्कृतिक परम्पराओं को जनजातों भिन्न प्रजातीय वर्गों के रहे होंगे। कामान्तर में समय-समय पर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रजातीय वर्गों का समावेश होता रहा। आदिवासियों की गणना देश के वर्तमान निवासियों में सबसे प्राचीन निवासियों में की जाती है। सन् 1947 में देश के विभाजन के पूर्व भारतवर्ष का उत्तर पश्चिमी सीमान्त एक ऐसा प्रदेश था जहाँ आदिवासियों की संख्या काफी अधिक थी तथा उस क्षेत्र के अधिकांश आदिवासियों के सम्बन्ध में समुचित सूचनाएँ भी उपलब्ध थी। परन्तु विभाजन के उपरान्त यह सम्पूर्ण प्रदेश पाकिस्तान का अंग बन चुका है। अतः वर्तमान स्थिति में इनकी गणना भारतीय क्षेत्र में नहीं की जा सकती। भारतवर्ष के भौतिक मानचित्र को देखते हुए तथा भारतीय भूभाग पर जनजातियों के वितरण को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि आदिवासी जनसंख्या तथा भिन्न भिन्न उन भौगोलिक क्षेत्रों (जिनमें आदिवासी निवास करते हैं) में एक घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होना है तथा इसी आधार पर उनके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आदिवासियों में निहित विषमताएँ हमारे देश में इतनी अधिक हैं कि उनको एक अथवा केवल कुछ विषमताओं के आधार पर वर्गीकृत करना कठिन कार्य है। भारतीय अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के द्वितीय आयुक्त ने आदिवासियों की सैद्धान्तिक सीमित परिभाषा की सीमा से बाहर एक व्यापक आधार पर समस्त आदिवासियों के वर्गीकरण से सम्बन्धित कुछ माय आधारों के चुनने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य से उन्होंने भिन्न भिन्न राज्यों की सरकारों को उन आदिवासी समाजों की विशेषताओं के सम्बन्ध में सूचित करने का आदेश दिया जिनके आधार पर, उनके मतानुसार, उनके राज्यों में आदिवासी तथा सभ्य लोगों में सरलता से अन्तर स्थापित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न राज्यों से जो सूचनाएँ उन्हें प्राप्त हुईं वे इस प्रकार से थीं

असम राज्य की सरकार ने मगोलायड प्रजाति के लक्षण तिब्बती-बर्मी भाषा परिवार की उप भाषाओं का बोलना तथा सामाजिक संगठन में ग्राम स्तर पर गण के अनुरूप सामाजिक इकाइयों का होना प्रमुख लक्षण बताया।

महाराष्ट्र राज्य सरकार ने जंगली तथा पहाड़ी निर्जन स्थानों में निवास को प्राथमिकता दी।

मध्य प्रदेश राज्य सरकार ने इन लोगों की आदिमजातीय उत्पत्ति, जंगली



क्षेत्रों में निवास तथा आदिमजातीय भाषा के प्रयोग की मुख्य लक्षण बताया।

समिलानाडु राज्य सरकार ने आर्थिक पिछड़ापन बने जंगलों तथा निर्जन पर्वतीय प्रदेशों में निवास तथा अपने स भिन्न प्रकार के लोगों से संपर्क में न होना आदि लक्षणों की चर्चा की।

उड़ीसा राज्य सरकार ने 'पूब द्रविण तथा 'मंगोलायड प्रजातीय लक्षणों को आदिवासियों की विशेषता बताया।

पश्चिमी बंगाल राज्य ने आदिवासी उत्पत्ति तथा जंगलों में निवास को प्राथमिकता दी।

अंध्र राज्य सरकार ने जंगलों में निवास जीवात्मावाद से संबंधित धार्मिक विश्वासों तथा मुख्यतः शिकार तथा संग्रहण पर आधारित अथर्व्यवस्था को अधिक महत्वपूर्ण बताया।

उपर्युक्त विवरण से देश के भिन्न भिन्न क्षेत्रों तथा राज्यों में रहने वाले आदिवासियों में व्याप्त विषमताओं एवं समानताओं का आभास हो जाता है। इन सभी सूचनाओं के आधार पर कुछ ऐसे महत्वपूर्ण आधार उभर कर सामने आ जाते हैं जिनकी सीमाओं में पूरे देश के आदिवासियों को वर्गीकृत करना संभव हो पाता है। मुख्यतः ऐसे पाँच आधार हो सकते हैं—

(1) भौगोलिक (2) प्रजातीय (3) भाषागत (4) सांस्कृतिक (5) आर्थिक।

इस अध्याय में इनमें से प्रथम तीन आधारों को ध्यान में रखते हुए भारतीय आदिवासियों को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया गया है।

### आदिवासियों का भौगोलिक वर्गीकरण

संपूर्ण भारतवर्ष में अधिक संख्या में आदिवासी लोग बने जंगली तथा निर्जन पर्वतीय प्रदेशों में ही निवास करते हैं। अद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पिछले 25 वर्षों में देश में आवागमन के साधनों तथा परिवहन इत्यादि के क्षेत्र में काफी विकास हुआ है फिर भी आदिवासी क्षेत्र अधिकांशतः उपेक्षित ही रहे हैं और इनके क्षेत्रों में आवागमन के साधन तथा सड़कों इत्यादि अभी भी पर्याप्त नहीं हैं। यही कारण है कि इनके क्षेत्रों में जनसंख्या देश के अन्य क्षेत्रों की तुलना में बहुत ही कम है तथा क्षेत्रफल को देखते हुए वे क्षेत्र बने बसे हुये नहीं हैं। सबसे अधिक संख्या में आदिवासियों के निवास के दृष्टिकोण से पूर्व में सतपुड़ा पर्वत श्रृंखला से लेकर विन्ध्याचल पर्वत श्रृंखला तक एवं मध्य भारत के दक्षिण में स्थित पठारी भाग को सम्मिलित करते हुए गुजरात की

पूर्वी सीमाओं तक फैला हुआ क्षेत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र के बाद आदिवासी जनसंख्या की दृष्टि से असम प्रदेश महत्वपूर्ण माना जा सकता है जिसमें नागालैंड, मनीपुर, त्रिपुरा तथा उत्तर पूर्वी सीमान्त के समस्त आदिवासियों को सम्मिलित किया जाता है। आदिवासी जनसंख्या के दृष्टिकोण से तीसरा भौगोलिक क्षेत्र दक्षिण भारत का पठारी भाग है। कृष्णा नदी के दक्षिण में स्थित इस पूरे अंचल में लटीम बाटो के घने जंगलो तथा पहाड़ी स्थलों में अधिकांश आदिवासी रहते हैं। वाइनाड से लेकर सुदूर दक्षिण में स्थित कुमारी अतरीप प्रदेश तक पूरे क्षेत्र में काफी सख्या में इस क्षेत्र के आदिवासी निवासी रहते हैं। जनसंख्या की दृष्टि से भले ही यह क्षेत्र प्रथम श्रेणी में न आ सके परन्तु इस क्षेत्र के आदिवासियों की विशेषता यह है कि इनमें स कुछ आदिवासी भारत के सर्वाधिक प्राचीन निवासी माने जाते हैं तथा रहन-सहन तथा आर्थिक संगठन के आधार पर उनकी गणना सप्तरा के अत्यन्त पिछड़े हुए लोगों में की जा सकती है।

इन तीन प्रमुख भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर बी० एस० मुहा ने भारतीय आदिवासियों को तीन प्रमुख वर्गों में बांटने का प्रयत्न किया है।

### 1—उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र

उत्तर से दक्षिण की ओर चलते हुए उन्होने प्रथम वर्ग में भारत के उत्तर तथा उत्तर पूर्वी अंचलों में बसने वाली आदिवासी जातियों को सम्मिलित किया है। यह पूरा भौगोलिक प्रदेश पर्वत शृङ्खलाओं से घिरा हुआ है। इन्हीं पर्वतों तथा घाटियों में इस क्षेत्र के आदिवासी निवास करते हैं। इस क्षेत्र का उत्तर पूर्वी भाग सुदूर बर्मा की सीमाओं से मिला हुआ है। दक्षिण की ओर यह क्षेत्र लगभग 31° 7' अक्षांश से लेकर 35° 0' अक्षांश तक फैला हुआ है। पश्चिमी सीमाओं की ओर 23° 30' से लेकर 28° 0' अक्षांश तथा पू्व की ओर 77° 33' पू्व से लेकर 97° 0' पू्व तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र के पूर्वी भाग में मुख्य रूप से असम मनीपुर तथा त्रिपुरा के आदिवासियों को सम्मिलित किया जा सकता है। उत्तरी भाग में मुख्य रूप से पूर्वी काश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरी उत्तर प्रदेश के आदिवासी आते हैं। बलियापुर, अमोर तथा मिशमी पहाड़ियों के प्रशासकीय जिलों के अंतर्गत आने वाले असम और त्रिपुरा के बीच के क्षेत्रों में रहने वाली आदिवासी जातियों में सुबनसिरी नदी के पश्चिम में ब्रका, कामला, मिरी तथा जापरासी और दिहीय बाटी में बलोय, सिमकोय, गाली, पदम इत्यादि आदिवासी मुख्य हैं जिनमें तथा

लोहित नदियों के बीच में स्थित उच्च पर्वत श्रृंखलाओं पर स्थित लोग रहते हैं। और अधिक पूर्व के पहाड़ी तथा घाटियों के क्षेत्रों में नागा, खासटी तथा सिहपी लोग निवास करते हैं। इन नागा आदिवासियों को प्रमुख रूप से पांच समूहों में विभाजित किया जा सकता है—उत्तर में रंगपच और कोन्थाक नागा पश्चिम में रेंग्मा सेखा तथा अगामी नागा मध्य क्षेत्र में आबो, ल्होटा फोम इत्यादि, दक्षिण में कबुई और पूर्वी क्षेत्रों में तखल तथा काल्थो केगु नागा। इन नागा पहाड़ियों के दक्षिण में मणिपुर त्रिपुरा तथा बिटगांव के पर्वतीय प्रदेशों से लेकर बर्मा की अराकान पहाड़ियों तक के विस्तृत क्षेत्रों में कुकी लुशाई तथा लाखेर आदि आदिवासी रहते हैं।

हिमालय से लगे हुए पर्वतीय प्रदेशों दार्जिलिंग के उत्तरी भागों तथा सिक्किम प्रदेश में भी कई आदिजातियाँ रहती हैं जिनमें लेपचा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उत्तर भारत में हिमालय की तराई के काफी क्षेत्र उत्तर प्रदेश की सीमा में भी आते हैं। इसके अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश का क्षेत्र भी आदिवासियों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है और वह भी इसी भौगोलिक क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है। इन क्षेत्रों के प्रमुख आदिवासियों में विशेष रूप से जौनसारी भोटिया थारू, खम्पा कनोटा आदि उल्लेखनीय हैं।

यह संपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र यद्यपि क्षत्रफल के दृष्टिकोण से अत्यन्त विस्तृत है किन्तु आबादी अपेक्षाकृत अधिक घनी नहीं है। सांस्कृतिक आधार की अपेक्षा प्रजातीय आधार पर इस सारे क्षेत्र में बसने वाली आदिजातियों में कुछ अधिक समीपता पाई जाती है क्योंकि लगभग सभी आदिवासियों में मंगोलीय प्रजातीय लक्षण अधिक स्पष्ट हैं। जिस सीमा तक भौगोलिक कारकों का सांस्कृतिक प्रतिरूप के निर्माण में योगदान होता है उस सीमा तक इनमें कुछ सांस्कृतिक समानताएँ भी पाई जाती हैं। यह एक भौगोलिक समानता का ही परिणाम है कि इस बग की अधिकांश आदिजातियाँ या तो झूम पद्धति से अथवा सीढ़ीनुमा पहाड़ियों में खेती-बाड़ी करती हैं। पर्वतीय प्रदेश एवं कठिन परिस्थितियों के होने के कारण आर्थिक पिछड़ापन तथा गरीबी सभी आदिजातियों में पाई जाती है। फिर भी कुछ जनजातियाँ जैसे खासी तथा जमपातानी आदि ऐसी हैं जिन्होंने अपने सीमित ज्ञान तथा साधनों के होते हुए भी खेती बाड़ी के क्षेत्र में अनुकरणीय प्रगति की है तथा अपने आर्थिक स्तर को सुधारने में सफल हुए हैं। उत्तर पूर्वी भारत के अधिकांश आदिवासियों में छोटे करघों पर बुनाई का काम अत्यन्त समुन्नत दशा में पाया जाता है। अपने स्थानीय जंगलों से ही विभिन्न विभिन्न पदार्थों से रंगों

को प्राप्त कर रीतन बस्तियों को बड़े ही कलात्मक ढंग से बनाने की कला पाई जाती है। कपास की खेती में स्वयं करीब हैं तथा अपनी इस उत्पादन क्रिया में लगभग पूर्ण रूप से स्वयंभवी हैं। सामाजिक क्षेत्र में भी समानतायें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। मातृसत्तात्मक समाज इस क्षेत्र की विशेषता है तथा इस सामाजिक व्यवस्था का पूर्ण विकास हमें खासी तथा चारो आदिवासियों में मिलता है।

## 2—मध्यवर्ती क्षेत्र

भारत के मध्य भाग में स्थित यह विस्तृत क्षेत्र उत्तर तथा उत्तर पूर्व में पर्वतीय क्षेत्र तथा दक्षिण में कृष्णा गोदावरी तथा नर्मदा की सीमाओं के मध्य का क्षेत्र है जिस सिंधु तथा गंगा के मैदान का प्रदेश कहा जाता है। मोटे तौर पर यह सम्पूर्ण क्षेत्र उत्तर में 20° एष 25 0' अक्षांशों पूर्व में 73 0 तथा 90 0 अक्षांशों के बीच का प्रदेश माना जा सकता है। इस क्षेत्र के अधिकांश आदिवासी मध्यवर्ती भारत की उन प्राचीन पहाड़ियों तथा पठारों में रहते हैं जो कि दक्षिण भारत की सिंधु गंगा के मैदान से पृथक करते हैं। मध्य प्रदेश को केन्द्र मानते हुए उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, आंध्र प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान उत्तरी महाराष्ट्र इत्यादि प्रदेशों के अधिकांश क्षेत्र विभिन्न दिशाओं में इस सम्पूर्ण क्षेत्र की सीमायें निर्धारित करते हैं। पूर्व में उड़ीसा तथा पूर्वी घाट के अन्तों से आरम्भ करते हुए इस क्षेत्र में सबरा गडबा तथा बोदो आदिम जातियाँ उड़ीसा के गजम जिले के जंगलों से ठके हुए पर्वतीय प्रदेशों में निवास करती हैं। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में सम्मिलित की जाने वाली तथा उड़ीसा प्रदेश में ही रहने वाली अन्य महत्वपूर्ण आदिमजातियाँ जुआम, खरिया, खाड तथा भूमिज इत्यादि हैं। मुंडा ओरोंब, सथाल, हो तथा बिरहोर आदिमजातियाँ छोटा नागपुर के पठारों में रहती हैं और पश्चिम की ओर जाने पर विष्णुचल श्रेणियों के पहाड़ी प्रदेश में कोल, भील आदिवासी प्रमुख हैं। भील लोगों का प्रसार और भी पश्चिम में जराबजी पर्वत श्रेणियों तक पाया जाता है। इस क्षेत्र में रहने वाली आदिमजातियों में सबसे अधिक जनसंख्या गोड लोगों की है। जिस सम्पूर्ण क्षेत्र में यह आदिमजाति फैली हुई है उसे गोडबाना प्रदेश कहा जाता है। यह गोडबाना प्रदेश दक्षिण में हैदराबाद तथा उससे भिसे हुए कांकर तथा बस्तर प्रदेश तक फैला हुआ है।

सतपुड़ा पर्वत शृंखला के दोनों ओर तथा मैकल पहाड़ियों के चारों ओर भी इसी प्रकार व्यापक रूप से आदिवासी रहते हैं जिनमें विशेष रूप से

राजकोट, कोड, कोरकू, अवारिका, वरघमन जैसा आदि उल्लेखनीय हैं। कस्तर प्रदेश की पहाड़ियों से कुछ महत्वपूर्ण आदिम जातियाँ जैसे मुरिया, पहाड़ी साड़िया तथा इन्नावली जाटी के लोग लगने वाले जाड़िया हैं।

इस सम्पूर्ण क्षेत्र के आदिवासी साधारणतया दक्षिणी तथा उत्तरी क्षेत्र के आदिवासियों की अपेक्षा अधिक समुन्नत हैं। अधिकतर स्थान परिलक्षित होतीजाडी उनकी जीविका का मुख्य आधार है। परन्तु ओरांव, सवाल, मुडा तथा गोड लोगो ने अपने पड़ोसी सम्य लोगो के सम्पर्क में आकर उन्ही के समान हल के द्वारा खेती करना भी सीख लिया है और किसी भी दशा में सम्य लोगो की तुलना में उन्हे निम्न कोटि का कृषक नहीं माना जा सकता है।

### 3—दक्षिणी क्षेत्र

आदिवासी जनसङ्ख्या से भरपूर तीसरा भूखण्ड दक्षिण भारत का यह क्षेत्र है जो कि कृष्णा नदी के दक्षिणी भाग में फैला हुआ है। जोटे तौर पर यह सम्पूर्ण क्षेत्र 800' उत्तर तथा 200' उ० तथा 75' पूर्व और 850' पूव अक्षांशों के बीच बसा हुआ है। आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, कुग, त्रिबापुर कोचीन तथा तमिलनाडु आदि इस क्षेत्र में सम्मिलित किये गये हैं। वाइनाड से कुमारी अतरीप तक फैले हुए पश्चिमी घाटो के सुदूर दक्षिणी भाग में इस क्षेत्र की कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण आदिमजातियाँ निवास करती हैं। इस क्षेत्र में बसने वाले आदिवासियों की गणना देश के अत्यन्त प्राचीन लोगो में की जाती है।

इस क्षेत्र के उत्तरी पूर्वी भाग से प्रारम्भ करते हुए आंध्र प्रदेश के चेचू लोगो का उल्लेख किया जा सकता है। यह लोग प्रमुख रूप से कृष्णा नदी के दक्षिण में तल्लामलाई पहाड़ियों पर बसे हुए हैं। पश्चिमी घाट के किनारे किनारे कुग की पहाड़ियों की निचली ढलानों पर बसने वाली प्रमुख आदिमजातियाँ इरुल, पणिकन तथा कुरुम्ब हैं। इसके अतिरिक्त कोचीन तथा त्रिबापुर की पहाड़ियों से लेकर कुमारी अतरीप तक निजम जंगलो में रहने वाली काडर, कणिकर, मलपतरम इत्यादि देश की प्राचीन तथा आधिक सगठन की दृष्टि से ससार की अत्यन्त पिछड़ी हुई आदिमजातियाँ मानी गई हैं।

एक अन्य आदिवासियों का समूह नीलगिरी पहाड़ियों में रहने वाले टोडा, बडगा तथा कोटा लोगो का है जिनका इस पूरे दक्षिण भारतीय क्षेत्र

की आदिवासियों में आर्थिक दृष्टिकोण से अपना एक अलग ही अस्तित्व है। इनको छोड़ कर बाकी सभी आदिवासियों का मूल आधार जलैड तथा काच पदार्थों का संकलन है तथा पूर्व रूप से इनमें सामुदायिक जीवन का विकास अभी नहीं हो पाया है। अनेक की सकड़ी तथा कुकीसी कील जैसे अत्यन्त सरल रचना वाले उपकरणों की सहजता से यह जाने योग्य कदमूल तथा गह्व इत्यादि का संग्रह करते हैं तथा छोटे-छोटे जन्तुओं तथा पक्षियों इत्यादि का शिकार करते हैं।

अबपि गुहा ने अपने इस वर्गीकरण में अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूहों में बसने वाले आदिवासियों का पृथक रूप से कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी अनेक दृष्टिकोणों से इन द्वीप समूहों में रहने वाले आदिवासियों का एक बीया वर्ग माना जा सकता है। भौगोलिक आधार पर इन द्वीप समूहों का क्षेत्र भारतीय भू भाग से पृथक है किन्तु राजनीतिक आधार पर वे हमारे राष्ट्र के ही अंग हैं तथा इस क्षेत्र की ब्रिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण इस द्वीप समूह के आदिवासियों में कुछ आर्थिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन द्वीप समूहों के आदिवासियों को भाषा एवं सांस्कृतिक दृष्टि से कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो दक्षिणी अण्डमान के आंतरिक भागों में जरावा लोगों को छोड़ कर अण्डमान द्वीप समूह के बड़े-बड़े द्वीपों के सभी आदिवासी तथा दूसरे ओज, जरावा तथा सेण्टिनली वर्ग। ओज लोग छोटे अण्डमान द्वीप में जरावा लोग मुख्य रूप से दक्षिणी अण्डमान के आंतरिक भाग में तथा सेण्टिनली लोग सम्भवतः जरावा जाति के वे लोग हैं जो कि किसी समय अपने मूल स्थान को छोड़ कर उत्तर सेण्टिनली द्वीप में जा बसे थे। प्रजातीय आधार पर दक्षिण भारत के आदिवासियों तथा इनमें अधिक समानताये पाई जाती हैं।

श्यामा चरण दुवे ने भारतीय आदिवासियों के भौगोलिक वर्गीकरण को एक अन्य प्रकार से प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार इन्हें चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

- 1—उत्तर तथा उत्तर पूर्ण क्षेत्र
- 2—मध्य क्षेत्र
- 3—पश्चिमी क्षेत्र
- 4—दक्षिणी क्षेत्र

पश्चिमी क्षेत्र में सह्याद्रि के आदिवासी जैसे बार्हो, कतकरी, ग्रहादेव, कोली तथा भील आदि आदिवासियों के कतिपय समूह आते हैं। गुहा के

वर्गीकरण में इस समूह को मध्य क्षेत्र में ही माना गया है। इसके अतिरिक्त बुढ़े के क्षेत्र तीन वर्गों तथा बुढ़ा के तीन वर्गों में कोई विशेष अंतर नहीं मालूम पड़ता।

### भारतीय आदिवासियों का प्रजातीय वर्गीकरण

बैज्ञानिकों की धारणा है कि सभी मानव प्रजातियाँ एक ही प्राणिशास्त्रीय स्पीशीज में सम्मिलित हैं। वास्तव में बाह्य रूप से मानव शरीर पर दिखाई पड़ने वाले त्वचा के रंग कद, सिर की बनावट बालों के स्वरूप, रक्त के कुछ रासायनिक गुण इत्यादि के आधार पर मानव जनसमूहों में जो विविधता दिखाई पड़ती है इसके अंतरतम में कुछ निश्चित समानताएँ भी निहित हैं जो कि मानव मात्र को एक ही प्राणिशास्त्रीय स्पीशीज में सीमित कर देती हैं। बाह्य रूप से दिखाई पड़ने वाली यही शारीरिक लक्षण जो वंशानुक्रम के द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं प्रजाति के आधार होते हैं। मानव जनसमूहों में इन लक्षणों के आधार पर जो अंतर पाये जाते हैं वे अंतर कुछ कारकों के कारण सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। उदाहरण के लिए विवाह से सम्बन्धित हमारे सामाजिक प्रतिबंध बहिर्विवाह अंतर्विवाह सौदर्य सम्बन्धित हमारी रुचियाँ आदि हमारे वैवाहिक क्षेत्र का सीमित करते रहते हैं। साधारणतया किसी भी समूह के अधिकांश सदस्य एक निश्चित पर्यावरण में ही पीढ़ियों तक सीमित रहते हैं। इन सभी प्रक्रियाओं के कारण प्रत्येक जनसमूह के सदस्यों के इन लक्षणों की प्रवृत्ति एक निश्चित दिशा की ओर केन्द्रित होती रहती है। परिणाम स्वरूप भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बसने वाले विभिन्न जनसमूहों में एक विशिष्ट एकरूपता आती जाती है तथा उनमें परस्पर ये अंतर अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। इन्हीं विशिष्ट शारीरिक लक्षणों से प्रस्फुटित एकरूपता को प्रजाति कहा जाता है।

भिन्न भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बसे हुए भारतीय आदिवासी जनसमूह जन्म-जन्मान्तर से एक विशिष्ट पर्यावरण में रहते चले आ रहे हैं तथा अपने अपने पर्यावरण के प्रभावों से उन्होंने अनुकूलन स्थापित कर लिया है। प्रत्येक आदिमजाति एक अंतर्विवाही समूह होती है अन अधिकतर आदिवासियों के वैवाहिक सम्बन्ध अपने समूह तक ही सीमित रहते हैं। वैसे तो प्रत्येक आदिम जाति के शारीरिक लक्षणों में दूसरी आदिमजाति से तुलना करने पर कुछ न कुछ अंतर अवश्य पाये जाते हैं परंतु एक क्षेत्र विशेष में बसने वाली विभिन्न आदिमजातियों में प्रजातीय आधार पर कुछ समानताएँ भी प्राप्त होती हैं। इन्हीं समानताओं के आधार पर उनका प्रजातीय वर्गीकरण कर पाना सम्भव

है। प्रजातीय आधार पर वर्गीकरण के द्वारा कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आ जाते हैं जिनसे एक वर्ग विशेष से आये वाली आदिवासी जातियों का संबंध बहुत मानव प्रजातीय वर्ग से स्थापित किया जा सकता है। इन संबंधों के अध्ययन से उनकी उत्पत्ति तथा सम्भावित मूल निवास के संबंध में ज्ञान होता है। आदिवासियों को देश का प्राचीनतम निवासी माना गया है। प्रजातीय वर्गीकरण इन मूल निवासियों की गतिविधियों के संबंध में हमें ठोस तथ्य प्रदान करता है। प्रागैतिहासिक काल में अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुरक्षा के दृष्टिकोण से अनुष्ण ने अपनी गतिशीलता को सीमित रखा परन्तु कालांतर में साधनों की उत्पत्ति एवं उनमें नवीनता तथा विज्ञाना जैसी प्रवृत्तियों ने उसकी गतिशीलता को प्रोत्साहन प्रदान किया। किसी भी देश के प्रजातीय इतिहास के द्वारा वहाँ के लोगों के भौगोलिक स्थलों का तो ज्ञान होता ही है साथ ही साथ उनमें प्राप्त सांस्कृतिक विविधताओं के संबंध में भी हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है।

भारतीय जनसमुदाय में प्रजातीय तत्वों की समस्या जटिल है क्योंकि अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतवर्ष विश्व के विभिन्न भागों से आने वाले लोगों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। अतः समय-समय पर विभिन्न प्रजातीय तत्वों के लोगों का आगमन होता रहा है। उनमें से अधिकांश यही बसते गये और अतोगतवा उन्होंने यहाँ के प्रजातीय तत्वों एवं संस्कृतियों को प्रभावित किया। आज के सम्य समुदायों से दूर रह कर अधिकांश आदिवासियों ने अपने प्रजातीय गठन एवं संस्कृतियों को बहुत कुछ सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि प्रजातीय एवं सांस्कृतिक आधारों पर उनमें तथा सम्य समुदायों में पर्याप्त अंतर दिखाई देते हैं। यह अंतर जहाँ एक ओर उनके इस देश के आदिवासी अथवा मूल निवासी होने की पुष्टि करते हैं वहाँ दूसरी ओर सम्य समुदायों से उन्हें पृथक् भी करते हैं।

देश के प्रजातीय अध्ययन की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारी सर हबर्ट रिजले द्वारा किया गया। सन् 1890 में सर्वप्रथम उन्होंने शरीर मापन प्रणालियों के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया। तत्कालीन भारत सरकार ने उन्हें 1901 में होने वाली जनगणना का अध्यक्ष नियुक्त किया। इस जनगणना की रिपोर्ट तथा सन् 1915 में प्रकाशित उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'बी पिपुल्स आफ इण्डिया' में उन्होंने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया। रिजले के द्वारा प्रस्तुत देश के लोगों के प्रजातीय वर्गों में जिन सात वर्गों की चर्चा की गई है उनमें उन्होंने आदिवासियों



के सबब में वृथका रूप से कुछ नहीं कहा। पूरे देश को सात भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित करके प्रत्येक क्षेत्र में बसने वाले लोगों को एक विशेष प्रजातीय वर्ग में माना है। परन्तु जैसा कि आदिवासियों के भौगोलिक वर्गीकरण में मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों की बात की गई है इन तीन भौगोलिक क्षेत्रों में उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्रों को सम्मिलित करने वाले वर्ग को उन्होंने 'मंगोल मध्य क्षेत्र' को सम्मिलित करने वाले वर्ग के लोगों को 'मंगोलो ब्राब्रिडियन' तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत के निवासियों को द्रविण अथवा आर्य द्रविण कहा है। यद्यपि इन नामों के औचित्य के सबब में वर्तमान विद्वानों ने काफी आलोचना की है फिर भी उनके प्रथम प्रयास को देखते हुए उनके प्रयत्नों को निरर्थक नहीं माना जा सकता। जहां तक देश के आदिवासियों का सबब है रिजले के वर्गीकरण में प्रत्यक्ष रूप से उनके प्रजातीय गठन के सबब में कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पाता।

सन् १९३१ में जे० एच० हट्टन ने जनगणना संबंधी कार्य का संचालन किया। अपने निष्कर्षों के आधार पर उन्होंने देश में नीग्रिटो प्रजातीय तत्वों की जिनकी जन्मभूमि अफ्रीका है विद्यमानता को स्वीकार किया है। उन्होंने रिजले के निष्कर्षों की आलोचना की है। वास्तव में प्रजातीय वर्गों के लिए रिजले ने आर्य तथा द्रविण शब्दों का प्रयोग करके एक बड़ी भूल की। आर्य तथा द्रविड शब्द भाषायी समूहों के द्योतक हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत को ही ल लिया जाय। दक्षिण भारत के सभी निवासी तमिल तेलुगू मलयालम तथा कन्नड अथवा इनकी मिश्रित भाषाय बोलते हैं। इस आधार पर उन्हें एक बृहद भाषा परिवार के समूह में सम्मिलित किया गया है। परन्तु भौतिक शारीरिक लक्षणों अथवा प्रजातीय लक्षणों के आधार पर उनमें बड़ी असमानता पाई जाती है। तमिल भाषी ब्राह्मणों नीलगिरि पर्वतों पर रहने वाले टोडा तथा पश्चिमी तटवर्ती घन जंगलों के निवासी कावर इरुल तथा पणियन आदि लोगों को शारीरिक लक्षणों के आधार पर एक ही समूह में नहीं लाया जा सकता यद्यपि भाषा के आधार पर सभी एक बृहद भाषा परिवार समूह के ही हैं। यही बात आर्य शब्द के प्रयोग के बारे में भी कही जा सकती है। परन्तु रिजले ने प्रजातीय वर्गीकरण की चर्चा करते हुए इन सभी को एक ही प्रजातीय समूह में सम्मिलित किया। इस भ्रांतिियों के होते हुए भी रिजले के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। अपनी मानव वैज्ञानिक रुचियों के बशीभूत होकर रिजले ने जनगणना कार्य को एक नई दिशा प्रदान की तथा सर्वप्रथम देश के लोगों के प्रजातीय वर्गीकरण का प्रयत्न

करके भावी कार्यकर्तियों का कार्य करीब किया। यहाँ हमारा मुख्य फीस केवल आदिवासियों के प्रजातीय तर्कों का अध्ययन है। इस दृष्टिकोण से रिजले का प्रजातीय वर्गीकरण हमें कोई विशेष सूचना नहीं प्रदान करता।

रिजले के बाद इस दिशा में किया गया महत्वपूर्ण कार्य हैडन का माना जा सकता है। यद्यपि उन्होंने भी प्रजातीय वर्गों को नाम देते हुए रिजले के समान कार्य तथा द्रविड वर्गों का ही प्रयोग किया। हैडन ने पूरे देश में निम्नलिखित पांच प्रजातीय वर्गों का उल्लेख किया है।

- (1) प्राक द्रविड
- (2) द्रविड
- (3) इण्डो आल्पाइन
- (4) मगोल
- (5) इण्डो-यूरियन

इन पांच वर्गों में से केवल तीन वर्गों अर्थात् प्राक द्रविड, द्रविड तथा मगोल वर्गों को उन्होंने आदिवासी जनसमुदायों से संबंधित किया है। हैडन के विचार से मध्य भारत के आदिवासी इस देश के मूल निवासी हैं। मध्य भारत के आदिवासियों को प्राक द्रविड वर्ग दक्षिण के आदिवासियों को द्रविड तथा उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के आदिवासियों को मगोल प्रजातीय वर्गों में सम्मिलित किया।

बाईकस्टेड ने सन 1939 में भारतवर्ष का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने वेड्डिड मेलेनिड तथा इण्डिड बहद् प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है। इन तीनों वर्गों में प्रथम दो वर्गों का संबंध आदिवासियों से है। वेड्डिड वर्ग को अण्ण दो गोण्डिड तथा मेसिड उपवर्गों में विभाजित किया है तथा मेलेनिड वर्ग को दक्षिणी मेलेनिड तथा कोलिड उपवर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने वेड्डिड को मूल प्राचीन भारतीय माना है। वर्तमान मध्य भारत क्षेत्र के आदिवासियों को उन्होंने वेड्डिड तथा मेलेनिड समूहों में माना है। गोण्डिड उपवर्ग में भूरे त्वचा वाले, घुघराले बालों वाले ओराय एण्ड नॉड आदिवासियों को सम्मिलित किया है। मेसिड उपवर्ग में काले भूरे त्वचा वाले एण्ड घुघराले बालों वाले कुकुम्बा एण्ड वेड्डा आदि आदिवासीयों को सम्मिलित किया है।

दूसरे वर्ग मेलेनिड को उन्होंने काले भारतीय भी कहा है। इस वर्ग के दक्षिणी मेलेनिड उपवर्ग में दक्षिण भारत के मैदानी क्षेत्रों के निवासियों को सम्मिलित किया है—जिसमें मुख्य जनसमुदायों के अतिरिक्त आंध्र प्रदेश के

मेनादी तथा खैबू आदिवासी भी आ जाते हैं। परन्तु कोलिड उपवर्ग में उत्तरी डक्कन प्रदेश के जंगलों के काले एवं भूरे त्वचावर्ण वाले आदिवासियों को सम्मिलित किया। इस उपवर्ग में सथाल एवं मुडा आदिमजातियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तृतीय प्रजातीय वर्ग को उन्होंने इण्डिड कहा और इस वर्ग के एक उपवर्ग उत्तरी इण्डिड में हल्के भूरे रंग वाले सभ्य जनसमुदायों के साथ ही साथ दक्षिण भारत के नीलगिरि पहाड़ियों के निवासी टोडा लोगों को भी सम्मिलित किया।

रगरी ने आदिवासियों के चार प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है। प्रथम वर्ग को नेग्रिटो कहा तथा इस वर्ग में लका के वेडडा तथा दक्षिणी भारत के जंगलों में रहने वाले आदिवासियों को सम्मिलित किया।

दूसरे वर्ग को उन्होंने प्राक ड्राविडियन अथवा आस्ट्रेलामड कहा। इस वर्ग में छोटा नागपुर के ओराव मुडा तथा हो आदि आदिवासियों के समान अन्य आदिवासियों को सम्मिलित किया।

तीसरे वर्ग में लम्बे कद वाले तथा लम्बे सर वाले टोडा आदिवासियों की गणना की। चौथा वर्ग जिसे उन्होंने ड्राविडियन कहा अधिकांश सभ्य समुदायों से संबंधित है।

हर्बट रिजले के बाद जे० एच० हट्टन ही एक ऐसे जनगणना आयुक्त थे जिन्होंने रिजले द्वारा आरम्भ किये गये मानववैज्ञानिक दृष्टिकोण को अत्यधिक महत्व प्रदान किया।

आदिवासियों में अधिक रुचि होने के कारण उन्होंने उनके प्रजातीय वर्गीकरण एवं उनके सांस्कृतिक अध्ययनों को अधिक महत्व दिया।

हट्टन ने भारतीय आदिवासियों में प्रजातीय तत्वों की चर्चा करते हुए नेग्रिटो एवं आस्ट्रेलामड वर्गों की प्रमुख रूप से चर्चा की। उनके विचार से भारतवर्ष के सबसे प्राचीन निवासियों के रूप में नाटे कब के काले त्वचा वर्ण वाले तथा ऊनी बालों वाले नेग्रिटो वर्ग की ही मानना चाहिए जिनकी जन्म भूमि अफ्रीका है। मलाया तथा फिलीपाईन्स द्वीप समूह के आदिवासियों में भी ये प्रजातीय लक्षण परिलक्षित होते हैं तथा दक्षिण भारत के जंगलों में रहने वाले आदिवासियों को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कोचीन के कादर आदिवासियों से तथा राज-महल पहाड़ियों के आदिवासियों में किन्ही किन्ही व्यक्तियों में छुट-पुट रूप से ये प्रजातीय तत्व दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, सांस्कृतिक अभ्यासों को

की आधार मानकर उन्होंने सुदूर पूर्वी में उत्तर पूर्वी भारत के भागी लोगों में भी इस प्रजातीय तत्व की चर्चा की है।

आदिवासियों में प्रजातीय तत्वों के दृष्टिकोण से उन्होंने नेग्रिटो वर्ग के बाव आस्ट्रेलायड वर्ग की अधिक महत्व दिया है। जहाँ एक ओर नेग्रिटो वर्ग में कुछ जिने चुने आदिवासियों की ही भणना की जा सकती है वहाँ इस प्रजातीय वर्ग में उन्होंने बड़ी संख्या में आदिवासियों को सम्मिलित किया है।

इसी प्रजातीय तत्व की कतिपय व्यक्तियों ने प्राक द्रविष अथवा प्रोटो आस्ट्रेलायड नाम दिये हैं। हट्टन के विचार से भारतवर्ष के आदिवासियों में प्राप्त इस प्रजातीय तत्व को दक्षिण पूर्वी ओरुप की मूरी प्रजाति से संबंधित किया जा सकता है। वैसे में प्रजातीय लक्षण आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में भली-भाँति परिलक्षित होता है। इसीविषे इहें हट्टन ने आस्ट्रेलायड कहा। ये प्रजातीय तत्व सपूर्ण भारतवर्ष में निम्न जातियों में वितरित पाये जाते हैं परन्तु विशेष रूप से दक्षिण भारत के जंगलो एवं पहाड़ियों पर निवास करने वाले आदिवासी समुदायो में ये प्रजातीय तत्व अपेक्षाकृत अधिक परिशुद्ध रूप में प्राप्त होते हैं। इस प्रजातीय तत्व के लक्षणों में अत्यन्त लहरदार से लच्छेदार बाल, चौड़ी नाक गहरे भूरे से लेकर काला त्वचा वण एव अधिकांशत मध्यम कद अधिक महत्वपूर्ण है। हट्टन का अनुमान है कि इस प्रजातीय तत्व के लोगों के पूर्वज निश्चित रूप से उस समय से ही भारतवर्ष के पठारी क्षेत्रों में अधिक संख्या में विद्यमान थे जिस समय नेग्रिटो प्रजातीय तत्व वाले लोगों के अतिरिक्त भारतीय भूभाग पर अन्य किसी भी प्रजातीय वर्ग का आगमन नहीं हुआ था।

दक्षिण भारत के आदिवासियों में इन्ही दो प्रजातीय तत्वों के प्रमाण पाये जाते हैं। सांस्कृतिक आधार पर अत्यन्त पिछड़े हुए कोचीन के कादर जिवाकुर के मालपतरम तथा पणियन आदिवासियों में नेग्रिटो प्रजातीय तत्व तथा नीलगिरि पहाड़ियों पर बसे हुए टोडा आदिवासियों को छोड़ कर अन्य सभी आदिवासियों में मूल रूप से प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व ही अधिकांशत परिलक्षित होते हैं। टोडा आदिवासियों की गणना प्रजातीय आधार पर इन दोनों में से किसी भी समूह में नहीं की जा सकती। अधिक घने बाँसों वाले तथा अपने पड़ोसी अन्य आदिवासियों से अधिक लम्बे कद वाले टोडा लोगों के प्रजातीय लक्षण बहुत कुछ स्थल समुदाय के सम्बन्धी साधनों के समुक्त हैं। समुपालक टोडा लोगों

से बिल्कुल भिन्न एवं जायकानी तथा कृषि में अत्यन्त निपुण इनके सबसे बड़ा आदिवासियों के प्रजातीय लक्षण ही इनसे बिल्कुल भिन्न हैं तथा दक्षिण भारत की अधिकांश अन्य आदिजनजातियाँ के ही समान हैं। दक्षिण भारत के उत्तरी भाग के अधिकांश में अधिकतर गोड आदिवासी फैले हुए हैं। इसके अतिरिक्त इसी भाग के जंगली प्रदेशों में तथा पहले निजाम के शासन के अन्तर्गत रहने वाले बंजूर लोग भी अधिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए हैं तथा प्रजातीय लक्षणों के आधार पर इन्हें भी प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है। वर्तमान महाराष्ट्र के पश्चिमी तटीय प्रदेश से रहने वाले कलकरी तथा कोली आदिवासी भी इसी वर्ग में सम्मिलित किये जा सकते हैं। मध्य भारत के आदिवासियों में गोड आदिवासियों की संख्या सर्वाधिक है तथा बँगा लोगों से इनमें प्रजातीय स्तर पर अधिक समानताएँ पाई जाती हैं। इसी क्षेत्र की कोरकू तथा कोरवा आदिजनजातियाँ भी गोड लोगों के समान हैं। बिहार प्रदेश के छोटा नागपुर अञ्चल के आदिवासी उदाहरण के लिए मुड़ा हो खरिया भुईया सवाल तथा ओरांव आदि भी इसी प्रजातीय वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। छोटा-नागपुर पठारी प्रदेश के दक्षिणी तथा मध्य भारत के पूर्वी भाग में इस प्रजातीय वर्ग की प्रमुख आदिजनजातियाँ जुआंग तथा बिरहोर हैं। छोटा नागपुर अञ्चल तथा मध्य भारत के पर्वतीय प्रदेश की सीमाएँ पूर्वी तटीय प्रदेश के विस्तृत भू भाग से मिली हुई हैं। यह विस्तृत भू भाग भी आदिवासियों का केन्द्र है। यद्यपि इस क्षेत्र के अधिकांश आदिवासियों में विशेषकर सबरा लोगों में कुछ भौगोलीय प्रजातीय तत्व परिलक्षित होते हैं किन्तु इसी क्षेत्र के छोटे आदिवासी जो संख्या की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं प्रजातीय आधार पर गोड लोगों के ही समान हैं। अतः वे भी प्रोटो आस्ट्रेलॉयड प्रजातीय वर्ग में सम्मिलित किये गये हैं।

हुटटन के दृष्टिकोण से असम तथा असम से मिले हुए सुदूर पूर्व के क्षेत्रों के आदिवासियों में हमें एक तीसरे प्रजातीय तत्व के प्रमाण मिलते हैं। यद्यपि भौगोलिक आधार पर असम प्रदेश उड़ीसा से बंगाल प्रांत के द्वारा एक दूसरे से अलग है परन्तु सांस्कृतिक आधार पर इन दोनों प्रांतों के आदिवासियों में समरूपता पाई जाती है। उड़ीसा प्रदेश एक तटवर्ती मैदानी क्षेत्र है जो कि जंगलों से घिरा हुआ है। असम प्रदेश मुख्य रूप से नदियों एवं पर्वतों का प्रदेश है। असम के आदिवासी भौगोलीय प्रजातीय वर्ग में आते हैं तथा प्रजातीय एवं भाषा के आधार पर तिब्बतियों तथा भूटानियों से इनमें बड़ी समानता है। सुबासरी प्रशासकीय प्रदेश में स्थित डाफला, जवोर, सिक्की तथा

अमात्यजी आदि लोगों में भी इसी प्रजातीय तत्व के प्रमाण प्राप्त होते हैं।<sup>1</sup> ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर दो आदिवासी समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। एक तो साया आदिवासी तथा दूसरे कुकी-चिन आदिवासी समूह। इन दोनों समूहों में भी अत्योलीय प्रजातीय तत्व अत्यधिक परिलक्षित होते हैं परन्तु साया समूह की अपेक्षा कुकी-चिन समूह में ये तत्व अधिक सुस्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर ही किन्तु अधिक पश्चिम की ओर स्थित खासी तथा वारो आदिवासियों को भी इसी प्रजातीय वर्ग में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में जौन्तारियों में विशेष रूप से स्त्रियों में तथा तराई क्षेत्र के बाक लोगों में भी मिलित रूप में मयो कीय प्रजातीय तत्व पाये जाते हैं। इस प्रकार से भीमोलिक आधार पर वर्गीकृत उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के अधिकांश आदिवासियों में हट्टन ने इन्हीं प्रजातीय तत्वों की चर्चा की है। निम्न ही ये तत्व इन सभी आदिवासियों में समान रूप से वितरित नहीं पाये जाते।

बी० एस० गुहा ने सन् 1931 की जनगणना में किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण के आधार पर सम्पूर्ण भारतवर्ष के लोगों का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। सन् 1931 में हट्टन ही जनगणना आयुक्त थे और यह उनकी मानववैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम था कि उन्होंने बी० एस० गुहा ऐसे प्रशिक्षित मानव वैज्ञानिक को वैज्ञानिक आधार पर किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण का कार्य भार दिया। रिजले के बावजूद यह पहला अवसर था जबकि विकसित मानवमितीय प्राविधियों के आधार पर प्रजातीय अध्ययन का कार्य किया गया। गुहा ने अपना सर्वेक्षण 1930 में ही प्रारम्भ कर दिया था और उनकी रिपोर्ट सन् 1933 में प्रकाशित हुई। गुहा ने अपने सर्वेक्षण में आदिवासी समूहों का सर्वेक्षण विशेष रूप से एक अलग खेती के रूप में किया। इसके परिणाम स्वरूप जहाँ एक ओर उनके इस सर्वेक्षण के वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होने के कारण इसने प्रामाणिकता का पुट अधिक था वहीं उनके लिए आदिवासियों एवं सभ्य समुदायों के प्रजातीय भेदों की स्पष्ट रूप से व्याख्या कर पाना सम्भव हो सका।

गुहा के सर्वेक्षण के परिणामों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उनका यह निष्कर्ष था कि भारत में चौड़े सर वाला प्रजातीय तत्व अधिक अंश में पाया जाता है जबकि गुहा से पूर्व सामान्य धारणा ऐसी नहीं थी। सारे भारतवर्ष में उन्होंने छः प्रजातीय वर्गों की चर्चा की है, किन्तु केवल आदिवासियों के सम्बन्ध में तीन अत्यन्त प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है। पहला—बरीर से लगे एवं

मध्यम कद, गहरे चौकलेट एवं भूरे त्वचावर्ण चौड़ी एवं कपटी नाक तथा मोटे ओठो वाले आदिवासी समुदाय जिनके बाल अग्न्यन्त धंघराले ऊनी तथा उलझे हुए होते हैं। अधिकांशतः दक्षिण भारत के जंगली क्षेत्रों के कादंबर, इरुला तथा पथियन लोगो में पाये जाते हैं। इहे गुहा ने नेग्रिटो कहा है।

भारतीय आदिवासियों में दूसरे महत्वपूर्ण प्रजातीय वर्ग की चर्चा करते हुए गुहा ने प्रोटो आस्ट्रेलायड तत्व की चर्चा की है। यह प्रजातीय तत्व गुहा के अनुसार अत्यंत विस्तृत क्षेत्र के आदिवासियों में पाया जाता है। मध्य भारत के विस्तृत क्षेत्र के आदिवासियों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के अधिकांश आदिवासियों (कुछ प्रमुख आदिवासियों को छोड़ कर जिनमें प्रथम प्रजातीय तत्व के प्रमाण पाये जाते हैं) में भी प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व ही पाये जाते हैं। इस प्रजातीय वर्ग के अंतर्गत आने वाले आदिवासियों को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न नाम दिये हैं।

रिजले ने इनके लिए प्रीड्राविडियन तथा चन्दा ने निशाद शब्दों का प्रयोग किया है। अनेक विद्वानों ने यह भी मत प्रगट किया है कि सम्भवतः देश के सभ्य समुदायों में तथा परिगणित एवं अनुसूचित जातियों में भी अधिकांशतः यही प्रजातीय तत्व पाये जाते हैं। यह सभी आदिवासी अपने प्रजातीय लक्षणों में बहुत कुछ सीलों के बेंडडा तथा मलाया के सकाई लोगों में समानता रखते हैं। इहीं प्रजातीय लक्षणों वाले प्रजातीय तत्व को आइस्कटेड ने वेड्डि टाईप कहा है। बैसे अधिकांश लक्षणों में ये प्रजातीय तत्व नेग्रिटो प्रजातीय तत्व के ही समान है पर कुछ लक्षणों में इनकी विशेषता के आधार पर इनमें तथा नेग्रिटो वर्ग में अंतर स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए शरीर रचना की दृष्टि से ये छोटे तथा मध्यम कद के होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि नेग्रिटो लोगों की भांति इनके मांथे उभरे हुए तो होते हैं किन्तु मांथे के निचले हिस्से में मांथे तथा इनकी चौड़ी छोटी तथा दबी हुई नाक के संधिस्थल पर अबनमन होता है। ऐसा नेग्रिटो प्रजातीय तत्व में नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त बाल सामान्यतः धुंधराले होते हैं। परन्तु नेग्रिटो वर्ग के समान लच्छेदार ऊनी जथका उलझा हुआ नहीं होते। इसके अतिरिक्त रंग काला तथा गहरा भूरा तथा सिर लम्बा होता है। शरीर रचना एवं प्रजातीय लक्षणों में इनका आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के साथ अनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। रक्त में भी नेग्रिटो तथा इस प्रजातीय तत्व में अन्तर पाया जाता है। जहां नेग्रिटो वर्ग के लोगों में ए रक्त समूह की अधिकता पाई जाती है वहां इनमें बी समूह का ही वितरण

अधिक है।

गुहा के अनुसार तृतीय प्रजातीय वर्ग में भारत में उत्तर तथा उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेशों की पर्वत घाटियों में जो कि दक्षिण पूर्व में, वर्मा की पर्वत घाटियों में मिल जाती है, में रहने वाले सबसे आदिवासियों को सम्मिलित किया जा सकता है। इस प्रजातीय वर्ग को उन्होंने 'मंगोलायड' कहा है। भारत में इस प्रजाति की दो मुख्य शाखाओं का प्रवेश हुआ। प्रथम शाखा प्राचीन मंगोलायड तथा दूसरी शाखा तिब्बती मंगोलायड है। इस प्रजातीय तत्व के प्रमुख प्रजातीय लक्षण इस प्रकार हैं—हल्का रंग का वर्ण सीधे बाल चपटी नाक तथा चौड़े चेहरे। इनकी आँखों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे आधी बन्द तथा आधी खुली हुई अवस्था में हों। आँखों की बाहरी तथा भीतरी कोनों में दोनों अबका इनमें से एक में पलकों तथा पीटो का वर्ण जुड़ा हुआ सा प्रतीत होता है जिससे आँखों का खुला हुआ भाग सिधट कर चौड़ा सा रह जाता है। इस प्रजातीय लक्षण को 'एपीकैथिक फोल्ड' कहा गया है। इसके अतिरिक्त आँखें तिरछी भी होती हैं अर्थात् आँखों के दोनों कोनों को मिलावे वाली रेखा सिर की सीधी अवस्था में जमीन से समानान्तर नहीं होती। अधिकांश आदिमजातिया लम्बे सिर तथा मध्यम कद वाली हैं। किन्तु तिब्बती सीमान्त प्रदेशों में रहने वाली कुछ आदिम जातियों में सिर अधिक चौड़ा होता है तथा सिर का पृष्ठ भाग चपटा होता है और इनका कद भी कुछ अधिक लम्बा होता है।

अतः हम देखते हैं कि गुहा द्वारा उल्लिखित आदिवासी प्रजातीय तत्वों के बग लगभग हट्टन के विचारों के अनुरूप ही है। वास्तव में लगभग सभी विद्वानों ने गुहा के निष्कर्षों से अधिकांशतः सहमति प्रदान की है। गुहा का अध्ययन कदाचित् अंतिम अध्ययन था जो कि सुसंगठित रूप से वैज्ञानिक आधार पर किया गया था। उनके इस अध्ययन के बाद कोई अन्य ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण भारतवर्ष के स्तर पर नहीं किया जा सका जिसके आधार पर गुहा के निष्कर्षों को अमान्य किया जा सके।

### भारतवर्ष में नेग्रिटो समस्या

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतवर्ष में सम्य समुदायों की अथवा अधिक प्राचीन होने के कारण ही आदिमजातियों को आदिवासी कहा गया है। उपर्युक्त प्रजातीय तत्वों के विश्लेषण से निम्नलिखित रूप से तीन प्रमुख प्रजातीय वर्गों की वर्गी की जा सकती है। इन तीनों प्रजातीय वर्गों में प्रतीत



अत्यन्त प्राचीन है तथा किस प्रजातीय वर्ग के लोगों को देश के प्राचीनतम निवासी कहा गया है इस सम्बन्ध में मतभेद रहा है। लगभग सभी अध्ययनकर्त्ताओं ने मगोलायड प्रजातीय वर्ग के लोगों को सबसे बाब का बताया है। वास्तविक मतभेद नेग्रिटो तथा प्रोटो आस्ट्रेलायड वर्गों को लेकर है। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने तो नेग्रिटो प्रजातीय तत्व की उपस्थिति पर भी खदेह व्यक्त किया है। गुहा ने यद्यपि नेग्रिटो प्रजातीय तत्व की विद्यमानता की चर्चा केवल सीमित रूप से दक्षिण भारत के जंगलों में रहने वाली कुछ अत्यन्त पिछड़ी हुई आदिवासी जातियों में ही की है फिर भी इसी प्रजातीय तत्व को उ होने प्राचीनतम भी माना है तथा भारतवर्ष के प्रजातीय गठन में एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस विचारधारा को अन्य विद्वानों ने मान्यता नहीं दी। उनका मत यह है कि जनसंख्या की दृष्टि से तथा भारतीय भूभाग पर अधिक विस्तृत क्षेत्रों में फैले होने के कारण गुहा के प्रोटोआस्ट्रेलायड अथवा इन्हीं लोगों के लिए प्रयुक्त वेङ्गुयड अथवा प्रीह्रिडियन वर्ग के लोगों को ही भारतवर्ष के अत्यन्त प्राचीन निवासी तथा इसी प्रजातीय तत्व को देश के प्रजातीय गठन में एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप में मानना अधिक उपयुक्त है। अनेक विद्वानों ने इस बात की भी सभा बना व्यक्त की है कि यही प्रजातीय तत्व अनुसूचित जातियों में भी अधिक काश्त परिलक्षित होते हैं। साथ ही साथ इन लोगों ने यह भी माना है कि किसी समय यह प्रजातीय तत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्रों में सामान्य रूप से वितरित रहा होगा। सेवेल तथा गुहा ने लका निवासी वेङ्गु लोगो तथा भारतवर्ष में तामिल भाषी लोगों के पूर्वजों के रूप में प्रोटो आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्व को ही प्रमाणता दी है। इन्होंने इस बात की भी सभा बना व्यक्त की है कि मोहनजोदड़ो से प्राप्त कंकालीय प्रमाणों में भी यही प्रजातीय तत्व विद्यमान थे। हर्टन ने भी अपनी सन 1933 की जनगणना रिपोर्ट में प्रोटो- आस्ट्रेलायड प्रजातीय तत्वों का ही अधिक उल्लेख किया है।

प्रोटो आस्ट्रेलायड शब्द का प्रयोग सबसे प्रथम डिकसन ने 1923 में अपनी पुस्तक में किया था। यद्यपि सन 1931 के अपने प्रजातीय वर्गीकरण में गुहा ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया किन्तु सन 1951 में उन्होंने भी इस शब्द के स्थान पर 'निसाद्रिक' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना जिससे उनका तात्पर्य भारतवर्ष के उन आदिवासियों से है जिनमें नीग्रो प्रजातीय तत्वों का समावेश नहीं है परन्तु वे लक्षणों में आस्ट्रेलिया के आदिवासियों से

मिलते-जुलते हैं। गुहा ने अपने 1951 के लेख में काफी संख्या में भारतीय आदिमजातियों तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में प्रजातीय आधार पर समानताओं स्वीकार की हैं। किन्तु उन्होंने इन आदिवासियों के लिए सामान्य रूप से 'वेड्डाड' (veddoid) शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। अथवा मूल रूप से वेड्डा आदिमजाति के छोटे से लोग लका में ही सीमित रह गये हैं, तथापि प्रजातीय लक्षणों ने उनसे समानता रखने वाले अनेक आदिवासी अब भी दक्षिण भारत के जंगली क्षेत्रों में विद्यमान हैं वहाँ तक कि सेखियमन (1911) ने तो यह भी स्वीकार किया है कि दक्षिण भारत के जंगलों में निवास करने वाले आदिवासी उसी प्रजाति के हैं जिसके वेड्डा हैं। वेड्डा लोगों से सामंजस्य रखती हैं। इन आदिमजातियों को अधिकांशतः प्रीहिस्टोरिक ही कहा गया है। विशेष रूप से त्रिबांगुर के उशली कनिक्कर तथा मुथयम मालाबार क्षेत्र में वाइनाड के पणिमन नीलगिरि पहाड़ियों के कुस्म्बा तथा इरुल, हैदराबाद-आंध्र प्रदेश के बेंचू, कोकीन प्रदेश के कादर तथा उत्तर भारत में राजमहल पहाड़ियों पर बसने वाले माले तथा मानभूम जिले के पहाड़िया लोगों में वेड्डा प्रजातीय लक्षण ही मुख्य रूप से परिलक्षित होते हैं। अतः दक्षिण भारत को इस प्रजातीय तत्व का एक मुख्य केंद्र मानना अनुचित न होगा।

भारतवर्ष में नेग्रिटो प्रजातीय प्रभावों के विद्यमानता की चर्चा लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रारंभ हो चुकी थी। परन्तु काफी समय तक इस विषय पर कोई समुचित कार्य नहीं किया गया। मानवमिति पर आधारित जो थोड़ा सा कार्य वैज्ञानिक आधार पर किया गया है उसका श्रेष्ठ प्रमुख रूप से गुहा को ही प्राप्त है। इस सम्बन्ध में इतना ज्ञान होने के बावजूद भी नेग्रिटो प्रजातीय तत्व को महत्व दिया गया। सबसे पहले सन् 1877 में डे क्वाटर फेजेज ने इस तथ्य को सामने रखा। इसके उपरांत समय समय पर अनेक मानववैज्ञानिकों ने विशेष रूप से दक्षिण भारत में कहीं कहीं पर जंगलों में रहने वाले आदिवासियों में ऊनी अथवा उलझे बालों के पाये जाने की चर्चा की है। गुहा ने सन् 1931 की जनगणना रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कादर लोगों में इस प्रकार के बालों का उल्लेख किया है। इससे प्रथम लेपिक में सन 1903-1904 के मध्य कादर आदिवासियों का सर्वेक्षण किया जा और उनमें नेग्रिटो प्रजातीय तत्वों को स्वीकार किया जा। परन्तु बाद में सन् 1906 में उन्होंने अपने इस मत को स्वयं परिवर्तित किया और यह कहा कि जिस प्रकार से अदमान द्वीप समूह

के आदिवासियों में स्पष्ट रूप से नेग्रिटो प्रजातीय मूलान देखे जा सकते हैं उस स्तर पर इस प्रजातीय तत्व को कादर लोगों में नहीं देखा जा सकता ।

कीन (1909) ने यह स्वीकार किया कि कुछ विभिन्न रूप में नेग्रिटो प्रजातीय लक्षणों वाले समूहों का आगमन भारतवर्ष में सम्भवतः मलाया से हुआ और यही लोग इस देश में सर्वप्रथम आकर बसने वाले थे । रिजले (1918) ने भारतवर्ष में ऊनी बालों के लक्षण की विद्यमानता को पूर्ण रूप से अस्वीकार में लिया । हाबेल्स ने 1937 में दक्षिण भारत के जंगलों के आदिवासियों में नेग्रिटो प्रजातीय तत्वों को स्वीकार किया है । हट्टन (1927) ने शारीरिक लक्षणों एवं सांस्कृतिक आधार पर असम के कुछ आदिवासियों में इस प्रजातीय तत्व की सम्भावना व्यक्त की ।

इस हाल के निरीक्षणों में हट्टन ने असम के कुछ नाया लोगों में नेग्रिटो प्रजातीय तत्वों की विद्यमानता स्वीकार की है । गुहा ने अपने विचारों की साक्षी में कादर लोगों के जो फोटोग्राफ छापे हैं उनमें भी ऊनी बालों को स्पष्ट रूप से नहीं देखा जा सकता । फिर भी दक्षिण भारत की कतिपय जंगली आदिवासीयों में तथा विशेषकर कादर लोगों में इस प्रजातीय तत्व को एक महत्वपूर्ण प्रभाव के रूप में स्वीकार किया है । ऐसी परिस्थिति में वैज्ञानिक आधार पर इस प्रजातीय तत्व की एक प्रमुख तत्व के रूप में भारत के आदिवासियों में विद्यमानता आज भी एक विवादास्पद विषय बना हुआ है । मजूमदार तथा एस० सी० सरकार ने गुहा के इस निष्कर्ष का पूर्ण विरोध किया है ।

इस सम्बन्ध में सर आर्थर कीय के विचार महत्वपूर्ण हैं । सन 1936 में उन्होंने गुहा के निष्कर्षों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उनकी आलोचना की है । उनके अनुसार केवल बालों के स्वरूप को मूल रूप से आधार मान कर इतने महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित था ।

### नेग्रिटो प्रजातीय तत्व

नेग्रिटो प्रजाति पर शेबेस्टा (1950) का अध्ययन अधिकाधिक माय है । उन्होंने भारतवर्ष में इस प्रजातीय तत्व के संबंध में यही कहा है कि इस संबंध में गुहा तथा हट्टन के विचारों को मानने से पहले और भी अधिक वैज्ञानिक शोध की आवश्यकता है । वास्नर ने कादर तथा इस संबंध में उल्लिखित दो अन्य आदिवासियों के शरीरमैत्रीय अध्ययनों का इतना ज्ञात है कि स्पष्ट रूप से उनके प्रजातीय अभिलक्षणों के संबंध में ठीक ठीक

कुछ कह बना सचक ही नहीं है ।

अब ऐसी परिस्थिति में गुहा तथा हट्टक के निवासियों को मानना कठिन है । इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न भारत की कतिपय आदिमजातियों में क्या क्या ऊनी बालों के लक्षण बिखलाई पड़ते हैं । किंतु यह साक्ष्य भारत वर्ष के प्रजातीय गठन में एक मूल प्रजातीय तत्व के रूप में नेचिटो प्रजातीय तत्व की विद्यमानता की पुष्टि नहीं कर सकता । इसके विपरीत प्रोटो आस्ट्रेलायड वेडिडड अथवा प्रीड्राचिडियन शब्दों से संबोधित प्रजातीय तत्व बहद स्तर पर आदिवासियों में विद्यमान हैं तथा अनेक लक्षणों के आधार पर इसकी पुष्टि भी की जा सकती है । जा भी पांडी से ककालिक साक्षियाँ मोहन जोड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त हैं । उनके अध्ययनों से भी हमें यही संकेत मिलता है कि भारतवर्ष के प्राचीनतम एक मूल निवासी इसी प्रजातीय तत्व के लोग थे और गुहा सरकार तथा मजूमदार आदि अन्य विद्वानों ने इन्हें प्रोटो आस्ट्रेलायड शब्द से संबोधित किया ।

### भारत के आदिवासियों का भाषा के आधार पर वर्गीकरण

विभिन्न भाषाओं को सामान्य दृष्टि से भी देखने से इस बात का अनुभव होता है कि उनमें परस्पर कुछ बातों में समानता है और कुछ बातों में विभिन्नता है । समानता दो तरह की हो सकती है । एक पद रचना की, दूसरी अर्थ तत्वों की । केवल पद रचना की समानता पर विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण आकृति मूलक वर्गीकरण कहलाता है दूसरा जिसमें आकृति मूलक समानता के अतिरिक्त अर्थतत्व की समानता रहती है, ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है ।

हमारे आदिवासी भारत की संपूर्ण जनसंख्या का एक छोटा सा भाग हैं । इनका अपना एक अलग बग है क्योंकि इनका जैविक स्तर अन्य परिष्कृत जातियों की अपेक्षा बहुत नीचा है । इनमें सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल बदलन की क्षमता बहुत कम है और शिक्षा का अभाव है । इन्हें समझने के लिए हमारा दृष्टिकोण उदार एवं वैज्ञानिक अर्थात् मानवविज्ञान पर आधारित होना चाहिए । इसीलिए इनको तथा इनकी संस्कृतियों को समझने के लिए इनकी भाषाओं का अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है ।

भारतवर्ष के आदिवासियों की भाषाओं का अध्ययन सर्वप्रथम विभिन्न समुदायों के ईसाई मिशनरियों ने ही किया । उनका मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार था और इसके लिए उनकी भाषाओं का समझना तथा उनका

अध्ययन करना उनके लिए आवश्यक हो गया। इस प्रकार भारतवर्ष में आदिवासियों की भाषाओं का अध्ययन गत शताब्दी के मध्यकाल से आरम्भ हुआ और तब से अब तक इस दिशा में काफी प्रगति हो चुकी है।

वर्णन की सुविधा के लिए संसार की भाषाओं को चार वर्गों में बाँटा जाता है—

1—उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका

2—प्रशांत महा सागर के द्वीप

3—अफ्रीका

4—यूरोप एशिया

भारतवर्ष में बोली जाने वाली सभी भाषाय यूरोशियाई (यूरोप एशिया) वक्त्र के अंतर्गत आती हैं। हमारे देश में बोली जाने वाली सभी भाषाएँ आव द्रविड मुंडा (आस्ट्रो) तथा तिब्बती चीनी परिवारों की भाषाएँ हैं। आय परिवार अथवा भारत यूरोपीय (Indo European) भाषा परिवार के अंतर्गत उत्तरी भारत एवं दक्षिण की हिन्दी बंगला पंजाबी गुजराती मराठी तथा उडिया भाषाएँ आती हैं। इसी प्रकार द्रविड भाषा परिवार के अंतर्गत मध्य एवं दक्षिण भारत में बोली जाने वाली भाषाय आती हैं। दक्षिण भारत में बोली जाने वाली चार समूह भाषाय तमिल तेलगू मलयालम तथा कन्नड़ भाषाएँ इसी भाषा परिवार का अंग हैं। इन चारों भाषाओं का साहित्य अत्यन्त विकसित है। विशेष रूप से तमिल साहित्य की गणना अत्यन्त प्राचीन साहित्य में की जाती है।

दक्षिण मध्य तथा पूर्वी भारत के आदिवासियों में बोली जाने वाली भाषाय भी द्रविड भाषा परिवार में ही सम्मिलित की गई हैं। विशेषरूप से दक्षिण भारत के आदिवासियों की भाषाएँ अधिकांशतः उसी क्षेत्र की चार समूह भाषाओं के मिश्रित रूप में ही हैं परन्तु उनके समान विकसित नहीं हैं।

अन्य दो वर्गों की भाषाय केवल कुछ गिने चने अपवादों को छोड़कर लगभग सभी भाषाएँ तृतीय भाषा परिवार अर्थात् आस्ट्रिक भाषा परिवार में ही मानी गई हैं। आस्ट्रिक भाषा परिवार में आस्ट्रेलियाई बोलियाँ जैसे असम की खासी निकोबार द्वीप समूह की निकोबारी तथा बर्मा म्यांम, इंडोचीन में प्रचलित बहुत सी भाषाएँ सम्मिलित की गई हैं।

चीनी तिब्बती भाषा परिवार के अंतर्गत मंगोल प्रजाति समूह की विभिन्न आदिमजातीय भाषाएँ आती हैं। भारतवर्ष में इन चार प्रमुख भाषा परिवारों का उल्लेख सन् 1931 की जनगणना में किया गया है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश के आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं मुख्य रूप से तीन भाषा परिवारों में ही वर्गीकृत हैं अर्थात् द्रविड, आस्ट्रिक तथा चीनी-तिब्बती।

### द्रविड आदिवासी भाषायें

इस भाषा परिवार के अंतर्गत जाने वाली भाषाओं को बोलने वाले आदिवासी लोग मध्य तथा दक्षिणी भारत के निवासी हैं। द्रविड परिवार की अत्यंत विकसित भाषाओं अर्थात् तामिल, तेलगू, कन्नड़ एवं मलयालम के अतिरिक्त ऐसी भी दो अन्य भाषायें हैं जो इतनी विकसित नहीं हैं परन्तु काफी सख्या में सम्य लोगो में बोली जाती हैं। ये दो भाषायें तुलू तथा कोडगू हैं जो कुर्गवासियों की भाषायें हैं जिन्हें आदिवासी भाषाओं में नहीं माना जाता।

आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली द्रविड भाषाओं में प्रमुख स्थान गोडी भाषा का है जिसे गोड आदिवासी बोलते हैं। गोड आदिमजातियों के लोग मध्य प्रदेश तथा आंध्र प्रदेश में फैले हुये हैं। गोडी भाषा का कोई साहित्य नहीं है। बोलने वालों की सख्या की दृष्टि से आदिवासी भाषाओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु सम्यता के सपक में जाने के कारण भिन्न भिन्न क्षेत्रों में गोड लोग धीरे धीरे अपने पड़ोसियों की भाषायें जैसे हिन्दी, मराठी, तेलगू तथा कहीं कहीं उडिया भाषा अपनाते जा रहे हैं। विशेषकर मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में रहने वाले गोड जहाँ सम्य समाजों के सांस्कृतिक संपर्कों का प्रभाव अधिक हुआ है अपनी भाषा को लगभग भुला चुके हैं और अधिकांश क्षेत्रों में वे द्विभाषी हैं अर्थात् एक तो अपनी मातृभाषा गोडी बोलते हैं तथा दूसरी अपने पड़ोसियों की भाषा बोलते हैं। गोड लोगों की कुल जनसख्या 1951 की जनगणना के आधार पर लगभग 1,86,50,000 थी।

इस भाषा परिवार की एक अन्य आदिवासी भाषा कुई भी है। इस भाषा को बोलने वाले आदिवासियों में उड़ीसा के कच्छ, बिहार के ओराख और बिहार के ही राजमहल पहाड़ियों के निवासी माटो लोग हैं। ये सभी आदिवासी धीरे धीरे अपने सम्य पड़ोसियों की भाषायें अपनाते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस समय पाकिस्तान में स्थित बलोचिस्तान के बीच चारो ओर ईरानी भाषाओं तथा एक ओर से सिंधी भाषा से घिरी हुई द्रविड परिवार की एक अन्य भाषा बाहुई है। इसी प्रकार दक्षिण भारत के आदिवासियों में टोडा, पाणियन, चेंबू, इरुल एवं कादर इत्यादि की भाषायें भी द्रविड भाषा परिवार में ही सम्मिलित की जाती हैं।

द्रविड परिवार की भाषाओं के उच्चारण में अन्य भाषाओं की अपेक्षा कुछ विशिष्टताएँ पाई जाती हैं। यह संयुक्त शब्द प्रधान है तथा वे उदात्त-अदात्त से मिलती जुलती हैं। इस भाषा परिवार की भाषाओं को बोलने वाले आदिवासी अन्य भाषाओं के बोलने वालों की अपेक्षा बहुत कम उन्नत हैं।

### आस्ट्रिक भाषा परिवार

इस भाषा परिवार को मुंडा भाषा परिवार भी कहा गया है। वैसे इस भाषा परिवार की एक बोली मुंडारी का ही एक शब्द मुंडा है। मैक्स मुलर ने सबसे पहले इन भाषाओं को द्रविड भाषा परिवार से भिन्न माना है। उन्होंने ही इसे मुंडा भाषा परिवार कहना उपयुक्त समझा। इस परिवार की भाषाएँ विशेष रूप से छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासियों द्वारा बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त मध्य प्रदेश उड़ीसा पश्चिमी बंगाल एवं मद्रास के कुछ भागों तथा हिमालय की तराई में बिहार से लेकर शिमला पहाड़ी तक बराबर इसका प्रयोग पाया जाता है। बंगाल बिहार उड़ीसा की सथाली मुंडारी हो खरिया भूमिज तथा बिहार की कुछ अन्य भाषाएँ इसमें आती हैं। मध्य प्रदेश एवं बरार में कोरकू तथा सावरा एवं गडबा उड़ीसा में बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएँ इस भाषा परिवार की कोल एवं मुंडा वगैरह की भाषाएँ कही जाती हैं। परन्तु इस परिवार में दो अन्य वर्ग भी आते हैं। एक तो असम के खासी लांगो की भाषा और दूसरी निकोबार निवासियों की भाषाएँ।

उपयुक्त आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं में सथाली एवं मुंडारी भाषाओं का थोड़ा बहुत अध्ययन किया जा चुका है। समस्त आस्ट्रिक परिवार की इस देश में लगभग उन्नीस भाषाएँ एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने खासी और सथाली को छोटी देशी भाषाओं के रूप में स्वीकार कर लिया है। यद्यपि इन भाषाओं के प्रति सरकार का दृष्टिकोण उदार है तथा कहीं कहीं पर विश्वविद्यालय स्तर पर भी इन भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जा रहा है परन्तु इन पर आर्य भाषाओं के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभावों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये भाषाएँ धीरे धीरे लुप्त होती जा रही हैं। भाषाशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि यदि मुंडा भाषा भाषी भारत में सबल फीले थे परन्तु कालांतर में आर्य और द्रविड भाषा वाले समुदायों के दबाव में इनका अस्तित्व सीमित क्षेत्रों में ही रह गया।

## चीनी तिब्बती भाषा परिवार की आदिवासी भाषायें

भारतवर्ष में चीनी तिब्बती भाषाओं को बोलने वालों की संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। भारत में इस शाखा की भाषाओं वहाँ कदा असम के उत्तरी और पूर्वी भाग में बोली जाती हैं। अधिकांश आदिवासी ही इन भाषाओं के बोलने वाला है। मगोल प्रजातीय वर्ग के आदिवासियों में ही अधिकतर यह भाषायें बोली जाती हैं। इस परिवार की सभी भाषायें दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित की गई हैं तिब्बती-बर्मी तथा स्यामी चीनी। हिमालय के प्रदेशों जैसे नेपाल तथा दार्जिलिंग में केवल तिब्बती-बर्मी शाखा की बोलियाँ ही पाई जाती हैं। असम की भी अधिकांश बोलियाँ इसी शाखा के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु असम के सुदूर पूर्व में खामटी बोली स्यामी चीनी शाखा की है। उत्तरी असम के सीमांत प्रदेश में अबोर मिरी तथा डाफला आदि कुछ अल्प तिब्बती बर्मी शाखा की आदिमजातियाँ हैं। असम राज्य में ब्रह्म-पुत्र नदी के दक्षिण में मिकिर तथा नागा लोगों की भाषायें भी तिब्बती बर्मी भाषायें हैं। इनमें मणिपुरी भाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इस भाषा में बड़े ही सुन्दर साहित्य का सजन हुआ है जिसे बगला एवं असमिया लिपि के माध्यम से प्रकाशित भी किया गया है। इसके अतिरिक्त इस वर्ग की आदिमजातियों में तथा चीनी तिब्बती भाषा परिवार से संबद्ध लुशाई लोग भी प्रगतिशील हैं।

उत्तर तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्र के आदिवासियों द्वारा बोली जाने वाली ये भाषायें उसी बृहत् भाषा परिवार का ही एक अंग हैं जिसके अन्तर्गत चीनी, स्यामी बर्मी तथा तिब्बती ये चार प्रमुख भाषायें प्रमुख हैं।

प्रशांत महासागर क्षेत्र की भाषाओं में अलावा तथा पालीनेसिया की भाषाओं का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इन भाषाओं का हिन्द चीन की मोन-ख्मेर तथा भारत की खासी मुंडा भाषाओं से सम्बन्ध है। मोन-ख्मेर भाषा के बीसने वाले लोग इस समय आईलैंड, बर्मा और भारत के कुछ अंग्रेजी भागों में ही आदिवासियों के रूप में रहते हैं। भारतवर्ष में यह लोग केवल असम के पूर्वी प्रदेश में ही पाये जाते हैं। खासी भाषा इस भाषा से अत्यंत प्रभावित है तथा चारों ओर से तिब्बती बर्मी भाषाओं के बोलने वालों से घिरी है। मूल रूप से मोन-ख्मेर भाषा से इसका संबंध सदियों पहले से ही विच्छिन्न हो चुका है।



## उपसंहार

भाषा एवं प्रजाति में किसी प्रकार का अभिव्यक्त सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले एक ही प्रजातीय वर्ग के हो सकते हैं तथा एक ही भाषा के बोलने वालों में कई प्रजातीय तत्व पाये जा सकते हैं। इसी प्रकार से प्रजातीय एवं भाषायी सीमाएँ जिन समुदायों के क्षेत्रों के चयन में बाधाएँ नहीं उत्पन्न करती। प्रागैतिहासिक युग से ही मनुष्य अपनी आवश्यकताओं क्षमताओं तथा वातावरण के प्रभावों के वशी भूत होकर विस्तृत क्षेत्रों में भ्रमण करता रहा है। नदियों सागरों एवं पर्वतों जैसे भौगोलिक अवरोधों ने सदब उसकी गतिशीलता को सीमित किया है। सम्यता एवं तकनीकी प्रगति ने इन अवरोधों को भी अथहीन बना दिया। विभिन्न संस्कृतियों एवं भाषाओं वाले समूहों के लिए विश्वव्यापी विस्तार का भाग प्रशस्त हुआ है। परन्तु सम्यता से दूर अविकसित तकनीकी सीमाओं से घिरे हुये तथा परम्पराओं से जकड़े हुये आदिवासियों के लिए अपने सीमित क्षेत्रों एवं अपने सीमित ससाार को लाघना सभव नहीं हो सका। भारत वर्ष के सीमित क्षेत्रों में बसे हुये आदिवासी समुदाय इसी विवशता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

आदिवासियों के भौगोलिक प्रजातीय एवं भाषागत आधारों पर वर्गीकरण के अध्ययन से इन तीनों आधारों में सामंजस्य प्रतीत होना एक संयोग मात्र ही कहा जा सकता है। कुछ अपवादों को छोड़कर भौगोलिक वर्गीकरण में उल्लिखित भारतीय उपमहाद्वीप के तीनों आदिवासी क्षेत्रों के आदिवासियों में प्रजातीय एवं भाषागत एकरूपता भी दिखाई पड़ती है। इन तीन आधारों के अतिरिक्त आर्थिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर भी आदिवासियों के वर्गीकरण किये गये हैं। अन्य अध्यायों में इनका अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक वर्गीकरण वास्तव में तथ्यों को समझने की दिशा में एक व्यवस्थित साधन मात्र ही होता है। एक ही प्रकार के तथ्यों के भिन्न भिन्न आधारों पर वर्गीकरण उन तथ्यों के विभिन्न दृष्टिकोण ही होते हैं अतः वे कभी भी अध्ययन का उद्देश्य अथवा साध्य नहीं माने जा सकते। भौगोलिक क्षेत्र भाषा तथा प्रजाति के आधारों पर किये गये वर्गीकरणों की विवेचना से भारत के आदिवासी समुदायों की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन हो सका है। इसी पृष्ठभूमि में उनकी विशिष्ट संस्कृति बनपती रही है और उनके धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं ने उनके जीवन की गतिविधियों को नियंत्रित किया है।

# 3

## आदिवासी-अर्थव्यवस्था

मुद्रा एवं धन के अभाव में किसी प्रकार की अर्थव्यवस्था का होना—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के लिए भले ही एक विचित्र स्थिति क्यों न हो—किंतु मानव वैज्ञानिकों ने ऐसी व्यवस्थाओं से परिचय प्राप्त कर उनके विवरण प्रस्तुत किए हैं। अत्यन्त सरल तकनीकी साधनों का प्रयोग करते हुए जीवनयापन करना आदिवासियों ने अपनी परम्पराओं से सीखा है। किंतु आज जब हम उन्हें आर्थिक रूप से पिछड़े मानते हुए हीनता की दृष्टि से देखते हैं तो वास्तव में हम उनके अदम्य साहस एवं उनकी अपार अमताओं का परिहास ही करते हैं। इन मुद्राविहीन अर्थव्यवस्थाओं की विशिष्टताओं ने ही उन्हें दरिद्रता एवं अभाव की स्थिति में भी गर्व से जीवित रहना सिखाया है।

मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो प्रयत्न करता है उसे हम विभिन्न समूहों में बाँट कर अलग-अलग प्रकार के संगठनों के नाम से सम्बोधित करते हैं। उदाहरण के लिए हम सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक व्यवस्थाओं की बात करते हैं। इसी प्रकार आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो व्यवस्था की जाती है उसे हम अथव्यवस्था के नाम से जानते हैं। जब से मनुष्य इस पृथ्वी पर आया है वह निरंतर अपने रहन-सहन की व्यवस्था को उपलब्ध साधनों के अनुरूप उन्नत करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। इन प्रयत्नों को सम्मिलित रूप से जब एक निर्धारित क्रम में व्यवस्थित किया जाता है तो विभिन्न अथ-व्यवस्थाक्रमों का रूप हमारे सामने आता है। विभिन्न मानव समाजों में उनके भौगोलिक वातावरण के सदृश में हम भिन्न भिन्न प्रकार की अथ व्यवस्था पाते हैं जैसे—कहीं कृषि के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ हैं तो कहीं उद्योग धंधों के लिए इसी आधार पर हम कृषि अथव्यवस्था अथवा औद्योगिक अर्थव्यवस्था की बात करते हैं।

अथव्यवस्था के अतगत विभिन्न समाजों द्वारा अपनी सस्कृति के साध्यम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों के अध्ययन के आधार पर अलग अलग विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की अथव्यवस्थाओं का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में पहला प्रामाणिक विवरण ब्रिटेन के अठारहवीं सदी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उन्होंने आखेट पशुपालन और कृषि के अतगत मानव की आर्थिक क्रियाओं को वर्गीकृत किया। इसे थोड़ा और विस्तृत करते हुए जाज फेडरिक लिस्ट ने हस्तशिल्प तथा औद्योगिकी वाली आर्थिक क्रियाओं को भी इसमें सम्मिलित किया। उन्नीसवीं सदी में जर्मनी के विद्वान अर्थशास्त्री वूनो हिल्डे ब्राड ने एक नये सदृश में आर्थिक क्रियाओं का वर्गीकरण करते हुए इसे वस्तु विनिमय मुद्रा प्रयाग तथा उधार या साख के अन्तगत विभाजित किया। जर्नेस्ट स्नासे ने मानव के रहन-सहन अर्थात् सस्कृति पर आधारित आर्थिक समूहों को एक उद्घिकासीय क्रम में निम्नलिखित पाँच रूपों में बताया है—

1—सङ्ग्रहण की अथव्यवस्था

2—स्थायी सांस्कृतिक पुष्पकली जीवन की अर्थव्यवस्था

3—ग्रामीण अर्थव्यवस्था

4—नगरीय अर्थव्यवस्था

5—महानगरीय अर्थव्यवस्था

प्रसिद्ध विकासवादी अमेरिकन मानवशास्त्री मार्गन ने भी आर्थिक

क्रियाओं को एक क्रमिक विकास की दिशा में निहित किया है। कर्ल मानस ने भी इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है परन्तु नई खोजों तथा अध्ययनों के आधार पर अब आधुनिक विद्वान इस अंत के समर्थक होते जा रहे हैं कि मानव ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक प्रयत्नों का सहारा लिया है और आज भी लेता है। परन्तु वह इस क्षेत्र में किसी एक निश्चित क्रमिक विकास से हटकर गुजरा है, ऐसा तभी कहा जा सकता। आर्थिक क्रियाओं के आधार पर कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नलिखित है—

डा० यू० आर० एहरेनफेल्स ने जिन्होंने दक्षिण भारत की कादार आदिमजाति का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है, दक्षिण पूर्वी एशिया के निवासियों का अध्ययन करके आर्थिक क्रियाओं पर आधारित चार श्रेणियाँ बताई हैं—

- 1—खाद्य सामग्री संग्रहक
- 2—उच्च श्रेणी के शिकारी
- 3—बुमकड पशुपालक
- 4—कृषक

कुछ ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने प्रारम्भिक समाजों के अध्ययन में आर्थिक प्रयासों को ही मापता देना उचित माना है। उनके मतानुसार प्रारम्भ में भोजन करना ही प्रत्येक मानव समाज का प्रमुख उद्देश्य था अतः सभी काय और नियम इसी आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित पाये जाते थे। सरल समाजों में यह स्थिति विशेष रूप से स्पष्ट एवं प्रभावकारी है। उतने भोजन प्राप्त करने के तरीके उनके सामाजिक व्यवहारों से निकट सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार का एक विभाजन नीबोर द्वारा दिया गया है जिसमें आर्थिक प्रयत्नों के आधार पर जीवन के निम्नलिखित रूप बताए गए हैं—

- 1—कच मूल संग्रहक
- 2—शिकारी
- 3—मछली पकड़ने वाले
- 4—कृषक बुमकड अथवा शिकारी कृषक
- 5—निम्न श्रेणी के स्थायी कृषक जो शिकार एवं पशुपालन भी करते हैं।
- 6—उच्च श्रेणी के कृषक जो सरल उपकरणों का उपयोग करते हैं।
- 7—बुमकड चरवाहे

उपरोक्त वर्गीकरण किसी निश्चित आर्थिक विकासक्रम के परिचायक नहीं है बरन ये केवल उन विभिन्न आर्थिक स्तरों को बताते हैं जो कि अलग-अलग समाजों में तत्कालीन भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल उत्पन्न हुए थे। अन्य विद्वानों द्वारा भी इस मत का समर्थन किया गया है और डरिल फोड तथा एम० जे० हर्सकोवित्स द्वारा दिया गया निम्न लिखित पंचसूत्री विभाजन विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

- 1—संग्रहण
- 2—शिकार
- 3—मछली पकड़ना
- 4—कृषि
- 5—पशुपालन

इसी परम्परा में फ्रेडरिक रैटजल एडवर्ड हान तथा अलेक्जेंडर वान हम्बोल्ट आदि विद्वानों ने भी अपने अपने अध्ययनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ऐसे अनेक जनसमूह हैं जिन्होंने संग्रहण एवं शिकार की स्थिति से निकल कर सीधे कृषक अथवा व्यवस्था को अपना लिया। कई क्षेत्रों में हमको यह विभिन्न अव्यवस्थायें एक दूसरे से मिली हुई भी मिलती हैं।<sup>1</sup> इन सम्मिलित अव्यवस्थाओं के समर्थन में हम ब्रिटिश समाजशास्त्री मारिस् जिन्सबग के मत को भी पाते हैं जिन्होंने एक समाज में पशुपालन कृषि शिकार आदि विभिन्न आर्थिक क्रियाओं को साथ-साथ अपनाये जाने के उदाहरण देते हुए इसकी पुष्टि की है। इस दिशा में जिन्सबग के अतिरिक्त ह्वीलर तथा हाबहाउस ने भी सम्मिलित अव्यवस्थाओं के अध्ययन को अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के साथ-साथ देखने की आवश्यकता पर बल दिया है। परन्तु अव्यवस्था के दृष्टिकोण से सम्मिलित आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इसी परम्परा में थनवाल्ट द्वारा विभिन्न सम्मिलित आर्थिक प्रयत्नों पर आधारित समाजों का सात वर्गों में किया गया वर्गीकरण अत्यन्त स्वाभाविक एवं प्रामाणिक प्रतीत होता है। उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में है—

- 1—ऐसे समरूपी समुदाय जिनमें पुरुष शिकार तथा पशु पक्षी फंसाने का एवं स्त्रियाँ खाद्य सामग्री संग्रहण का कार्य करती हैं।
- 2—ऐसे समरूपी समुदाय जो शिकार, पशु पक्षी फंसाने एवं कृषि का कार्य करते हैं।
- 3—ऐसे श्रेणीबद्ध समाज जिनके सदस्य शिकार, पशु-पक्षी फंसाने,

कृषि तथा शिल्प कार्य करते हैं।

4—पशुपालक

5—समरूप शिकारी एवं पशुपालक

6—प्रजातीय श्रेणिकट पशुपालक एवं व्यापारी

7—सामाजिक श्रेणीबद्ध पशुपालक जिनमें शिकारी, कृषक तथा शिल्पी जनसंख्या भी सम्मिलित हैं।

इस प्रकार के अनेक वर्गीकरणों में से किसी एक को ही आधार मान कर अध्ययन सम्भव नहीं है। भारतीय आदिमजातियों का अध्ययन करते हुए हम देखते हैं कि उनकी कुल जनसंख्या का लगभग 80% कृषि तथा अन्य सहायक आर्थिक क्रियाओं पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्भर करता है। प्रत्येक आदिमजाति में भी कई प्रकार की आर्थिक क्रियाओं के प्रमाण मिलते हैं। इतना अवश्य है कि किसी एक आदिमजाति में कोई एक प्रकार की आर्थिक क्रिया प्रमुख तथा अन्य क्रियाएँ गौण रूप में मिलती हैं। भारतवर्ष के आदिमजातीय समाज जिन विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के द्वारा अपना जीवनयापन करते हैं उन्हें मोटे तौर पर निम्नलिखित समूहों में बाँट सकते हैं—

1—खाद्य सग्रहक एवं शिकारी

2—पशुपालक

3—अस्थायी कृषक

4—कृषक

5—शिल्पी

6—औद्योगिक मजदूर

### खाद्य सग्रहक एवं शिकारी

इस श्रेणी के अन्तर्गत के आदिमजातीय समाज सम्मिलित किये जा सकते हैं जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जंगल या आस पास के क्षेत्रों से खाने योग्य फल, फूल कंदमूल जहद, तरकारियाँ आदि सामग्री तथा विभिन्न योग्य भोज्य गेहूँ, दाल आदि सामग्री एकत्र करते हैं तथा साथ-साथ छोटे-छोटे जानवरों को पकड़ कर या मार कर उन पर भी आश्रित होते हैं। वे मछलियाँ पकड़ने का काम भी समयानुसार कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अनुष्य का प्रारम्भिक जीवन प्रकृति के अत्यन्त खनिजक रहा है और संग्रहण ही एक

ऐसा तरीका था जिससे वे अपना जीवनयापन सुविधानुसार कर पाने में समर्थ हो सकते थे।

शून्ध एव ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति बयाशीघ्र और तुरन्त करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए आदिमजातीय मानव के सामने कोई विशेष साधन नहीं थे। प्रकृति में उपलब्ध सामग्रियों को अपनाक के बतिरिक्त उसके सामने कोई दूसरा माग न था। धीरे धीरे कुछ विशेष वस्तुएँ उसे स्वाद देने लगी और उनकी खोज में उसने आस पास के क्षेत्रों में घूमना शुरू किया होगा। वही से खाद्य-संग्रह वाली स्थिति के आरम्भ का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य ने अपनी खाद्य सामग्री में जहाँ एक ओर वनस्पति पदार्थों को खोजना जारी रखा वहीं पर साथ साथ मांस को भी एक पूरक खाद्य पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हुए उसने पशुओं एवं पक्षियों को पकड़ने तथा मारने के साथ-साथ मछलियों केकड़ों सीप घोघों तथा अन्य जलचरों को भी पकड़ना तथा भोजन के रूप में प्रयोग करना सीखा। इस प्रकार मानव ने अपनी बुद्धि और क्षमता का प्रयोग करते हुए अपनी आर्थिक क्रियाओं को निरंतर विकसित करने का प्रयत्न किया।

आज भी हम इस प्रकार की अनेक भारतीय आदिमजातियाँ पाते हैं जो विशुद्ध रूप से अपने आस पास के प्राकृतिक साधनों पर ही निर्भर करती हुई अपना जीवन यापन कर रही हैं। भारत के दक्षिणी भाग में पाई जाने वाली अनेक आदिमजातियाँ काफी हद तक खाद्य-संग्रह एवं शिकार व्यवस्था को मुख्य आर्थिक आधार के रूप में अपनाये हुए हैं। इनमें कोचीन के जंगलों में निवास करने वाले कादार तमिलनाड के मालापतरम पलियान पनियान, इरुला तथा कुरुम्बा आंध्र प्रदेश की अनामलाई पर्वत श्रेणियों में निवास करने वाले चेचू प्रमुख रूप से देखे जा सकते हैं। साथ ही साथ बिहार के बिरहोर तथा खडिया, मध्य प्रदेश के कमार बैगा तथा अबूझमाडिया आंध्र प्रदेश के येनादी तमिलनाडु के कोया तथा कोण्टारेडु और महाराष्ट्र के कत करी भी रहे जा सकते हैं। अण्डमान द्वीप समूह की ओज़ जरवा आदि आदिमजातियाँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। इन सभी आदिमजातियों को हम विशुद्ध रूप से इस श्रेणी में ही मानते हैं ऐसा नहीं है परन्तु मुख्य रूप से वे सभी खाद्य संग्रहक एवं शिकारी की श्रेणी में ही आती हैं। इनमें अन्य आर्थिक क्रियायें भी सहायक और पूरक रूप में पाई जाती हैं।

खाद्य संग्रह एवं शिकार पर निर्भर आदिमजातियों के सर्वोत्तम उदाहरण के लिए हम अण्डमान द्वीप समूह के ओज़, जरवा तथा खेंटेमिनस

जो देख सकते हैं। वे एक दूसरे के कपड़े निकट रहते हुए भी एक दूसरे की भाषा तथा संस्कृति से अनभिज्ञ हैं। इन्हें हम विषुद कप से स्वाभिमानी समाजियों पर आधारित पाते हैं। जीवन निर्वाह के सीमित साधनों के अन्तर्गत हमें इनमें बाधसमूह, शिकार तथा मछली मारने पर आधारित अर्थव्यवस्था पाते हैं। जो लोप समुद्री किनारों पर रहते हैं उनका मुख्य आहार मछलियाँ और अंदर के घने जंगल वाले क्षेत्र में रहने वालों का मुख्य आहार वहाँ के पशु-मुष्यतन्त्रा सुजर-हैं। यद्यपि इन जंगलों में और अनेकों प्रकार के पशु मिलते हैं परन्तु सुजर का मांस और चरबी इनका सबसे अधिक प्रिय खाद्य पदार्थ है।

समुद्र तटी के निवासी मछली पकड़ने का काम जाजो की सहायता से बहुत कम करते हैं। वे मछलियों तथा कछुवों के शिकार के लिए धनुष-बाण तथा भालों का प्रयोग बड़ी कुशलता से करते हैं। मछली का शिकार छोटी छोटी डोहियों में बैठकर करते हैं। कछुवों के अण्डे समुद्र के किनारों से सरलतापूर्वक प्राप्त कर लिये जाते हैं जब कि छिछले किनारों से सीप घोंघें तथा केकड़े भी काफी मात्रा में इकट्ठे किये जाते हैं। यद्यपि इस क्षेत्र में पक्षी भी काफी मात्रा में उपलब्ध हैं परन्तु आज लोप इनका शिकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि घने पेड़ों और झाड़ियों में तीर खो जाने पर उनको ढूँढना बड़ा कठिन है और तीर सरलता से उपलब्ध नहीं है। इनके तीरों की नोक कठोर लकड़ी अथवा लोहे की होती है।

वे ग्रहण खाने के बड़े शौकीन होते हैं और जनवरी से मार्च तक ग्रहण एकत्रित करते हैं। बड़ा पर उपलब्ध टोपी नामक पत्ती के रस को जार में मिलाकर शरीर पर चुपट लेते हैं इससे ग्रहण की अविषयता दूर रहती है और काट नहीं पाती है। फिर छत्तों को छेद कर या उतार कर ग्रहण निकाल लिया जाता है। इसके अतिरिक्त वे फलों पौधा की जड़ों तथा शाक भाजी का प्रयोग भी करते हैं। इनके भोजन में एक विशेषता यह है कि वे नमक का प्रयोग भोजन पकाते समय बिल्कुल नहीं करते हैं। एक व्यक्ति औसतन एक दिन में 2 से 7 पाउंड तक सामग्री भोजन के रूप में ग्रहण करता है। जब भोजन अधिक कर लिया जाता है तब वे औ-रिच विन तक बिना खाने भी बने रहते हैं। इनका भोजन पक्की पौष्टिक एवं कवितदायक होता है। खाद्य सामग्री पर पूरे समूह का स्वाभिव्यक्त होता है।

खाद्य-समूहों के शिकारी समूहों में कोबरीन की कठोर मादिकारीयता का विशेष भी इस वर्ग के उपयुक्त जवाहरण के रूप में किया जा सकता है।



कोचीन की दुर्गम पर्वतमालाओं एवं घने जंगली में रहने वाली इस आदिम जाति को हम भारत की एक ऐसी आदिमजाति के रूप में पाते हैं जिनमें किसी भी प्रकार की खेती प्रचलित नहीं है। इस आदिमजाति के नाम कादार का अर्थ ही 'जंगल के निवासी' हैं। सामान्यतया ये जंगलों के जांतरिक क्षेत्रों में 15-20 टट्टर प्रकार की झोपड़ियों का एक समूह बनाकर रहते हैं। एक समूह की सदस्य संख्या 30-40 के लगभग होती है। वे कुछ समय पूर्व तक केवल जंगल से प्राप्त विभिन्न सामग्रियों को एकत्र करने पर ही निर्भर करते थे। इनमें मुख्य रूप से शहद कालीमिश्र भोज्य कन्दमूल, केले आदि सामग्रियाँ सामान्यतया महिलाओं द्वारा ही एकत्रित की जाती हैं। दूसरी ओर छोटे छोटे पशुओं के शिकार और मछली पकड़ने का कार्य केवल पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। वे लमूर बदर का शिकार विशेष पसंद करते हैं। परन्तु जंगली जैसे अथवा रीछ का न तो शिकार ही करते हैं और न उसका मांस खाते हैं। बकरियाँ भुगियाँ तथा अन्य पशुओं को पालने की प्रथा भी इनमें पाई जाती है।

खाद्य संप्रदाय के लिए वे खोदने वाली लकड़ी को प्रमुख उपकरण के रूप में प्रयोग में लाते हैं। इस लकड़ी का एक सिरा नोकीला होता है जिससे विभिन्न सामग्रियाँ खोदने का काम लिया जाता है। इस खोदने वाली लकड़ी को स्थानीय भाषा में कूरम कोल कहते हैं। आजकल एक पहले से अधिक विकसित छड़ी का प्रयोग होने लगा है जिसका नोकीला हिस्सा एक फल (ब्लेड) के रूप में मुख्य लकड़ी से जुड़ा होता है और इसे स्थानीय भाषा में पाराकोल कहते हैं। इसके अनिरिक्त बाँस का धनुष और चाकू इनके शिकार के कार्य के उपयोगी हथियार हैं। शिकार में सहायता के लिए ये कुत्ते भी पालते हैं। बच्चे भी गुलेल वाले धनुष का प्रयोग करते हैं। शहद एकत्रित करने के लिए इन्हें बहुधा ऊँचे ऊँचे पेड़ों या ढालू चट्टानों पर चढ़ना पड़ता है और इस कार्य में कादार लोग विशेषकर प्रवीण होते हैं। वे पहाड़ों की सीधी चट्टानों पर भी कुशलतापूर्वक चढ़ने में समर्थ होते हैं। शहद एकत्र करना इनका अत्यन्त रुचिकर कार्य है।

इनमें निवास के लिए बाँस व पत्तों की सहायता से टट्टर की झोपड़ियों का निर्माण किया जाता है जो कि स्त्रियाँ करती हैं। कभी कभी यह टट्टर पेड़ों पर भी बनाए जाते हैं जहाँ वे जंगली पशुओं एवं वर्षा के बहने वाले पानी तथा कीचड़ आदि से सुरक्षा प्रदान करते हैं। दस्तकारी के नाम पर हम इनमें कोई चीज नहीं पाते हैं परन्तु बास की कधी बनाने में कादार

पुख्त बैसे ही विपुल हैं जैसे कि किसीवीन्स के ऐट्स एवं अमरका के स्थान तथा सितनेही जोंस । वे बांस की कटाई भी बुन लेते हैं । साथ ही साथ हम उनमें बांस के बने प्यालों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के बर्तनों का प्रयोग नहीं पाते हैं । वस्त्रों के नाम पर परम्परागत रूप से वे लम्बी चास तथा पत्ती के बने लहवें (स्कर्ट) स्त्रियों के लिए तथा बास की लंगोटी पुरुषों के लिए प्रयोग में लाते हैं । अग्नि का प्रयोग इनमें पाया जाता है जिसे सामान्यतया बार बार जलाने के बजाय एक बार जलाकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है । इनमें किसी सामग्री के स्वामित्व की भावना का नितात् अभाव पाया जाता है ।

इधर पिछले दो दशकों में इनकी अव्यक्तस्था में काफी परिवर्तन आया है । जब से वे जंगल में ठकेदारों के सम्पर्क में आकर उनके लिए गृह, भेष काली मिच बेंत आदि एकत्रित करने लगे हैं वे अपने परम्परागत जीवन से विमुख होते जा रहे हैं । ठेकेदारों ने उन्हें अतिरिक्त सामग्रियाँ एकत्रित करने के लिए मुफ्त उपहार के रूप में नशीली सामग्रियाँ देना शुरू किया जिसके लालच में वे देर देर तक काय करने लगे और थकान मिटाने के लिए इन नशीले पदार्थों का सेवन करने लगे । इसके साथ ही अब उन्हें अपने भोजन के लिए भी प्राकृतिक सामग्रियों के स्थान पर चावल प्याज आदि का सहारा लेना पड़ा क्योंकि ठेकेदारों का काम करने के बाद अपने भोजन की सामग्री एकत्र करने का भी समय नहीं मिलने लगा । इनके सम्पर्क में आकर वस्त्रों का प्रयोग भी शुरू हुआ परन्तु आर्थिक साधनों के अभाव में केवल एक ही वस्त्र लगातार पहने रहने से त्वचा सम्बन्धी बीमारियाँ भी होने लगी । इस तरह कुल मिलाकर वे अतिरिक्त परिश्रम, नशीले पदार्थों के सेवन अपौष्टिक भोजन आदि के परिणामस्वरूप अपना स्वास्थ्य और शक्ति नष्ट करने की दिशा में बढ़ रहे हैं । बाह्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनैतिक आचरण का आरम्भ हुआ तथा उनमें मद्यमेह और यौन व्याधियों का भी प्रवेश हो गया है ।

इस श्रेणी की अन्य आदिमजातियों का आर्थिक जीवन भी कादार लोगों के समान ही पाया जाता है । यह अतिर अचर्य होता है कि भिन्न भिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल बर्तों पर जलजल खाद्य सामग्री या शिकार के पशु पक्षी मिलते हैं । इनके शिकार या पकड़ने के लिए हम स्थानीय साधनों से बनाए हुए जलजल प्रकार के जाल पिण्ड, फदे आदि भी पाते हैं । इनमें भौतिक संस्कृति के दृष्टिकोण से भी

थोड़ा बहुत अंतर पाया जाता है। मिल्म मिल्म क्षेत्रों में मछली पकड़ने के लिए तीर, बछें, जाल पिंखड़े या विषाक्त सामग्रियों का प्रयोग भी स्थानीय परम्पराओं के अनुकूल अलग अलग पाया जाता है।

मालापट्टम मध्य द्राचकोर पहाड़ियों में निवास करने वाली एक आदिमजाति है जो कि सामान्यतया किसी नदी नाले के किनारे थोड़ी सी तिकोने आकार वाली पत्तों एवं बांसों की झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। वे न तो कृषि के साधनों से परिचित हैं और न इसमें उनकी कोई रुचि है। वे अपने भोजन एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुख्यतया जंगल से प्राप्त फल फूल एवं कदमूल पर निर्भर रहा करते हैं। वे बहुधा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जाते रहते हैं क्योंकि एक स्थान पर अधिक दिनों तक बाय सामग्रियाँ सरलता से नहीं मिलती हैं। शिकार का भी इनमें विशेष प्रचलन नहीं है क्योंकि इनके पास शिकार का कोई हथियार नहीं है। कभी कभी वे लघुर धरगोश गिलहरी आदि जीवों को अपने पालतू कुत्तों की सहायता से पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने घरों के सामने ही खुले में अपने चूल्हे बनाते हैं और इनमें रात को जंगली पशुओं से सुरक्षा के लिए निरंतर आग जलाई रखी जाती है।

पानियान मालाबार के अन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली आदिम जाति है। पानियान तीर कमान की सहायता से कुशलता पूर्वक शिकार करने में समर्थ होते हैं। वे मछली का भी शिकार करते हैं। कभी कभी जहरीली जड़ी बूटियों को पीस कर पानी में मिलाकर मछलियों को बेहोश करके पकड़ा जाता है। इसके साथ साथ वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खेतों में भी काम करते हैं। इनके निवास क्षेत्र में अफीम काफी बाय, काली मिर्च आदि की पदावार की जाने लगी है।

कुरुम्बा मालाबार के जंगलों में रहते हैं और इनकी तीन प्रमुख शाखाएँ हैं। एक जैन कुरुम्बा जो मुख्यतया शहद एकत्र करने पर निर्भर रहते हैं। दूसरे बेट कुरुम्बा जो कृषि को मुख्य आधार मानते हैं और तीसरे मुनू कुरुम्बा जो तीर कमान से शिकार करने का कार्य मुख्य रूप से करते हैं।

आन्ध्र प्रदेश के बेंचू भी कृषि से अनभिज्ञ हैं। वे मुख्यतया जंगल से शहद फल फूल और जड़ें इत्यादि एकत्रित करते हैं और यही उनका मुख्य भोजन है। वे तीर कमान की सहायता से शिकार भी करते हैं और बांस का प्रयोग भोजन में करते हैं। कुत्ता उनका पालतू जानवर है। इसके अतिरिक्त बकरी तथा मुर्गी पालने की प्रथा भी इनमें पाई जाती है जो कि इनके भोजन

का भी एक अंग है। बहुआ का कूल खाने के काम में लाते हैं तथा इसकी शराब भी पीते हैं।

छोटा नागपुर बिहार के बिरहोर भी घुमक्कड़ हैं। यह लोग रस्सियों के बनाये हुए जाली तथा फंदों की सहायता से बदर पकड़ने में विशेष प्रवीण होते हैं। बदर पकड़ना इनका मुख्य कार्य है। यह लोग जंगल से घास इकट्ठी करके उसकी रस्सी डलियाँ आदि बना कर बेचते हैं और इसी से अपनी जीविका चलाते हैं। इनमें मुर्गी, कबूतर बकरी आदि की बलि देने तथा भास खाने का विशेष प्रचलन पाया जाता है।

इस प्रकार इन तमाम आदिमजातियों के अध्ययन से साफ़ स्पष्ट है कि शिकारी श्रेणी की आदिमजातियों की मुख्य विशेषताओं में हम सबसे पहले उपकरणों एवं साधनों का नितांत अभाव पाते हैं। अधिकांश में यह लोग अपनी शारीरिक क्षमता तथा कुशलता के सहारे ही अपना जीवन यापन करते हैं। इनकी अर्थ व्यवस्था में तकनीकी ज्ञान का नितांत अभाव होता है जो कि औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक स्तर पर अत्यंत स्वाभाविक सा है। वे किसी सामग्री की आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने का भी प्रयत्न नहीं करते क्योंकि अतिरिक्त वस्तुओं को सुरक्षित रखने का ज्ञान एवं साधनों का अभाव और घुमक्कड़ तथा अस्थाई निवास की परिस्थितियों में इसकी उपयोगिता भी नहीं है। साथ ही साथ अतिरिक्त सामग्री एकत्र करने या प्राप्त करने के लिए विकसित तथा जटिल साधनों की आवश्यकता होती है जिसका हमने प्रश्न ही नहीं उठाता है। इनका घुमक्कड़ होना भी इसी मजबूरी का परिणाम है क्योंकि एक स्थान पर रहते हुए जीवन यापन की प्राकृतिक सामग्रियाँ अधिक समय तक साथ नहीं दे पाती हैं। वे जिन एवं निर्जन जंगलों तक ही सीमित रहना पसन्द करते हैं क्योंकि वहाँ अन्य लोगों द्वारा उनके प्राकृतिक साधनों के उपभोग का भय नहीं रहता है। इनमें निवास स्थलों का भी अस्थाई प्रबन्ध मिलता है क्योंकि एक स्थान पर थोड़े दिनों ही रहना होता है तथा तकनीकी ज्ञान की कमी भी इसका एक कारण है। निरंतर भ्रमण शीलता के परिणामस्वरूप इनमें भौतिक संस्कृति का भी विकास नहीं हो पाता है और इसी कारण आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति के अवसर नहीं मिलते हैं। वे निरंतर खाद्य सामग्री जुटाने में ही लगे रहते हैं और जीवन का अधिकांश समय इसी में लगे रहने के कारण अन्य किसी क्षेत्र में विकास का अवसर ही नहीं आ पाता है।

## पशुपालक

इस श्रेणी के अंतर्गत उन आदिमजातियों को रखा जाता है जो पशुपालन का कार्य करते हुए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। मनुष्य ने प्रकृति पर निर्भर रहने की दशा में यह अनुभव किया कि कुछ पशु ऐसे भी हैं जो निरंतर जीवन के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में सहायक होते हैं। शिकार करने वाली आदिमजातियों में कुत्ते को बहुधा साथी और सहायक के रूप में पाला जाता है। इसके अतिरिक्त मुर्गी बत्तख बकरी सुअर भेड़, गाय भैंस आदि अन्य ऐसे जीव हैं जो घर में पाले जाने पर यदा कदा भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा अन्य कामों की पूर्ति के लिए भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। इन्हीं जीवों को जब अधिक संख्या में पालकर उनसे आर्थिक लाभ व्यापारिक स्तर पर प्राप्त किया जाता है अथवा उनको जीवन धामन का साधन बना लिया जाता है तब इसे हम पशुपालन की अर्थव्यवस्था कहते हैं। इस अवस्था को अपनाए के पीछे जीवन को चुमक्कड़ी के साथ साथ थोड़ा स्थायित्व प्रदान करने की भी भावना मिलती है क्योंकि इस अवस्था के अंतर्गत आने वाले लोग केवल मौसमों के परिवर्तन पर ही निश्चित स्थानों को आते जाते हैं और इनका काय क्षेत्र इस प्रकार लगभग स्थायी सा रहता है।

भारतीय आदिमजातियों में दक्षिण भारत में नीलगिरी पहाड़ी के टोडा तथा उत्तर भारत में हिमाचल प्रदेश के चम्बा क्षेत्र की पहाड़ियों के गुज्जर प्रमुख पशुपालक हैं। यो उत्तर प्रदेश के भोटिया भी आंशिक रूप से पशुपालकों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। जैसे हम तमाम अथ समूहों में भी अलग अलग पालतू पशु पाते हैं परन्तु वे उन आदिमजातियों के मुख्य आर्थिक आधार का निर्माण नहीं करते हैं।

टोडा भारत के ही नहीं बरन विश्व के प्रमुख पशु पालकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दक्षिण भारत की नीलगिरी पहाड़ियों में लगभग 6000 से 7000 फुट की ऊँचाई पर फैले हुए 500 वर्गमील के पहाड़ी क्षेत्र में इन लोगों का मुख्य निवास है। यहाँ की जलवायु इनके पशुओं के लिए उपयोगी घास और चरागाहों के लिए बहुत उपयुक्त है जो प्राकृतिक रूप से भी इनके व्यवसाय को फलने फूलने की पूरी सुविधा यहाँ मिलती है। इस पठारी क्षेत्र के चारों ओर ढलवा घने जंगली क्षेत्र हैं जहाँ रहने वाली बठागा तथा कोटा आदिमजातियाँ इनको अन्य वस्त्र, उपकरण आदि प्रदान कर बदले में इनका घी, दूध ले लेती हैं।

टोडा विष्णु रूप से पशुपालक हैं तथा इनमें सहायक वर्णमन्त्र के रूप से कभी कोई अन्य दस्तकारी या कवि आदि का आधार नहीं मिलता है। वे भैंस पालते हैं जो साधारणतया अच्छी नस्ल वाली और दूध दूध देने वाली होती हैं। इनकी सेवा भी वे विशेष रूप से करते हैं, क्योंकि सारे समय उनका यही एक कार्य होता है। भैंसों को पालने और उनकी देखभाल तथा दूध भी निकालने और बताने की सभी क्रियाओं में केवल पुरुष वर्ग के सदस्य ही हिस्सा लेते हैं। स्त्रियों को धार्मिक एवं पारम्परिक मान्यताओं के अन्तर्गत अशुद्ध मानकर इस सारे आर्थिक कार्यक्रम से अलग रखा जाता है। पशुओं को चराने का काम अच्छे करते हैं जो दिन भर इनको अपने निश्चित चरागाहों में चराते हैं तथा रात को निश्चित स्थान में बन्द कर देते हैं। इन स्थानों को अलग अलग मौसम और चराई की सुविधा के दृष्टिकोण से तथा कभी-कभी धार्मिक प्रभाव के कारण भी बदल लेते हैं। इन भैंसों को दो समूहों में बाँटा जाता है एक तो साधारण एवं सामान्य पवित्र भैंस जो कि विभिन्न परिवारों की सम्पत्ति होती हैं तथा जिनकी देखभाल का काम उस परिवार के सदस्यों तक ही सीमित होता है और दूसरी सर्वाधिक पवित्र भैंसे जो स्थानीय भाषा में 'टाई समूह' के नाम से जानी जाती हैं और यह पूरे गाँव की सम्पत्ति होती हैं। सामान्य पवित्र भैंसें जो परिवार की सम्पत्ति में आती हैं शेष साधारण भैंसों से अलग रखी जाती हैं। सभी प्रकार की भैंसों के रहने का प्रबंध एक निश्चित अलग घर में होता है और उसी के पास मालिक का मकान या पवित्र डेरी का भवन होता है। साधारण भैंसों और सामान्य पवित्र भैंसों के अलग अलग समूहों की देखभाल अनेक विधिविधानों के अन्तर्गत की जाती है। सर्वाधिक पवित्र भैंसों के लिए गाँव से थोड़ा हटकर पवित्र डेरी भवन का निर्माण होता है। इन पवित्र डेरियों का कार्य संचालन करने वाला व्यक्ति विशेष सत्कारों का पालन करने पर चुना जाता है और उसे स्थानीय भाषा में 'पलोल' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन डेरियों को मंदिर की भाँति और पलोल को पुजारी की भाँति पवित्र माना जाता है। इन पवित्र डेरियों से दूध निकालने जमाने मचने, घी निकालने गरम करने आदि के तमाम काम निश्चित तरीकों से किए जाते हैं। इनके प्रत्येक कार्य का अलग विधि-विधान होता है तथा मन्त्रोच्चारण के साथ प्रत्येक कार्य किया जाता है। निश्चित बर्तनों में दूध दुहने व जमाने का काम होता है। उन बर्तनों आदि को रखने का स्थान, दिशा, संख्या सभी निर्धारित रहती है। इसी प्रकार की धर्मान्विता के परिणामस्वरूप रिजर्स महोदय के विचार से

टोडा आदिमजाति का वास्तविक रूप संश्लेष होता जा रहा है।

सामान्य डेरियों में भी दूध निकालने जमाने आदि का कार्य पुरुषों द्वारा ही किया जाता है जो दिन में दो बार प्रातः सूर्योदय के साथ तथा सायं चौथे पहर के समय होता है। इस दूध को दही, घी, घेंसखन आदि रूपों में बेचा जाता है और सारा व्यापार विनिमय बड़ागा तथा कोटा आदिमजातियों के माध्यम से ही होता है। ये गायें भी पालते हैं जिनके अच्छे बछड़ी को मस्ल बढ़ाने के लिए रख लेते हैं तथा शेष को बलि देकर या ऐसे ही कोटा लोगों को दे दिया जाता है जो बदले में टोडा लोगों को मिटटी तथा धातु के बर्तन वाद्य यंत्र तथा अन्य सामग्रिया देते हैं। बड़ागा कृषक हैं जो टोडा लोगों की कुछ अनाज तो कर रूप में और कुछ विनिमय में प्रदान करते हैं।

भौतिक संस्कृति के नाम पर इनमें अधिकांशतया डेरियों से सम्बंधित सामग्री ही होती है। दूध दही रखने के बांस मिटटी धातु आदि के बर्तन तथा घटियां दीपक चाकू आदि ही इनमें मुख्य हैं। यो झांडू, चलनी कुल्हाड़ी आदि भी घरों में मिलती है। काटो से सुई का काम लेते हैं तथा पत्तों के गिलास कटोरे आदि बनाकर अपना काम चला लेते हैं। युद्ध या शिकार के लिए कोई हथियार नहीं है क्योंकि इनकी कभी आवश्यकता नहीं पड़ती है। गायन वादन के रूप में बासुरी का कभी कभी प्रयोग होता है। नाच केवल श्रवयात्रा के समय और अत्यंत प्रारम्भिक कोटि का होता है। स्त्रियों और पुरुषों दोनों में गहनो का प्रयोग अवश्य पाया जाता है। इनके मकान छोटे और अच्छे प्रकार के होते हैं जो लम्बाई में बीच से कटे हुए डम के आकार के होते हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में आरस के नाम से जानते हैं।

भोजन में दूध व दुग्ध सामग्रियों का बाहुल्य होता है। साथ ही साथ शाक भाजी जंगली बेर फल तथा बास की कोपलों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इनमें अनाज के नाम पर चावल तथा ज़ुनरी का प्रयोग होता है। मटठा पर्याप्त मात्रा में पेय पदार्थ के रूप में प्रयोग किया जाता है। वर्ष में एक बार उत्सव के अवसर पर बलिदान की हुई भैंस का मांस और बों कभी कभी केवल सांभर हिरन का मांस खाया जाता है। पुरुष ही भोजन पकाते हैं और स्त्रियों से पहले खा लेते हैं।

सम्पत्ति व्यक्तिगत पारिवारिक तथा गोत्र की होती है। वस्त्र, गहने एवं व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति में आती हैं। साधारण एवं सामान्य पवित्र भैंसों, भकान आदि परिवार की सम्पत्ति है। सर्वाधिक पवित्र भैंसों, पवित्र डेरी चरागाह बड़े बड़े गांव आदि पूरे गोत्र की सम्पत्ति

हैं। सम्पत्ति का हस्तांतरण मित्रों से पुत्र को होता है। यह केवल सामाजिक सम्बन्धों द्वारा पुत्रों से बराबर बाँटी जाती है। वस्तु सबसे छोटे तथा सबसे बड़े लड़के को दोनों का बंटवारा करते समय एक अतिरिक्त पशु मिलता है। इस प्रकार बाँटने के बाद बचे हुए पशुओं को बेचकर प्राप्त धन या सामग्री बराबर बाँट ली जाती है अथवा कोई एक भाई अन्य भाईयो को उनके हिस्से का धन या सामग्री देकर पशुओं की स्वयं रक लेता है। लड़कियों को दहेज के अतिरिक्त सम्पत्ति से कोई हिस्सा नहीं मिलता है। मृत पुत्र की सतानी को उसका हिस्सा बाँट दिया जाता है। पिता का कर्म भी पुत्र निभाते हैं और पुत्र न होने पर भाई निभवाते हैं।

प्रत्येक परिवार तथा गोत्र का एक मुखिया होता है। परिवार का मुखिया गोत्र के लिए धन प्रदान करने के लिए उत्तरदायी होता है। टोबा समूह के मुखिया का कार्य 'नईम' नामक एक परिषद करती है जिसमें पांच सदस्य होते हैं, जिनमें आदिमजाति के बड़े अर्थात् टारथर से तीन तथा छोटे अर्थात् तेवाली से एक और एक बड़ा आदिमजाति का सदस्य होता है। इसकी सदस्यता कुछ गोत्रों के विशिष्ट परिवारों को प्राप्त होती है। यह परिषद दीवानी मामलों के लिए 'यायालय' का काम करती है। कौजदारी के मामले होते ही नहीं हैं।

हिमाचल प्रदेश के चम्बा क्षेत्र के गुज्जर भी केवल पशुपालन पर ही आधारित हैं। इनका मुख्य व्यवसाय गाय भैंस पालना तथा इनका दूध भी बेचकर जीवन निर्वाह करना है। यह अधिकांशतया खानाबदोशी का जीवन व्यतीत करते हैं, यद्यपि यह एक सीमित क्षेत्र में ही है। गर्मियां शुरू होने पर यह अपने पशुओं, परिवार तथा घर का सामान साथ लेकर ऊँचे पहाड़ी क्षेत्तों तथा जंगलों में चले जाते हैं जहाँ जानवरों को चराने के लिए बास अच्छी और प्रचुर मात्रा में मिलती है। इस दौरान यह जम्बी दूरी तक और कभी कभी 10000 फुट की ऊँचाई वाले क्षेत्रों तक चले जाते हैं। पुनः सर्दियाँ शुरू होने पर नीचे के मैदानी इलाकों में वापस आ जाते हैं। इन्हें पशुओं को जंगल में चराने के लिए कवविधान से निश्चित कर देकर भूमि का परमिट लेना पड़ता है। समय के साथ साथ इनके पशुओं में वृद्धि और जंगलों की कमी का प्रभाव इन पर भी पड़ रहा है। इनको अपनी परम्परागत चरागाहें ही सुविधाजनक रहती हैं क्योंकि वहाँ पर पुराने बने अस्बाई नकान रहने के लिए होती हैं तथा क्षेत्रीय भूमि का भी ज्ञान रहता है। अब ऐसी चरागाहें मिलने में भी असुविधा होने लगी है क्योंकि आवश्यकता से



चरागाहों की संख्या कम पड़ रही है। लगभग प्राकृतिक विपदाओं के रहते हुए यह जो कुछ दूध और अन्य सामग्री तैयार करते हैं उसका अधिकांश महाजनो एवं ऋणदाताओं के पास पहुँच जाता है। अनपढ़ और सरल स्वभाव के कारण इनका आर्थिक शोषण हर ओर से होता है।

उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड डिवीजन के कमोली जिले की पहाड़ियों में भोटिया आदिमजाति पाई जाती है। इनके गाँव समुद्रतल से 9000 से 12000 फुट की ऊँचाई पर स्थित हैं और वहाँ ये पशुपालन को भी एक आर्थिक आधार के रूप में स्वीकार करते हैं। यों यह खेती और व्यापार का कार्य करते हैं। इनका मुख्य कार्य गिछले दशक तक तिब्बत से व्यापार करना था जो कि 1962 के चीन से हुए युद्ध के बाद बंद हो गया है। इनके पशुओं में भेड़ और बकरियाँ प्रमुख हैं जिनको वे ऊँन प्राप्त करने दूध और मांस प्राप्त करने तथा बोझा ढोने के काम में लाते हैं। यह पशु छोटे आकार के होते हैं। पशुपालन एवं खेती के अतिरिक्त यह शहद भी इकट्ठा करते हैं। शहद के छत्तो से प्राप्त मांस भी इनका आर्थिक दृष्टि से लाभ देता है।

### अस्थायी कृषक

भारतवर्ष की लगभग तीन करोड़ आदिमजातीय जनसंख्या का नब्बे प्रतिशत कृषि पर निर्भर करता है। कृषि के तरीके भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अलग अलग मिलते हैं। भारतीय आदिमजातियों में कृषि के दो रूप अलग किये जा सकते हैं। एक तो पुरातन परम्परागत तरीका जिसमें जंगलों झाड़ियों को काट कर जलाकर बिना कृषि उपकरणों की सहायता से खेती की जाती है और दूसरा कृषि उपकरणों की सहायता से स्थायी तौर पर की जाने वाली खेती।

इस अस्थायी या पुरातन परम्परागत खेती का प्रचार हम लगभग सारे भारतवर्ष में पाते हैं। जब मनुष्य ने घुमक्कड़ी शिकार खाद्य-समृद्ध आदि का जीवन व्यतीत करने के बाद घर के पास थोड़ा बहुत पौधे शाक सब्जी, फल आदि उगाना सीखा तो धीरे धीरे उसका ध्यान अब उत्पादन और स्थायी निवास की ओर भी आया होगा। इसी परम्परा में उसने अन्न उपजाने के लिए अपने आस पास के वातावरण को बदलने का प्रयत्न किया और यही से जंगलों को काटकर खेती के लायक साफ मैदान बनाने की प्रथा शुरू हुई होगी। चूँकि पहले मानव अधिकांशतः जंगल से प्राप्त फल सब्जी, शिकार आदि पर निर्भर करता था अतः जंगलों में ही उसका निवास था। इन

जंगलों को बिना काटे खेती करना सम्भव नहीं था अतः जंगल काटे गए। पुनः उसको अब तक खेती के कोई तरीके तो आते नहीं थे केवल बार के बास पास छाए गए फलों आदि के बीजों से उगते हुए पेड़ और तरकारियों की बेलें आदि देखीं थीं अतः उन्होंने इन काटे गए पेड़ों को जलाकर पथरीली भूमि को राख वाली मिट्टी की सतह से ढँक कर उसमें बीज बिखेर कर खेती शुरू की और धीरे-धीरे यही उसका मुख्य आर्थिक आधार बन गया।

अस्थायी खेती को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। असम में इसे शूम या जूम के नाम से उड़ीसा में रामा दाह या दाही पोडु कामाना या कोमन गुडिया या डोंगरचस नामों से मध्यप्रदेश में बेदुर पेंडा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार की खेती असम नेफा त्रिपुरा मनीपुर क्षेत्र की लोहटा एब अगामी नागाओं खासी और कुकी में बगाल के मलपहाड़िया में बिहार के असुर में उड़ीसा के साबोरा व जुआग में उत्तर प्रदेश के कोरवा में, मध्यप्रदेश के बैगा व गोड में विशेष रूप से प्रचलित है।

अस्थायी कृषि के अन्तर्गत खेत तो एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलते रहते हैं परन्तु खेती करने वाले एक ही स्थान पर गाँव बसा कर स्थायी रूप से रहते हैं और इस प्रकार स्थायी निवास की परम्परा यहाँ से पुष्ट होना शुरू होती है। इस तरीके के अन्तर्गत आने वाली आदिमजातियों के सदस्य अपने गाँव के जंगल वाले क्षेत्र में एक टुकड़ा खेती के लिए चुनते हैं। अपने धर्म के पुरोहित या ज्योतिषी से पूछकर वार्षिक विधि विधान के साथ उस टुकड़े के सभी पेड़ काट लिए जाते हैं। यह कार्य वर्षा से काफी पहले कर लेते हैं ताकि पेड़ सूख सकें और वर्षा के पहले ही उनको जलाकर राख की सतह तैयार की जा सके। पेड़ों को कभी तो जड़ से काट देते हैं और कभी शाखाओं को काट कर पेड़ के तने के चारों ओर डेर कर देते हैं। सूख जाने पर इसको आग लगा कर जला दिया जाता है और ठंडे होने पर राख को सारे खेत में छितरा देते हैं। कहीं-कहीं किसी खोदने वाली लकड़ी या कुदाल से भूमि खोदकर या यो ही छितरा कर बीज बो दिये जाते हैं जो वर्षा के साथ साथ उगते और बढ़े होते हैं। जब इस प्रकार फसल तैयार हो जाती है तो काट ली जाती है। इस बीच में पक्षियों और जंगली पशुओं से इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध रखा जाता है। इस प्रकार के खेत में उत्तर तथा उत्तर पूर्वी सीमांत क्षेत्रों में एक या दो फसलें तथा उड़ीसा व मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में तीन फसलें तक उगाई जाती हैं। फिर उस खेत को कई वर्षों के लिए

छोड़ दिया जाता है ताकि वहाँ फिर वेड उन बकों और तन उन्हें काट कर कुबारा होती की जा सके ।

इस पद्धति की अपनाने वाला प्राकृतिक रूप से सम्भव हुआ वही उन इसके अपनाए जाने के लिए कुछ कार्मिक स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किये जाते हैं । जहाँ एक ओर मनु ने ब्राह्मणों के लिए हल चलाना वर्जित किया है वहीं पर आदिमजातियों में मध्यप्रदेश के बैरागों की ऐसा ही निषेध पाया जाता है । उनमें प्रचलित विश्वास के अनुसार उनके पूर्वज 'बैरागों' को भगवान ने हल चलाने से भना कर दिया था क्योंकि इससे अरली श्रमता का हृदय विदीप्त होता है । दूसरी ओर आदिमजातियों में कृषि के अलग-एक समूहों की भी नितान्त कमी है । साथ ही साथ उनके पास ऐसी जमीनें भी बहुत कम हैं जिन पर स्थायी रूप से होती की जा सके । इसके अतिरिक्त उनके परम्परागत जीवन में स्थायी होती के लिए आवश्यक पुरुषाण एवं समय की भी कमी है । उनकी सांस्कृतिक गतिविधियाँ ही पर्याप्त समय में होती हैं । कहीं-कहीं पहाड़ी ढालों को समतल या सीढ़ीदार होने में बदलना उनके लिए सम्भव नहीं है और मजबूरी में यही पद्धति अपनायी पड़ती है ।

इस पद्धति के अन्तर्गत जो उपज प्राप्त होती है वह भी सब जगहों में अलग-अलग है । साथ ही साथ कुछ उपजें केवल व्यापार के लिए उगाई जाती हैं जबकि कुछ केवल अपने उपयोग के लिए । हम नागालैंड तथा असम में उत्पन्न रुई को बेचने वाली फसल तथा वहीं पर उत्पन्न ज्वार तरकारियों आदि को अपने उपयोग में लाने वाली फसल के रूप में पाते हैं । जो हम तरकारियाँ भी स्थानीय बाजार में बिकते हुए पाते हैं जो कि उनकी स्थानीय उपज है । उड़ीसा के जुआंग लोग बेचने के लिए पहली बार तिल की फसल उगाते हैं । दूसरे और तीसरे बार म धान तथा मोटे अनाज की फसल ली जाती है जो स्वयं उसके उपयोग में आती है । बिहार के पालासगंज जिले के पश्चिमी भाग की पहाड़ियों और पठार में 'शाम अरहर' नामक दाल उगाई जाती है जो कि तुरत भास पास के निवासियों द्वारा खरीद ली जाती है । इस प्रकार बेची हुई रुई तरकारी दाल तिलहन आदि के बदले में प्राप्त होने से यह लोग कपड़ा लोहा लकड़ों समक चाय शकर आदि दैनिक उपयोग की वस्तुएँ खरीदते हैं ।

इस पद्धति की होती से जो लाभ होती है वह बहुधा अनपेक्षित ही नहीं है और इसीलिए हम इन आदिमजातियों में सहायक आर्थिक आधारों समेत लोकर, मजदूरी, वस्तुआदी आदि की उपस्थिति भी पाते हैं । उड़ीसा के

जबकि पहाड़ी ढालों पर पेड़ काट कर एक फसल के क्षेत्रों के बावजूद इसमें ऊपर की ओर मेड़ बांध कर पूरे ढाल को बंदि बंध बहुत ढालू न हुआ सीढ़ीदार क्षेत्रों में बदलकर बास पास के नालों या झरनों के पानी को यहाँ तक लाकर धान की फसल लेने के योग्य बना लेते हैं। मित्रों लोगो ने इसी विज्ञानियों के सम्पर्क में आकर जहाँ अपनी शिक्षा और ज्ञान में वृद्धि की है वहीं पर कृषि-साधन इन पहाड़ी ढालों पर सतरे के बचीये लगाना सीखकर लाभ उठाना भी शुरू कर दिया है। इस प्रकार अतिरिक्त साधन जुटाने के उदाहरण हमें अनेक क्षेत्रों में मिलते हैं। भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण द्वारा पिछले दशक के आरम्भ में (1961-63) किए गए एक अध्ययन के अन्तर्गत मित्रो पहाड़ियों में सैरेप नामक स्थान के निवासी सड़क बनाने वाले मजदूर का कार्य करके अपना काम चलाते थे। बस्तर के गोड लोग बास पास के बाजारों और बड़े शहरों से इतने दूर और सम्पर्कविहीन हैं कि वे स्वयं अपने प्रयत्नों से जंगल से प्राप्ति सामग्री पर ही निर्भर करते हैं। उड़ीसा के केउनसार जिले के जुआंग जंगली आम और आमूल खाने के साथ-साथ इनकी गुठली के गूदे को भी सुखाकर कूट पीस कर खाने के काम में लाते हैं। कभी-कभी जंगल में प्राप्त अहद लकड़ी फल आदि को बाजारों में बेच कर अपनी आय बढ़ि करते हैं। तेन्दु पत्ती बीड़ी के व्यापारियों द्वारा अच्छे मूल्य में खरीद ली जाती है। कभी-कभी वे स्थायी खेती करने वाल दूसरी जाति के पड़ोसियों के क्षेत्रों में मजदूरी का काम करने लगते हैं। कभी कुछ और ऊचाई पर स्थित ढालों तथा गानों में जाकर नए गाँव ब क्षेत्र बसा लेते हैं। कुछ लोग स्थायी खेती करने को भी तैयार होते हैं परन्तु उसके लिए प्रारम्भिक साधन जुटाना भी उनके लिए एक समस्या बन जाती है।

अर्थात् कृषि से अनेकों हानिया भी हैं। इसमें तमाम कीमती लकड़ी जलकर बर्बाद हो जाती है। वर्षा होने पर ऊपर की मिट्टी कट कर नीचे जाने लगती है तथा नदियों में बाढ़ का प्रकोप शुरू हो जाता है। जंगलों के कम होने से वर्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। सारे पश्चिम और सत्रय को खगने के बाव भी इससे प्राप्त फसल बहुत कम रहती है। इन्हीं सब हानियों को देखते हुए जहाँ कई स्थानों पर सरकारी नियंत्रण द्वारा इसको रोक गया है वहीं पर अनेक आदिमजातियाँ अब इस पद्धति को केवल परम्परागत होने के कारण सह्यमक आर्थिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हुए नए आर्थिक साधनों से इसको बदलने का प्रयत्न कर रही हैं। दूसरी ओर बैरिवर एस्किन जैसे विद्वानों का मत है कि अर्थात् खेती आदिमजातीय जीवन एवं संस्कृति

का एक अभिन्न अंग है और इसको एकाएक समाप्त कर देना न तो सम्भव ही है और न उचित ही है।

### कृषक

इस अर्थव्यवस्था के अंतर्गत वे आदिमजातीय सदस्य आते हैं जिनके पास अपनी जमीन है और जिन्होंने उपकरणों एवं पशुओं की सहायता से एक ही खेत को स्थायी रूप से जोतना सीख लिया है। यह व्यवस्था अस्थायी खेती के साथ-साथ उत्पन्न समस्याओं के निदान रूप में भी अपनायी गयी तथा दूसरी ओर पड़ोसी कृषकों की काय प्रणाली ने भी इस व्यवस्था को अपनाने की प्रेरणा दी होगी। जब आरम्भ में आदिमजातियाँ अस्थायी कृषि के स्तर को अपनाने लगीं तब मनुष्यों की जनसंख्या के अनुपात में उनके पास उपलब्ध जंगलों का क्षेत्र बहुत विस्तृत था और जो भी थोड़ा बहुत अनाज पड़ा होता था तत्कालीन जनसंख्या के लिए पर्याप्त था। परंतु जैसे-जैसे आबादी बढ़ती गई जंगल का क्षेत्र कम होने लगा और स्थायी रूप में खेती करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। इन लोगों ने अन्य अस्थायी साधनों के साथ-साथ बड़ कृषकों के यहाँ खेतिहर मजदूर का कार्य करना शुरू किया और जब इनको यह पद्धति उपयोगी प्रतीत हुई यह स्वयं भी उसे अपनाने के लिए प्रेरित हुए। अनेकों ऐसी आदिमजातियाँ जो मैदानी इलाकों में या उनके पास थीं इस व्यवस्था को सरलता से स्वीकार कर सकीं और आज यही उनकी सबसे विस्तृत अर्थव्यवस्था है।

मिजो असम की बर्मा में सम्बद्ध सीमा की पहाड़ियों में निवास करते हैं। इनमें स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही कृषि के कार्य में समान उत्साह एवं लगन से काम करते हैं। चावल इनका मुख्य खाद्य पदार्थ है जिसे वे निचले मैदानों तथा दलदल व कीचड़ वाली भूमि में उगाते हैं। इसके साथ-साथ पहाड़ी ऊँचाईयों पर स्थित मैदानों में भी खेती करते हैं। सिंचाई के लिए वे स्वयं बड़ी युक्ति एवं परिश्रम से पहाड़ी झरनों एवं जलाशयों से नहरें काट कर निकालते हैं। इनको खाद के प्रयोग का भी अच्छा ज्ञान है और गाय के गोबर की खाद सामान्य रूप से प्रयोग में लाई जाती है। चावल के साथ-साथ ये आलू, अदरक, रुई, गन्ना, अनन्नास आदि भी उगाते हैं। अदरक काफी मात्रा में उगाई जाती है और स्थानीय बाजारों में इसकी अच्छी बिक्री भी होती है। इस प्रकार यह उनके लिए नकद उपज का काम करती है।

अरुणाचल प्रदेश की आपातानी घाटी के निवासी जो स्वयं इसी नाम से

सम्बोधित किये जाते हैं। स्वामी कृषि जन्यव्यवस्था के मादरी उदाहरण १५  
 यहा कृषि इनकी मुख्य जन्यव्यवस्था है। मद्यपि वे कृषि के आधुनिक उप-  
 करणी या सज्जनों से अपरिचित हैं फिर भी वे कम से कम भूमि से अधिक से  
 अधिक उपज प्राप्त करते हैं। इस बाटी के प्रत्येक हिस्से को यहां के निवासियों  
 ने सीढ़ीदार खेतों के रूप में विकसित कर रखा है। इन खेतों की सिचाई के  
 लिए ऊपर के जंगल से आने वाले प्रत्येक झरने, नाले आदि को इस प्रकार  
 बांध बना कर या रोक लगा कर नियंत्रित किया जाता है कि प्रत्येक खेत को  
 आवश्यकतानुसार बराबर पानी मिल सके और यदि पानी अधिक हो तो उसे  
 निकाला जा सके। पुन उन्होंने यह सारा काय केवल शारीरिक श्रम के  
 आधार पर कर रखा है और प्रतिवर्ष फसल काटने के बाद वे पुन सभी खेतों  
 बाघों नालों आदि की मरम्मत करते रहते हैं ताकि खेतों के काम में कोई  
 रुकावट न पडने पावे। यदि कही पानी आदि की समस्या होती है तो एक  
 बड़े खेत को नई सीढ़ी बनाकर दो में या दो सीढ़ियों को बराबर करके एक में  
 भी बचल देते हैं। इनकी मुख्य फसल चावल की होती है। चावल के पीछे  
 पहले छोटे छोटे नर्सरी प्रकार के खेतों में उगाए जाते हैं पुन तैयार किये गये  
 बड़-बड़े खेतों में इनको नए सिरे से रोपा जाता है। यह दो प्रकार के चावल—  
 एक जल्दी पकने वाले प्लेट प्लेट तथा प्लेपिंग नामक जाति के और दूसरे देर  
 में पकने वाले इमो जाति के उगाते हैं। जिन खेतों में पानी बराबर भरा  
 रहता है वहा पीछ रोपने से पकने तक दो या तीन बार और कम सिचाई  
 वाले खेतों में पांच बार तक निराई का काम किया जाता है। यह बड़े  
 परिश्रम से सारा काय करते हुए फसल को अधिक से अधिक अच्छी परि-  
 स्थितियां प्रदान करते हैं। जंगल के किनारे के खेतों को लकड़ी के ऊंचे डंडों  
 की बाड़ से सुरक्षित सीमा प्रदान की जाती है ताकि आस पास चरते हुए पशु  
 भी खेतों का नुकसान न कर। फसल पक जाने पर काट ली जाती है और  
 जहा अच्छी उपज होती है वहा का चावल बीज के लिए सुरक्षित रखा जाता  
 है। वे हर बच अच्छे में अच्छे बीज तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। फसल  
 काटने के बाद खेत की उबरा शक्ति को बनाए रखने के लिए वे घर का कूड़ा,  
 गोबर, सुजर एवं मृगियों का मल खेत के बीच में एकत्रित करते रहते हैं और  
 अबली बार बुवाई करने के पहले उसको जला कर सारे खेत में छिन्नरा देते  
 हैं और तब खेत की जुताई करते हैं। खेत सोहे के फल वाले फावड़े या हल  
 आदि से जोड़ा जाता है और लकड़ी के टुकड़ों से भिंटी को बराबर किया  
 जाता है। वे चावल के अवशेषों का और जुनरी भी उगाते हैं। घर के

पास की जमीनो में सम्बाकु, बाबू, टाटा, निरु, सेन, कर्कर, तरोई, लोखी, अचरक आदि भी उगाते हैं।

स्थायी रूप से एक ही जगह खेती करने वाली आदिमजातियाँ वर्तमान काल में भारतीय आदिमजातीय सभ्यता का सबसे बड़ा भाग है। इस व्यवस्था को अपनाते वालों में असम की अधिकांश आदिमजातियाँ बिहार-बंगाल के सत्याल, ओराब तथा हो उत्तर प्रदेश के बाकू तथा कोरवा मध्य प्रदेश के मोड़ भील व भिलावा राजस्थान के भील, उड़ीसा तथा तमिलनाडु के सजवोरा, नीलगिरि (तमिलनाडु) के बडागा आदि प्रमुख हैं। इनमें से अनेक में हम पहले अस्थायी खेती को प्रमुख रूप से पाते थे परन्तु अब वे स्थायी खेती को काफी हद तक अपना चुके हैं। इस प्रकार सारे भारतवर्ष की आदिम जातियाँ इस व्यवस्था को अपना रही हैं।

इस व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक परिवार के पास अपनी अलग जमीन होती है। इस जमीन को वर्षा के पहले पशुओं की सहायता से हल द्वारा जोत कर मिटटी को मुलायम बनाया जाता है फिर वर्षा के साथ-साथ बुवाई की जाती है, पौध उगने के साथ-साथ निराई तथा पशु पक्षियों से सुरक्षा का प्रबंध किया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर सिंचाई भी की जाती है। पक कर तैयार हो जाने पर फसल काट ली जाती है। चूँकि आज भी इन लोगों के पास खेती के तरीकों के आधुनिक ज्ञान की नितान्त कमी है अतः अभी भी इसने पर्याप्त सुधार तथा उन्नति की अपेक्षा है।

बंगाल बिहार की हो ओराब मुंडा सत्याल आदि आदिमजातियाँ कृषि के काम में काफी निपुण और विकसित हैं। सद्यालों में जमीन दो प्रकार की होती है। एक तो अधिक उपजाऊ जमीन जो अपेक्षाकृत ऊँची भी है और दूसरी ऊँसर या कम उपजाऊ जमीन। पहली को स्थानीय भाषा में 'बाडी' तथा दूसरी को 'हांड' के नाम से सम्बोधित करते हैं। अच्छी जमीन में मकई बाजरा, सरसो तथा अरहर आदि मुख्य फसलें हैं जबकि ऊँसर जमीन में क्वेदो, सहुआ आदि छोटे अनाज होते हैं। चूँकि यहाँ जमीन को ब्रेचवे पर पर्याप्त कानूनी प्रतिबंध है अतः प्रत्येक परिवार के पास खेती की जमीन पायी जाती है। ओराब भी खेती के अंश में उन्नतिशील है। कुछ तो निरंतर परिश्रम एवं अनुभव तथा श्रेष्ठ साहस सम्पर्क एवं अनुसरण से वे खेती में बहुत सफल हैं। इनके यहाँ भी जमीनें दो प्रकार की होती हैं। एक तो अपेक्षाकृत निचली और अधिक उपजाऊ और दूसरी ऊँची तथा कम उपजाऊ। इनको क्रमशः 'होन' तथा 'टांड' के नामों से स्थानीय भाषा में जानते हैं। यह लोग

खेती में खाद के अभाव से भी इसकी-उत्पत्ति-परिचिन्तित है। बहुत-सी-सिस्तेम-रिक्तों-द्वारा-  
कोसे-गए-स्कुलों-से-मिक्षा-प्राप्त-होने-के-कारण-इन-लोगों-ने-सिस्तेम-के-  
साधनों-को-अपेक्षाकृत-सहज-और-साधनपूर्वक-उन-से-अपनाया-है।-इसकी-मुख्य-  
उपज-धान,-ज्वार,-कुसुमा-सुरभुजा-आदि-है।-यह-लोग-अपने-खेतों-में-सिंचाई-  
का-भी-उचित-प्रबन्ध-रखते-हैं।-हालू-कमीनों-में-जड़ी-बड़ी-सीढ़ी-के-आकार-में-  
खेत-बना-कर-सामने-खेत-जमा-कर-ऊपर-से-नीचे-की-ओर-धीरे-धीरे-पानी-  
बहने-देते-हैं।-इस-प्रकार-सभी-सतहों-में-सिंचाई-भी-हो-जाती-है-तब-ऊपर-  
की-मिटटी-भी-बहकर-नीचे-नहीं-जाने-पाती-है।-इन-लोगों-के-कृषि-उपकरणों-  
में-लोहे-के-फल-बाले-हुल-फरबड़ा-कुसुमा,-पटेला-हसिया-प्रमुख-हैं।-यह-  
अपनी-उपज-स्थानीय-बाजारों-में-बेचते-हैं-और-बदले-में-अन्य-आवश्यक-  
वस्तुएँ—कपड़ा,-कमक-आकर-चाय,-मिट्टी-का-तेल-खेती-के-उपकरणों,  
आभूषण-आदि-खरीदते-हैं।-स्थायी-रूप-से-उन्नत-खेती-करने-के-कारण-इनका-  
सामान्य-जीवन-स्तर-भी-अपेक्षाकृत-उन्नतिशील-पाया-जाता-है।-इसमें-इसकी-  
मिक्षा-का-भी-पर्याप्त-योगदान-है।-चावल-की-बनी-मसब-जो-हडिया-के-  
नाम-से-जानी-जाती-है-इनका-अत्यन्त-प्रिय-पेय-पदार्थ-है।

उड़ीसा-की-जुआगा-तथा-साओरा-आदिमजातिभा-अस्थायी-खेती-के-  
स्थायी-खेती-पर-आयी-हैं।-इन्होंने-काफी-समर्थपूर्ण-जीवन-बिता-कर-इस-नई-  
पद्धति-को-स्वीकार-किया-है।-साओरा-समूह-के-सदस्य-पहाड़ी-और-बगली-  
ढालों-पर-स्थायी-खेती-के-लिए-जो-सीढ़ीदार-खेत-बनाते-हैं-उसमें-पर्याप्त-  
कुशलता-तथा-परिश्रम-की-आवश्यकता-पड़ती-है।-इन-सीढ़ियों-को-इस-प्रकार-  
काटा-जाता-है-कि-इनका-सामने-का-हिस्सा-बोझा-ऊँचा-और-पीछे-का-अपेक्षा-  
कृत-नीचा-रहता-है।-इसका-परिणाम-यह-होता-है-कि-ऊपर-से-बहकर-जाने-  
वाला-पानी-मिट-टी-को-बहाना-हुआ-नीचे-वही-जा-पाता-है-और-बोझा-पानी-  
बराबर-सीढ़ियों-पर-रुका-रहता-है-जो-कि-यहाँ-की-मुख्य-उपज-धान-के-लिए-  
निर्वात-आवश्यक-भी-है।-यह-वर्ष-से-दो-फसलों-लेते-हैं।-जून-तथा-जनवरी-में-  
जुआई-का-काम-होता-है।-इसके-लिए-पहले-हुल-की-सहायता-से-खेत-ओतकर-  
तैयार-किये-जाते-हैं।-जुआई-का-काम-स्त्री-पुरुष-दोनों-ही-कर-लेते-हैं।-पहले-  
छोटे-छोटे-भूमि-के-टुकड़ों-या-सीढ़ियों-पर-और-उखाए-जाते-हैं-जब-वे-थोड़े-बड़-  
जाते-हैं-तब-उनको-उखाड़-कर-फलबद्ध-झंग-से-5-6-इंच-की-दूरी-पर-रोका-  
जाता-है-ताकि-पौधों-की-वृद्धि-अस-से-हो-सके।-फिर-सिंचाई-भी-आवस्था-की-  
जाती-है।-इसके-लिए-पहले-से-ही-ऊँचाई-पर-पानी-इकट्ठा-करके-सब-नालों-  
के-साथ-कण्टक-वाहरे-बाल-लेते-हैं।-इसके-आवश्यकता-द्वारा-सिंचाई-होती-



रहती है। दोनों फसलों में मे जून में बोई और नवम्बर में काटी जाने वाली फसल मुख्य है।

उत्तर प्रदेश में बाक तथा कोरवा प्रमुख कृषक आदिमजातियाँ हैं। यह लोग खेती के सभी साधनों से परिचित हैं। गोबर की खाद का प्रयोग सामान्य रूप से होता है। सिंचाई के लिए दुखी भिजापुर में बाधो एंव कुआ का प्रयोग किया जाता है। वे रबी और खरीफ अर्थात् गेहू तथा तिलहन दोनों प्रकार की फसलें उगाते हैं। इनके कृषि उपकरणों में हल, फावड़े हंसिया टेंगा आदि आते हैं।

मध्य प्रदेश में भी गोड, भील के अतिरिक्त बैगा भी स्थायी खेती को अपना रहे हैं। यद्यपि इस क्षेत्र में कृषि के साधन अत्यन्त सीमित तथा अविकसित हैं जिसके कारण बहुधा फसलें खराब हो जाती हैं। इस क्षेत्र में गेहू और ज्वार के अतिरिक्त कोदो कुटकी तथा अन्य मोटे अनाज खूब होते हैं।

कुल मिला कर यह अर्थव्यवस्था आदिमजातियों द्वारा काफी बड़े पैमाने पर स्वीकार कर ली गई है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी स्पष्ट है कि इसका विशेष लाभ वे स्वयं उठा नहीं पाते हैं। एक तो वे इसके योग्य पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते हैं और जो थोड़े बहुत लोग नई चीजें सीखते भी हैं वे पर्याप्त साधन जुटाने में असमर्थ रहते हैं। यदि कहीं से कर्ज लेकर कुछ साधन-उपकरण, बैल खाद आदि जुटाये भी जाते हैं तो अधिकांशतः लाभ मृगदानाओं के हिस्से में आ जाता है। इनके रहने के क्षेत्र अधिकांशतया पथरीले जंगली इलाके हैं। यहाँ की जमीनें भी अपेक्षाकृत कम उपजाऊ हैं। यहाँ पर सिंचाई आदि के साधन न तो सरलता से उपलब्ध हैं और न सरलता से उपलब्ध कराये जा सकते हैं। इन क्षेत्रों तक आवागमन के साधन भी बहुत अविकसित हैं। आज भी कई क्षणों तक पहुँचने के लिए मीलों पदल या छोड़े आदि पर चढ़ कर जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश का बस्तर जिला लिया जा सकता है जिसमें तहसील के मुख्यालय भी सड़को से सम्बद्ध नहीं हैं तथा वहाँ तक पहुँचने के लिए भी कई दिनों तक टटटू या बलगाड़ी का सहारा लेना पड़ता है जो कि जंगल की पगड़डियों पर चलते हैं। इस प्रकार अनेक कमियों के होते हुए भी भारतीय आदिमजातियों के लिए इस अर्थ व्यवस्था को स्वीकार करना आवश्यक सा हो रहा है क्योंकि अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह अधिक उपयोगी है।

कैसे अब भिन्न भिन्न राज्य सरकारों द्वारा इस दिशा में उन्नति और

विकास के लिए निरन्तर अतिरिक्त प्रयत्न किये जा रहे हैं। आदिवासी सदस्यों की भूमि या पशु महाजनों द्वारा कर्ब के बन्ने नहीं दिए जा सकते हैं। महाजनो को प्रत्येक कर्ब का हिसाब दिखाना पड़ता है और खासकीय कर्मचारियों द्वारा कर्जों के हिसाब किताब की पूरी देखभाल की जाती है। साथ-साथ राज्य सरकारों की ओर से भूमिहीन आदिवासी सदस्यों को खेती की जमीनों दी जा रही हैं। जमीनों को विकसित करने एवं खेती के लिए उपकरण बीज पशु आदि खरीदने के साधन जुटाये जा रहे हैं। उनको सभी आवश्यक चीजें सरकार द्वारा अनुदान रूप में दी जा रही हैं। उनके रहने के लिए मकानों का निर्माण भी किया जाता है ताकि भुमकड़ी का जीवन समाप्त कर स्थायी रूप से रहकर खेती कर सकें।

## शिल्पी

इस व्यवस्था के अन्तर्गत हम उन तमाम लोगों को रखते हैं जो किसी न किसी प्रकार के हस्तशिल्प द्वारा अपनी जीविका को चलाने का प्रयत्न करते हैं। भारतीय आदिवासीयों में ऐसी बहुत कम हैं जो शुद्ध रूप से अपने हस्तशिल्प से प्राप्त आय द्वारा जीवन यापन करने में समर्थ हो। इनमें ऐसी तमाम आदिवासीयों है जो अपने खाली समय में किसी न किसी प्रकार के काय द्वारा स्वयं अपने उपयोग के लिए अथवा बेचने के लिए अलग-अलग प्रकार की सामग्रियाँ तैयार करती हैं और इस प्रकार हस्तकारी द्वारा अपने आर्थिक साधनों की पूर्ति करती हैं। इनमें रस्ती बटना टोकरी बनाना चटाई बनाना, कपड़े बुनना मिट्टी एवं लकड़ी के खिलौने तथा बर्तन बनाना, पत्थर की मूर्तियाँ बनाना, जाल एवं पिण्डे बनाना बेंत का काम, बाह्य यंत्रों का निर्माण, लोहे के औजार तथा बर्तन बनाना कासे तथा पीतल आदि की सामग्रियों का निर्माण, बास की विभिन्न वस्तुएँ बनाना आदि काफी प्रचलित शिल्प हैं। अब तो विभिन्न क्षेत्रों में राज्य सरकारों के प्रोत्साहन पर अनेक सरकारी संस्थाओं एवं प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना की गई है जहाँ उनको अपने हस्तशिल्प को विकसित एवं उन्नत करने के अवसर प्राप्त होते हैं। इन चीजों की विविधता एवं बहुसंता का एक कारण यह भी है कि इन आदिवासीयों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय रूप से उपलब्ध वस्तुओं को ही प्रयोग में लाया जाता है। वे अपने क्षेत्र में उपलब्ध सामग्रियों से अनेकों प्रकार की वस्तुएँ बनाकर अपनी तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। खाली समय में वे इन वस्तुओं को आवश्यकतानुसार

अधिक से अधिक संख्या में बनाकर स्थानीय बाजारों में बेच कर अपने आर्थिक साधनों की वृद्धि करते हैं।

अंसम के आपातानी बाकू एवं तलवार बनामि में कुशल हैं। यह सामान व्यापारिक स्तर पर बनाए जाते हैं। अलम की पडावा आदिमजाति की लक-किया पेड की डाल के रेशों से बहुत सुन्दर बस्त्र बनाती हैं। इन्हें प्राकृतिक कूटियों से रंगा भी जाता है। नीलविरि (तमिलनाडु) के कोटा अत्यन्त कुशल लोहार, बढई तथा कुम्हार हैं। वे अपने पड़ोसी टोडा तथा बडागा की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। बाईनाद तालुक के उराली कुम्हार अत्यन्त कुशल लोहार, बढई, कुम्हार तथा डलिया बनाने वाले हैं। वे मिटटी के लैंपों को भीतर से छोट छोट कर बतन बनाते हैं और चक्के से अनभिन्न हैं। यह बतन पकाए भी जाते हैं। इस क्षेत्र में इनके मिटटी के बतन विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये मोटे और भारी होते हैं परन्तु इनमें पका खाना अधिक स्वादिष्ट होता है। मध्य प्रदेश के कोया में हम काय के आधार पर अलग अलग उपसमूह पाते हैं। कोई कुशल लोहार है तो कोई बढई है। एक समूह पीतल के सामान बनाता है तो दूसरा डलिया आदि बनाने में कुशल है।

भारतीय आदिमजातियों में अधिकांश किसी न किसी प्रकार के शिल्प से सम्बद्ध हैं परन्तु उनमें से कुछ को शेष से अलग स्पष्ट रूप से विकसित हस्तशिल्पियों के रूप में देखा जा सकता है। मणीपुर, त्रिपुरा असम के रियांग मिजो नागा आपातानी आदि तथा उड़ीसा के साओरा कपडे की बुनाई में विशेष कुशल हैं। इसी प्रकार बिहार के बिरहोर व उत्तर प्रदेश के बसिया रस्ती व रस्ती से बनी सामग्रियां बनाने में निपुण हैं। बिहार के असुर उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कोरवा तथा मध्य प्रदेश के अगारिया लोहे की विभिन्न सामग्रियां बनाते हैं। मध्य प्रदेश के गोंड तथा बैगा टोकरियां तथा चटाइयां बनाने में पर्याप्त दक्ष हैं। उत्तर प्रदेश के ही बारू बढईगिरी टोकरी बुनने तथा मछली पकड़ने के पिंजड़े बनाने में कुशल हैं। बंगाल, बिहार, उड़ीसा के सयास ओराव आदि मछली पकड़ने के पिंजड़े स्वयं बनाकर प्रयोग में लाते हैं। महास की इसला आदिमजाति बांस की चटाई और टोकरियां, हथों के कल तथा बैलगाड़ियों के पहिये आदि बना लेती हैं। ये सामान्य रूप से सभी आदिमजातियां स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर अपने दिन प्रतिदिन के प्रयोग के लिए झाड़ू बांस व लकड़ी के बर्तन, तीर कमान, गुलेल, पिंजड़े तथा जाल, कचिया पत्तो एवं बांस की छतरिया आदि बँसुई बनाते और प्रयोग में लाते हैं। मध्य प्रदेश के बरार जिले में रहने वाले

संस्कृत तथा ब्रह्मिण्य भीड़ तम्बाड़ू रक्तों के लिए सुन्दर लकड़ी की छोटी-छोटी खोखली डिबिया ली बनाते हैं जिसे स्थानीय भाषा में 'मोटा' कहते हैं। वे अपने यहाँ मिट्टी व चातु के मिश्रण तथा कृषियों की बड़ी कुशलता से बनाते हैं। यहाँ पत्थर को तराश कर बकाई गई छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। मध्य प्रदेश के राजस्थान व महाराष्ट्र सीमा के लगे हुए मालवा जिले के भील व मिलाणा पुराने कपड़ों व सूत से बहुत सुन्दर बरियाँ व आसन बनाते हैं। यह कार्य राज्य सरकार द्वारा संचालित प्रशिक्षण तथा उत्पादन केन्द्रों में होता है परन्तु काफी उन्नत रूप से होता है। यहाँ विभिन्न मतकों की कन्न पर पत्थर की बड़ी चट्टान पर किसी योद्धा की मूर्ति खोद कर लकड़ी जाती है। यह पत्थर की खूबाई इनकी एक विशेषता है।

इस प्रकार भारत के विभिन्न क्षेत्रों की आदिमजातियाँ किसी न किसी प्रकार की दस्तकारी से पर्याप्त सम्बन्धित हैं, भले ही वह उनका मुख्य अर्थ-व्यवस्था न होकर सहायक अर्थव्यवस्था के ही रूप में हो। जलम के आपातानी यों तो मुख्य रूप से कुछ अर्थव्यवस्था पर निर्भर करते हैं परन्तु वस्त्र निर्माण भी उनकी आय का एक प्रमुख साधन है। वस्त्र निर्माण का कार्य केवल महिलाओं द्वारा ही किया जाता है। वे स्वयं रुई नहीं उगाते हैं बरन् अपने पड़ोसी दफला आदिमजाति के सदस्यों से रुई खरीदते हैं और इसकी शीका कर घुन कर व कात कर सूत का निर्माण करते हैं। इस सूत को भिन्न-भिन्न रंगों में रंग कर सुन्दर वस्त्र बुने जाते हैं। यह वस्त्र जहाँ स्वयं आपातानी लोगों के प्रयोग में आते हैं वहीं पर पड़ोसियों द्वारा भी इनकी बहुत माँग रहती है। कभी-कभी गरीब आपातानी महिलाएँ पड़ोस के दफला गाँवों में जाकर उनके लिए वस्त्रों का निर्माण करती हैं और बदले में रुई ले जाती हैं। इस काम के अलावा निचले क्षेत्र से खरीदे गए लोहे के खुस्बों तथा फाबड़ों को खराब हो जाने पर लोहे को बरत कर चाकू तथा दाजी तारक वस्त्र भी आपातानी बनाते हैं। इन दोनों चीजों को भी व्यापारिक स्तर पर अधिक मात्रा में बनाकर अपने आस-पास के बाजारों में बेच कर अपनी अर्थव्यवस्था को और उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार इस आदिमजाति के सदस्य कृषि के ऊपर निर्भर करते हुए भी वस्त्रनिर्माण और लोहे के अस्त्रों के निर्माण द्वारा पर्याप्त अतिरिक्त आय करने में सफल होते हैं।

### जीवोन्निक मजदूर

भारतीय आदिमजातियों के कुछ समूह जीवोन्निक क्षेत्रों के आस-पास

रहते हुए उन उद्योगों में मजदूरी का काय करके जहाँ अपने आर्थिक साधनों का विकास करते हैं वही पर साध-साध इन उद्योग प्रन्धों के सहज सञ्चालन में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। इस अव्यवस्था के हम दो कारण देखते हैं। एक तो आदिमजातीय सदस्य अर्थाभाव एवं जीवनयापन के साधनों में कमी के कारण अपने परम्परागत क्षेत्रों को छोड़ कर ऐसे क्षेत्रों में जाकर काम करने लगे हैं जहाँ पर मजदूरी की निरंतर आवश्यकता रहती है, दूसरे जिन क्षेत्रों में आदिमजातीय आबादी है वही प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता से ऐसे उद्योग घड़े स्थापित हो गए जिनमें काम करते हुए वे अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने की ओर प्रेरित हुए।

पहले बग में हम असम के चाय बागानों में पाये जाने वाले उन मजदूरी को रख सकते हैं जो बंगाल बिहार मध्य प्रदेश उड़ीसा आदि की सञ्चाल ओराँव मंडा खडिया या गोड आदिमजातियों के हैं। यह लोग जब अपने पुरातन निवास स्थानों में जीवन यापन करने में असफल रहने लगे तब असम के चाय बागाना में जा पहुँचे। बिहार के ओराँव में ऐसे तमाम उदाहरण मिलते हैं जहाँ परिवार के कुछ सदस्य बड़े-बड़े नगरों में जाकर मजदूरी कर के अतिरिक्त आर्थिक साधन जुटा कर परिवार की आय में वृद्धि करते हैं।

दूसरा बग उन आदिमजातीय औद्योगिक मजदूरी का है जो अपने क्षेत्रों में स्थित लोहे कीयले, मगनीज अभ्रक आदि की खानों में काम कर रहे हैं। बंगाल बिहार मध्य प्रदेश उड़ीसा, आंध्र प्रदेश आदि की तमाम खानों में आदिमजातीय मजदूर काय करते हैं। बंगाल व बिहार के सञ्चाल खान खोदने तथा कीयले की कटाई करने में विशेष दक्ष हैं। जबसेदपुर में टाटा क लाहे के कारखाने में शत प्रतिशत सामान्य मजदूर सञ्चाल हो आदि आदिमजातियों के हैं। बिहार के अभ्रक उद्योग में भी लाखों मजदूर आदिम जातीय समाजों से आए हैं। मध्य प्रदेश का मगनीज उद्योग भी अपने मजदूरों के लिए अधिकांशतया आदिमजातीय क्षेत्रों पर निर्भर करता है। सिंहभूम बिहार की तंबी की खानों में भी यही लोग मिलते हैं।

आजादी के बाद पिछले दो दशकों में इन क्षेत्रों में बिजली परियोजनाओं एवं उद्योगों की एक नई परम्परा का पर्याप्त विस्तार हुआ है। परिणाम स्वरूप यहां के आदिमजातीय सदस्यों को इनमें काय करने और अतिरिक्त आय प्राप्त करने के साधन मिले हैं। राची राउरकेला भिलाई व बैलाडीला आदि में स्थापित नए विशालकाय उद्योगों से इन लोगों को आय के नए स्रोत

मिने तथा औद्योगिक वनस्पति एक नियमित अर्थव्यवस्था बन गई। केरल तथा मध्य प्रदेश के जंगलों में लकड़ी काटने, सहब, चीन, मोम, कांजी मिर्च, चीनी आदि इकट्ठा करने के लिए नियुक्त बड़े-बड़े ठेकेदारों को भी स्थानीय आदिम-जातियों से ही भुजपुर मिलते हैं।

इस प्रकार तमाम भारत में स्थित विभिन्न पहाड़ी तथा जंगली क्षेत्रों के उद्योग-धर्मों में आदिमजातीय वर्ग से आए मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या मिलती है। यद्यपि इस प्रकार जो आदिमजातीय समाज अपने परम्परागत कामों को छोड़कर इस नयी व्यवस्था से सम्बद्ध हुए उनको सम्पर्क सम्बन्धी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इन उद्योगों के स्थापक एवं संचालक वर्ग के सदस्यों का रहन-सहन जहाँ अत्यन्त अविकसित था वही पर आदिमजातीय सदस्यों का समाज भौतिक दृष्टि से अत्यन्त अविकसित था। इन दोनों वर्गों के बीच जो विस्तृत अन्तर था उसने आदिमजातीय वर्ग को एकदम चकाचौंध कर दिया। बड़ी बड़ी मशीनें बिजली की रोशनी बड़े बड़े भवन पक्की चौड़ी सड़के यातायात के सबसुलभ साधन सिनेमा आदि ने इस पिछड़े वर्ग के सदस्यों में आत्महीनता की भावना को जन्म दिया। वे अपनी आदिम जातीय सभ्यता एवं संस्कृति को हीन समझकर उससे परे हटने लगे तथा इस नए वातावरण के अनुकूल अपने को बदलने लगे। इस परिवर्तनशीलता की प्रक्रिया ने उनको वे सभी सामान्य बुराईयाँ प्रदान की जो कि किसी भी आधुनिक कहे जाने वाले समाज के निचले आर्थिक स्तर के सदस्यों में पाई जाती हैं। वे अधिक कमाई करते हुए भी शराब जुआ, बेग्याबलि आदि में पड़ कर अपना पैसा और स्वास्थ्य दोनों नष्ट करने लगे। महाजनो और साहूकारों को इनकी पाड़ी कमाई का पसा लूटने का नया अवसर मिला। यहीं पर इनमें दूसरी ओर अपने सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के प्रति चेतना भी जागृत हुई परन्तु उसका लाभ भी कुछ राजनैतिक पार्टियों और व्यक्तियों ने ही उठाया जनसाधारण तो भ्रूक दर्शक ही रहा।

### आदिवासी अर्थव्यवस्था के मूल तत्व

हमने अब तक जो आदिवासी अर्थव्यवस्था के अनेक रूपों का अध्ययन किया है उनमें सार्वभौमिक स्तर पर एक तथ्य सामने आता है कि प्रत्येक व्यवस्था आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की जाती है। परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में हृष जो बिभ्रसता पाते हैं और इन प्रयत्नों को किस प्रकार सम्पादित किया जाता है तथा इनसे आवश्यकताओं की

कितनी पूर्ति होती है। इन आवाहों पर हम आदिवासी अर्थव्यवस्था की अपनी असम विशिष्टताएं पाते हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को सबसे अपनेबान्तावरण तथा परिस्थितियों से एक समझौता करना पड़ता है और आदिवासी समाज ने इस विषय में निम्नलिखित सीमाओं के अन्दर समझौता किया। सबसे पहले तो उसने अपने समाज की समग्र सदस्य सख्या के आधार पर प्रयत्न करने की बात की। दूसरे उसने अपने समूह की भौतिक आवश्यकताओं के अनुकूल प्रयत्न किये। तीसरे उसने जो भी साधन उपलब्ध थे उन्हीं के अन्तर्गत अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का विचार किया और चौथे उसने इन साधनों से अपनी बुद्धि के अनुकूल लाभ उठाया। बहुधा विभिन्न समाजों में एक ही परिस्थितियाँ और साधन उपलब्ध होने पर भी प्रयत्न और बुद्धि के अन्तर्गत भिन्न भिन्न परिणाम मिलते हैं। मनुष्य सदब यह प्रयत्न करता है कि अपने पास उपलब्ध साधनों से ही अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और ऐसी स्थिति में बुद्धि के आधार पर प्रयत्न और परिणाम बदलते रहते हैं। किसी समाज के सदस्यों में उत्पादन उपभोग वितरण और वितरण की कितनी क्षमता है इस पर उसका आर्थिक स्तर निर्धारित होता है।

मनुष्य को अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति सबसे पहले करनी पड़ती है और आदिवासी समाजों में आस पास के जंगलों से एकत्रित करके या थोड़ा बहुत स्वयं पदा करके या शिकार करके भोजन सामग्री जुटाई जाती है। उ होने न तो आवश्यकता से अधिक जुटाने का प्रयत्न किया और न ही प्राप्त सामग्री को भविष्य के लिए बचाकर रखने का प्रयत्न किया और न दूसरों की उपेक्षा करके केवल व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने सदब प्रकृति के साधनों को पूरे समाज के हित में प्रयोग किया और इस प्रयाग के दौरान जो व्यवस्था हमारे सामने आती है वह उत्पादन उपभोग की व्यवस्था है जबकि आज के आधुनिक कह जाने वाले समाज की अर्थ व्यवस्था उत्पादन उपभोग वितरण की व्यवस्था है जिसमें प्राथमिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त तमाम अन्य नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन उत्पन्न किए जाते हैं।

आदिवासी अर्थव्यवस्था का सर्वप्रथम लक्षण इसकी सहजता एवं सरलता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक सामग्री सहज और सीधे तरीके से प्राप्त की जाती है। इन सामग्रियों का उपयोग भी प्राकृतिक रूप में ही कर लिया जाता है। जहाँ जो चीज उपलब्ध है उसी से सीधे-सीधे काम चला लिया जाता है।

जोड़ाहरण के लिए जीवजल के निम्न चक्रों के नाम सूख, छिटा, पीटा बहुत कम पानी को भी मिल सके। पानी को बना जाता है। इसे प्राप्त करने में भी व्यक्ति अपने शक्ति पैरों पर ही निर्भर करता है। इसके विपरीत हम बीड़ा का विकसित होकर एक कार्यक्षमता में इन मानकियों को प्राप्त करने के लिए तकनीकी साधनों एवं उपकरणों का प्रयोग करते हैं। जबकि एकदम आधुनिक व्यवस्था में जीवजलिक साधनों के साथ-साथ वस्तुओं के अतिरिक्त संग्रहण संरक्षण एक आवश्यकता का भी पूरा प्रबंध करने हुए अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा किया जाता है।

चूँकि इस व्यवस्था में आवश्यकता से अधिक संग्रहण किया ही नहीं जाता है अतः वस्तुओं को खरीदने बेचने की कोई व्यवस्था नहीं मिलती है। यह अवश्य होता है कि यदि किसी के पास कोई अतिरिक्त सामान्य या जाती है तो वह उसे समाज के सभी सदस्यों में बाँट देता है। दूसरी और कुवक समाज में इन अतिरिक्त वस्तुओं को दूसरी वस्तुओं से बदलने या विनिमय करने की व्यवस्था है तथा आधुनिक अर्थव्यवस्था में ती अतिरिक्त संग्रहण और अधिकतम मुनाफाखोरी एक आवश्यक अंग है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत अतिरिक्त वस्तुओं को बाँटने के पीछे जो परस्पर सहयोग तथा सामुदायिक कल्याण की भावना मिलती है उसका कृषक समाज में तो जोड़ा बहुत स्थान है परन्तु आधुनिक समाज में यह मिलकूल नहीं है। परस्पर सहयोग तथा सामुदायिक कल्याण के स्थान पर हम व्यक्तिगत कल्याण की भावना आधुनिक व्यवस्था में पाते हैं।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कोई नियमित बाजार नहीं मिलता है कारण सीधे-सीधे यही है कि हर व्यक्ति अपने समूह के एक उतरदायी अंग के रूप में कार्य करता हुआ सभी के साथ रहता है और परस्पर एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करता रहता है। कुछ व्ययस्था के साथ पारिक्त या साप्ताहिक क्षेत्रीय हाटों की व्यवस्था मिलती है। जबकि आधुनिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक निवास स्तर पर नियमित बाजार अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

इन बाजारों की अनुपस्थिति के कारण आदिवासी व्यवस्था में कोई व्यक्तिगत आर्थिक प्रतिस्पर्धा नहीं मिलती है। प्रत्येक सदस्य की वित्ति-विधियाँ बूँक पूरे समूह के हित में होती हैं जहाँ व्यक्तिगत स्तर पर प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही नहीं उठता है। कुलक समाज में बूँक हर व्यक्ति स्वयं उत्पादन करता है और वित्तियोग का प्रत्यक्ष पोषण करता है जहाँ, यहाँ पर



व्यक्तिगत हितों के टकराव न होने से आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता कम मिलती है जबकि आधुनिक अर्थव्यवस्था में हर व्यक्ति अपने आर्थिक स्तर को उठाने की ताक में रहता है। अतः यहाँ दूसरे को गिरा कर स्वयं उन्नति करने तथा एकाधिकार की भावना प्रबल रहती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का बोलबाला रहता है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था के अतःगत पैसे का कोई स्थान नहीं होता है। चूँकि वहाँ पर कोई चीज खरीदने बचने के बजाय एक दूसरे से यो ही परस्पर सहयोग के आधार पर प्राप्त हो जाती है अतः पैसे की जरूरत ही नहीं पड़ती है। जबकि कृषक समाज में आरम्भ होकर आधुनिक समाज में सारा काय पैसे के ही माध्यम से होता है। कृषक समाज में वस्तु के बदले वस्तु मिल जाती है परन्तु आधुनिक समाज में तो हर वस्तु पैसे के माध्यम से ही कीमत के आधार पर ही खरीदी या बची जाती है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था में उधार या बैंक जैसी समस्याओं का कोई उपयोग या स्थान नहीं है जबकि आधुनिक अर्थव्यवस्था के यह महत्वपूर्ण अंग हैं।

आदिवासी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाम पर कोई विशेष चीज नहीं होती है। वहाँ पहले तो कुछ संग्रहण होता ही नहीं है और यदि कुछ हो भी जाता है तो वह पूरे समूह की सम्पत्ति मानी जाती है। कोई व्यक्तिगत बचन नाम की चीज यहाँ एकदम अनुपस्थित है। कृषक समाजों में कुछ अंश तक व्यक्तिगत सम्पत्ति मिलती है जबकि आधुनिक समाज में एक व्यक्ति का सारा उत्पादन अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। वह आवश्यकता से अधिक जो कुछ बचा लेता है उसकी अपनी बचत होती है।

आदिवासी व्यवस्था में श्रम विभाजन का आधार व्यक्तिगत कुशलता या विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है। यहाँ हर सदस्य लगभग सभी कार्यों में अपनी शारीरिक एवं सामाजिक क्षमता के अनुकूल प्रयत्न करता है परन्तु कृषक समाजों में व्यक्ति कुछेक प्रकार के कार्यों में निपुणता प्राप्त करने लगता है और आधुनिक समाज में तो किसी न किसी क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करना एक अत्यंत आवश्यक लक्षण है। आदिवासी समाज में आयु तथा लिंग के आधार पर श्रम विभाजन अवश्य मिलता है परन्तु वह विशिष्टीकरण के बजाय शारीरिक क्षमता पर आधारित है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था में जो वस्तुओं को उपहारस्वरूप देने की प्रथा मिलती है वह भी इनकी एक विशिष्टता है। प्रत्येक विशेष

अक्सर पर उपहार देने की प्रथा इनमें सम्पत्ति रूप से प्रचलित है। बच्चे के जन्म पर, कन्या के रजस्वला होने पर, बियाह होने पर, मुखिया पद प्राप्त होने पर आदि बनेकौं ऐसे अवसर हैं जब इनमें अपने बग या समूह के सभी सदस्यों की उपहार देने की प्रथा पाई जाती है। इसके साथ-साथ अतिरिक्त सामग्री भी अन्य सदस्यों की आवश्यकता पड़ने पर उपहारस्वरूप ही दी जाती है। इस उपहार व्यवस्था को हम उनमें परस्पर आदान प्रदान के साधन रूप में पाते हैं। प्रत्येक वह व्यक्ति जो किसी अवसर पर अन्य सदस्यों को उपहार देता है वैसे ही अवसर पर दूसरों से उपहार पाने की अपेक्षा करता है। इस प्रकार यह व्यवस्था आदान प्रदान का नियमन करती है और आधुनिक अर्थव्यवस्था की औपचारिकता से दूर व्यक्तिगत सामाजिक सम्बन्धों को बढ करती है।

### सम्पत्ति, स्वामित्व एवं उत्तराधिकार

प्रत्येक समाज में अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सम्पत्ति उसके स्वामित्व एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उसके हस्तांतरण के विषय में निश्चित मान्यताएँ एवं नियम होते हैं। सम्पत्ति मानव सस्कृति का एक सार्वभौमिक अंग है। ब्रह्म भूमि अहा! हम सदैव रहते हैं जिस भूमि पर फसल उगा कर या पशुओं को चराकर जीवन निर्वाह किया जाता है जंगलों में चरने वाले एब शिकार किए जाने वाले पशु पेड़ पौधे एब अन्य उपज रहने के मकान पहनने के वस्त्र शृंगार साधन भिकार एब कृषि के उपकरण आदि सब मिलाकर सम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्पत्ति की भावना मनुष्य के आदिमकाल से उसके साथ सम्बद्ध है और आगे भी सदा सम्बद्ध रहेगी। सम्पत्ति को केवल एक वस्तु के रूप में ही नहीं आँका जा सकता है इसके साथ सामाजिक सम्बन्धों एब मान्यताओं का भी पर्याप्त महत्त्व है। वास्तव में सम्पत्ति में सामाजिक मान्यताओं की उपस्थिति ज्यादा आवश्यक है। उदाहरण के लिए जंगल में एक लकड़ी किसी खास संप्रदाय आदिमजाति के ऐसे सदस्य को मिल जाती है जो इसे खोदने वाली लकड़ी के रूप में प्रयोग करता है। अब यह लकड़ी यदि केवल उसी एक व्यक्ति के अधिकार में रहती है और शेष सदस्य इसका प्रयोग करने में सकोच करते हैं तो यह उसकी सम्पत्ति बन जाती है। यहाँ पर वही एक लकड़ी कुछ में बेकार की वस्तु, पुनः आज एक उपलब्धि तथा अंतस्तोवस्था सम्पत्ति बन जाती है। इस प्रकार वस्तु का सम्पत्ति के रूप में परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों व मान्यताओं पर

आधारित रहा। कानूनी या धर्मशास्त्रीय भाषा में इसे हम "सम्पत्ति के एकाधिकार" के रूप में मानते हैं। वस्तु इस एकाधिकार पर भी सामाजिक सीमाओं एवं आवश्यकताओं का सर्वत्र नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार सम्पत्ति सर्वत्र सामाजिक मान्यताओं से निर्धारित एवं नियन्त्रित वह वस्तु है जो जीविक सम्पत्ति के लिए उपयोगी है। सामाजिक मान्यताओं में परिवर्तन के साथ सम्पत्ति के साथ सम्पत्ति के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है।

भारतीय आदिमजातियों में हम सामाजिक मान्यताओं से सम्पत्ति तथा नियन्त्रित तन्मय सामग्रियों को सम्पत्ति के रूप में पाते हैं। खाद्य संग्रह एवं शिकारी आदिमजातियों में बनों का भूत उनमें प्राप्त सामग्री, शिकार तथा खाद्य संग्रह के साधन या उपकरण आदि सम्पत्ति के रूप में हैं। वह सारी वस्तुएँ विभिन्न सदस्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किये जाते हैं। खाद्य संग्रह इनके प्रयोग की स्थिति सामाजिक नियमों से नियन्त्रित है। पशुपालक आदिम जातियों में चरागाह पशु पशु शालाएँ मकान वस्त्र पशुओं से प्राप्त वस्तुएँ आदि सम्पत्ति का रूप हैं। कृषक आदिमजातियों में भूमि कृषि उपकरण मकान वस्त्र उपज आदि सम्पत्ति के रूप हैं। शिल्पी आदिमजातियों की सम्पत्ति कच्चा माल प्राप्त करने के स्रोत उपकरण तैयार मात्र, वस्त्र मकान आदि हैं जबकि औद्योगिक मजदूरों की सम्पत्ति उनका परिश्रम और उसका परिणाम है। एक निश्चित प्रकार का कार्य जब किसी वन को दे दिया जाता है तो उस कार्य को करने का अधिकार भी उस वन की सम्पत्ति का रूप होता है। इन आदिमजातियों का नृत्य एवं गीत, उनमें जादू टोनों का प्रयोग तन्मय शक्ति आदि भी सम्पत्ति के रूप हैं।

जब सम्पत्ति होती है तो उसका स्वामित्व भी होता है। जहाँ तक आदिवासी समाजों का प्रश्न है उनमें स्वामित्व सामान्यतया पूरे समूह का होता है। उनमें सम्पत्ति का जो भी रूप मुख्य स्थान रखता है यथा भूमि पशु, जंगल उपज, शिकार आदि वह सब सामूहिक सम्पत्ति के रूप में माना जाता है। इस प्रकार की वस्तुओं पर स्वामित्व पूरी आदिमजाति का होता है यद्यपि इसके प्रयोग तथा उपभोग का सम्बन्धित अधिकार प्रत्येक सदस्य को रहता है। इन वस्तुओं को उपभोग के लिए आदिमजाति के विभिन्न परिवारों में मुखिया के द्वारा बाँटा जाता है। उसे पूरा अधिकार होता है कि समाज के हित में किस परिवार को कब और कितनी सम्पत्ति दी जाय। पुनः कुछ वस्तुएँ परिवार की सम्पत्ति होती हैं। यौन या आदिमजाति के मुखिया से जो सम्पत्ति परिवार के लिए मिलती है उसको प्रयोग कर पूरे

व्यक्ति का स्वामित्व होता है। जहाँ ही इस सम्पत्ति से लाभ उठाने के लिए किन्हीं उपकरणों का प्रयोग किया जाता है वे भी परिवार की सम्पत्ति होते हैं। उदाहरण के लिए कुम्हिया उपकरण परिवार की सम्पत्ति हैं। पुन जो वस्तुएं केवल व्यक्ति विशेष के उपयोग में आती हैं, जैसे आभूषण, वस्त्र आदि उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। आदिमजातीय समाजों में व्यक्तिगत सम्पत्ति अत्यन्त सीमित और कभी-कभी नहीं ही होती है।

भारतीय आदिमजातियों में अर्धव्यवस्था के आधार पर शिकार एवं खाद्य-संग्रह वाले जंगल के ओल आदिमजातीय स्वामित्व में आते हैं। इसी प्रकार पशुपालकों के पशु एवं बरामाह कुचकों के जंगल या जमीनों मिलियों के कच्चे भागों के स्रोत और कार्य विशेष का अधिकार सब आदिमजातीय स्वामित्व की वस्तुएं हैं। इन व्यवस्थाओं से प्राप्त वस्तुएं भी आदिमजातीय स्वामित्व के अन्तर्गत आती हैं। परन्तु जो वस्तुएं परिवार के उपयोग के लिए प्राप्त हो जाती हैं जैसे शिकार का ओल, केटी की जमीन पशु आदि वे परिवार के स्वामित्व में आती हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व अब बाहरी सम्पर्क के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे बढ़ रहा है जिसमें वस्त्र, आभूषण श्रृंगार सामग्री आदि आते हैं।

सम्पत्ति का स्वामित्व निर्धारित होने पर उसके उत्तराधिकार की भी व्यवस्था की जाती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति किसको और कैसे प्राप्त हो यही उत्तराधिकार की व्यवस्था है। आदिवासी समाजों में व्यक्तिगत सम्पत्ति काफी सीमा होने के कारण उत्तराधिकार की व्यवस्था भी सरल होती है। सामान्यतया मृतक के नियमित प्रयोग की वस्तुएं उसके लान कपान कर दी जाती हैं या नष्ट कर दी जाती हैं। पुरुष की सम्पत्ति पुत्रों को और स्त्री की सम्पत्ति स्त्रियों को मिलने की व्यवस्था पाई जाती है। मातृवशास्त्रिक और पितृवशास्त्रिक समाजों में उनके नियमानुसार सब लड़कियों या लड़कों को सम्पत्ति मिलती है। कभी-कभी सबसे बड़ी या सबसे छोटी लड़की या लड़के को ही सारी सम्पत्ति मिलती है।

भारतीय आदिमजातियों में भी उत्तराधिकार के सभी सामान्य नियम और व्यवस्थाएँ पाई जाती हैं। सामान्यतया मृतक की सम्पत्ति सभी पुत्रों में बराबर-बराबर बाँटी जाती है। परन्तु कुछ आदिमजातियों में स्थिति भिन्न की है। ठोठा में सबसे बड़े लड़के तथा सबसे छोटे लड़के को एक अतिरिक्त पशु उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। बैजसब की जहाँसी आदिमजाति में जो मातृवशास्त्रिक है सम्पत्ति माता से सबसे बड़ी लड़की को मिलती है, उसकी

मृत्यु पर यदि छोटी बहनें हैं तो एक-एक कर उन बहनों को तथा सबसे छोटी बहन की मृत्यु पर पुन सबसे बड़ी बहन की सबसे बड़ी पुत्री को मिलती है। तमिलनाडु की नीलगिरि पहाड़ियों के बडागा में जैसे ही किसी मर्दके का विवाह होता है वह अपने पिता का घर छोड़ देता है। केवल सबसे छोटा मर्दका माता पिता के साथ अत तक रहता है और केवल वही पिता की सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

### बाजार एवं व्यापार

भारतीय आदिमजातियों में लगभग सभी क्षेत्रों में बाजार नामक संस्था की उपस्थिति पाई जाती है। बहुधा कई गावों के लिए एक स्थान पर निर्धारित दिन आस पास के लोग आकर अपनी-अपनी अतिरिक्त सामग्रियों के बदले में आवश्यकता की वस्तुएं ले जाते हैं। यह बाजार पारिवारिक या साप्ताहिक होते हैं। आदिमजातीय क्षेत्र के बाजारों में हमें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल सामग्रियाँ मिलती हैं। तरकारी बनाम मुर्गा मांस, मसाला बनाने के शृंगार सामग्री कपड़े उपकरण औजार आदि सामग्रियाँ विभिन्न लोगों द्वारा खरीदी बेची जाती हैं। बाहर से बड़े-बड़े कस्बों के व्यापारी इन बाजारों से स्थानीय उपज का सामान खरीद ले जाते हैं और वहाँ के लोगों की आवश्यकता की वस्तुएं बेच जाते हैं। इन बाजारों में थोड़ा बहुत आदान प्रदान ही हा पाता है। यह सामान्यतया दिन को 11-12 बजे से शुरू होता है और सायंकाल 4-5 बजे तक समाप्त हो जाता है। कुछ बाजार ऐसे होते हैं जो वर्ष में एक बार लगते हैं और कई दिनों तक लगातार चलते रहते हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में ऐसे बाजारों को मडई के नाम से जाना जाता है। इन बाजारों में लोग दूर दूर से परिवार सहित आते हैं। बहुधा यह बाजार मुख्य फसल कट जाने पर लगता है और यहाँ से लोग साल भर की मोटी-मोटी आवश्यकता की वस्तुएं खरीदते हैं। इन बाजारों के आस पास आने वाले लोगों के ठहरने से उतने दिनों तक एक छोटी मोटी आबादी सी बस जाती है। यह लोग इन बाजारों में जहाँ सामग्रियों का आदान प्रदान कर इसके आर्थिक पक्ष को सार्थक करते हैं वहीं पर इन बाजारों में विवाह आदियाँ भी तय होती हैं। दूर-दूर के सम्बन्धियों से मिलना भी होता है। रात रात भर नाच गाने के भी आयोजन होते हैं। इस प्रकार यह वार्षिक बाजार सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी पर्याप्त महत्व रखते हैं।

# 4

## सामाजिक सगठन

मानवमात्र ने प्राप्त सामाजिकता के विभिन्न स्वरूपों में व्याप्त अंतर ही मानवीय सामाजिकता को एक उच्च स्तर प्रदान करते हैं। देश, काल एवं परिस्थितियों की विषमताएं इन अंतरों को पोषित एवं स्पष्ट करती हैं। जड़ समाजों एवं अत्यन्त अल्पविस्तृत क्षेत्रों में अपने सामाजिक सम्बन्धों को सीमित रखने वाले आदिवासियों की सामाजिक सगठनात्मक प्रवृत्तियाँ बृहत् क्षेत्रों में विस्तृत एवं अधिक सख्या वाले समुदायों से भिन्न प्रतीत होती हैं। मानव वैज्ञानिकों ने अपने गहन अध्ययनों एवं विशिष्ट प्रणालियों के द्वारा इन अंतरों की विवेचना की है। आज भारतीय आदिवासी समुदायों के सामाजिक सम्बन्धों के दायरे अपनी परम्परागत सीमाओं को तोड़ चुके हैं— किंतु बृहत् सम्य समाजों की व्यवस्थाओं के जनक समाधीन हो पाना कठिन हो रहा है।

मनुष्य आदिकाल से समूह में रहता आया है। यह समूह आकार, कार्य, उपयोगिता के आधार पर अलग अलग स्थानों पर भिन्न भिन्न रूपों में आरम्भ हुए और विकसित हुए। अकेले रहते हुए मनुष्य के लिए अपनी तमाम दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सामान्य रूप से संभव नहीं था और यही कारण था कि उसने समूहों में रहना आरम्भ किया। शिकार करने के लिए, मछली मारने के लिए, खाद्य सग्रह के लिए, अपनी रक्षा के लिए, मनोरंजन के लिए, मकान बनाने के लिए सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हर क्षेत्र में उसे समूह बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई और अतः गत्वा हम विकसित तथा नियोजित रूप में अनेक समूह पाने लगे। कही यह समूह लिंग स्थान आदि के आधार पर बने तो कही परिवार वंश जाति के रूप में और इन सबको मिलाकर जो रूप सामने आया उसे हम मानव समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। प्रत्येक समाज में हम इस प्रकार के अनेक समूह पाते हैं। उनकी कार्य पद्धति एवं परस्पर सम्बन्धों की भिन्नता के आधार पर हम जहाँ उनमें अन्तर्भाव पाते हैं वही पर अनेक समाजों के संगठनों में परस्पर समानता के भी उदाहरण मिलते हैं। कुल मिला कर इतना तो अवश्य है कि प्रत्येक समाज में हम अनेक समूह पाते हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को मिला कर समाज का जो संगठनात्मक रूप हमारे सामने आता है उसे हम सामाजिक संगठन के नाम से जानते हैं। यह अवश्य है कि आजकल के आधुनिक मानव समाजों में इस संगठन को विस्तृत एवं अतिसमाजीय सम्बन्धों के रूप में पाया जाता है जबकि आदिमजातीय समाजों में इसका रूप सीमित एवं आदिमजातियों के अतसमूहिक सम्बन्धों के रूप में ही मिल पाता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारत के आदिमजातीय समाज में ऐसे कौन से समूह हैं जिनका अतसम्बन्ध मिल कर आदिमजातीय सामाजिक संगठन का निर्माण करता है।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है प्रत्येक समाज में विभिन्न कार्यों के लिए अलग अलग समूह होते हैं। भारत के आदिमजातीय समाज में भी हम ऐसे जो तमाम सामाजिक समूह पाते हैं उनको मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे समूह जिन्हें सामाजिक इकाईयों के नाम से जाना जाता है और जिनके अन्तर्गत सामाजिक संगठन का मूल आधारभूत ढाँचा तय होता है। इनमें रक्त सम्बन्ध स्थान लिंग आयु आदि पर आधारित समूह होते हैं। यह इकाई वाले समूह तत्सम्बन्धी मानव समाज के आधार रूप का निर्माण करते हैं। यह इकाईयों छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की

होती हैं। उदाहरण के लिए एक और परिवार नामक इकाई में चार लोग सदस्य माने जाते हैं और दूसरी और अधिमजाति नामक इकाई में कई इकाइयों का कहीं-कहीं सदस्य माने जाते हैं। यही घर परिवार, वंश (Lineage), वर्ग, (Class), आदिमजाति मन्दीर (Monastery), आदिमजाति आदि के बीच जो परस्पर अतर्सम्बन्ध होता है वह सामाजिक इकाई का आभास मानकर हमारे सामने एक सहाज सुव्यवस्थित रूप प्रदान करता है। दूसरे में समूह होते हैं जो सामाजिक इकाइयों के नाम से जाने जाते हैं और जो सामाजिक संगठन के इकाई को पूर्णता प्रदान करते हैं। इन संस्थाओं के विवाह, शांतिवारी, सम्पत्ति, छोटक, टैक्स आदि जाते हैं। इन संस्थाओं द्वारा सामूहिक कार्यों की व्यवस्था तथा समितित रूप से सम्पन्नित किया जाता है। यह संस्थाएँ अपनी गतिविधियों के द्वारा जहाँ सामाजिक संगठन के समूह समाज में सहायक होती हैं वहीं पर इसके माध्यम से तत्संबन्धित समाज की संस्कृति का निर्माण भी होता है।

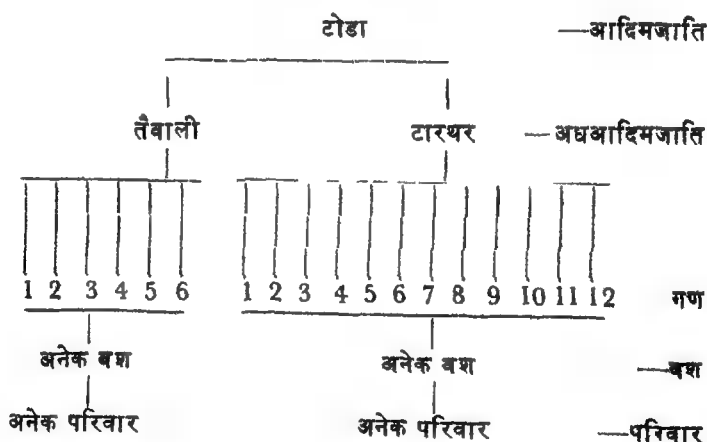
इस प्रकार भारतीय आदिमजातीय समाजों में पाई जाने वाली उप लिखित विभिन्न इकाइयों एवं संस्थाओं के विधिवत अध्ययन द्वारा आदिम जातीय सामाजिक संगठन के रूप को सरलतापूर्वक तथा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

सामाजिक इकाइयों में व्यापकित रक्त सम्बन्ध पर आधारित इकाइया विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार की इकाइयों में परिवार वंश, वर्ग, अर्थ आदिमजाति और आदिमजाति आती हैं। इस प्रकार की इकाइयों के सदस्य एक दूसरे से पर्याप्त निकटता एवं भावनात्मक सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध होते हैं। वे यह भी जानते हैं कि बड़ी से बड़ी इकाई का भी कोई एक पूर्वज या प्रबलक होता है और उसके वंशज होने के नाते सभी सदस्य एक दूसरे के एक सम्बन्धी होते हैं। इन सभी सदस्यों में एक ही रक्त प्रवाहित होने की भावना इनको एक दूसरे के साथ भावनात्मक रूप से सम्बद्ध करती है जो कि इनको एकता की ओर ले जाती है। सबसे छोटी इकाई के अन्तर्गत हम परिवार को पाते हैं जिसमें पति पत्नी और उनकी सामाजिक भाग्यता प्राप्त संतान आती है। दूसरी और सबसे बड़ी इकाई आदिमजाति के रूप में पाई जाती है जिसके सभी सदस्य एक निर्धारित सामान्य में निवास करते हुए, सामान्य बोली बोलते हुए, सामान्य घर बसाने एवं सम्पत्ति अधिकार रखते हुए, सौहार्दतापूर्वक रहते हुए, एकलै राक्षसीय संगठन के अन्तर्गत भाई बनते हुए एक दूसरे के सम्बन्धित होते रहते हैं। इन इकाइयों की समस्त



संख्या और निवास स्थान का आकार जैसे-जैसे बढ़ता जाता है उनके सदस्यों के बीच सम्बन्ध औपचारिक होते जाते हैं परन्तु दूसरी ओर निचले स्तर पर इनके बीच सम्बन्ध अत्यन्त निकटता के एवं अत्यन्त अनौपचारिक होते जाते हैं। विभिन्न आदिमजातियों की इन इकाईयों के सदस्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार परम्पराओं द्वारा भी निर्धारित होते हैं। किन्तु इकाई के पूँजों द्वारा कैसा व्यवहार किया जाता रहा है वैसा ही व्यवहार वर्तमान सदस्यों से भी अपेक्षित है। इन व्यवहारों एवं सम्बन्धों के आधार पर ही सदस्यों के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का निर्धारण होता है। मुख्य रूप से इन इकाईयों का निर्धारण सामाजिक सम्बन्धों द्वारा प्रभावित होता है और यह सामाजिक सम्बन्ध जीवन के साथ सभी क्षेत्रों यथा आर्थिक राजनैतिक धार्मिक आदि को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार के वर्गीकरण का अध्ययन यदि टोडा जनजाति में किया जाय तो हमे निम्न स्थिति मिलती है —



उपरोक्त वर्गीकरण के अंतर्गत हम जिन सामाजिक इकाईयों को पाते हैं उनमें आदिमजाति सबसे बड़ी है। यह पुन दो अर्धआदिमजाति इकाईयों में बटी हुई है जो आपस में विवाह न करके केवल अपने-अपने वर्ग में ही विवाह करती है अर्थात् अंतर्विवाही हैं। यह दोनों अर्धआदिमजातियाँ क्रमशः छ तथा बारह गण समूहों में बटी हुई हैं। यह समूह बहुविवाही हैं तथा पुन विस्तृत

बंश समूहों में बंटे हैं जो बहिर्बिवाही होते हुए छोटे-छोटे क्षेत्रों परिवारों में बंटे हैं। इस प्रकार इस आदिमजाति का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे का सम्बन्धी है और वे इस संबंध के आधार पर सीहार्द्र तथा सामाजिक निकटता की भावना से परिपूर्ण हैं।

यह अवश्य है कि किसी इकाई के आकार के आधार पर अथवा स्थानीय एवं मौखिक प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न स्तर की इकाईयों के सदस्यों के बीच यह सीहार्द्रता की भावना कम या अधिक हो सकती है परन्तु यह होगी अवश्य। उदाहरण के लिए एक ही परिवार के सदस्य एक दूसरे के साथ अधिक निकटता का अनुभव करेंगे, जबकि टारवर तथा तैवाली समूह के सदस्य अपने-अपने सदस्यों के साथ जिस निकटता तथा सीहार्द्रता का अनुभव करेंगे वह एक दूसरे के सदस्यों के लिए नहीं करेंगे। जैसे सामान्यतया गण स्तर तक सम्बन्ध पर्याप्त निकटता के रहते हैं।

परिवार नामक इकाई रक्त सम्बन्धी सामाजिक इकाईयों में सबसे निचली सीढ़ी पर परन्तु सबसे अधिक निकट संबंधों वाली होती है। टोडा परिवार प्रारम्भिक सम्मिलित तथा विस्तृत सभी प्रकार के होते हैं। निवास के दृष्टिकोण से टोडा पितृस्थानीय परिवार में आते हैं और सम्पत्ति के हस्तांतरण में वे पितृपक्षीय हैं। इनका बच्चा भी पिता की ओर से ही चलता है अर्थात् वे पितृवशीय हैं, परन्तु इनकी गण सदस्यता पितृवशीय तथा मातृवशीय दोनों ओर समान रूप से होती है। जब सम्पत्ति के हस्तांतरण की व्यवस्था आती है तब वे पितृवशीय हैं और जब मृत्यु संस्कारों का पालन करना होता है तब वे मातृवशीय होते हैं।

परिवार नामक सामाजिक इकाई लगभग सभी समाजों में पायी जाती है। सदस्यता के आधार पर हम परिवार के अनेक रूप पाते हैं। इनमें सबसे प्रारम्भिक स्तर पर हम जिस पारिवारिक समूह को रखते हैं उसकी सदस्यता माता पिता तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त सप्तानो तक सीमित होती है। इस परिवार को हम केन्द्रीय परिवार, प्रारम्भिक परिवार अथवा न्यष्टि परिवार के नाम से सम्बोधित करते हैं।

परिवार का दूसरा रूप हमें विस्तृत परिवार के नाम से मिलता है, जिसमें प्रारम्भिक परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त कुछ निकट सम्बन्धियों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसे परिवारों के उदाहरण हमें अधिकांश आदिमजातीय समाजों में मिलते हैं। जब इसी परिवार की सदस्यता आनेवाली के आधार पर और बड़ा दी जाती है तब हमें मास्त का प्रसिद्ध हिन्दू संकुल

परिवार का उदाहरण मिलता है। इससे जन्म तथा विवाह सम्बन्ध दोनों से परिवार की सदस्यता प्राप्त होती है।

कुन जब हम रक्त सम्बन्धियों के ऐसे बनेक परिवारों की विचार कर एक परिवार पाते हैं तब इसको रक्त सम्बन्धी परिवार के नाम से जाना जाता है। इस परिवार की सदस्यता जन्म द्वारा प्राप्त होती है और मातृ की परिपक्वता अथवा विवाह सम्बन्धों की समाप्ति से इस परिवार की सदस्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसे हम एक छोटे बंस समूह के रूप में भी देख सकते हैं। मालाबार के नायर लोगो में ऐसे परिवार बारबाद की उपस्थिति मिलती है। उनके यहाँ मातृवर्गीय सबाज होने के कारण रक्त सम्बन्धी परिवार में पिता या पति का कोई महत्व नहीं होता है।

नायर परिवार को बारबाद के नाम से जानते हैं तथा इसकी सदस्यता किसी महिला महिला की सतानो (स्त्री तथा पुरुष दोनों) तथा स्त्री सतानो की सतानों को प्राप्त होती है। पुरुष सतानो की सतानो को इसकी सदस्यता नहीं मिलती है परन्तु उनकी सतानो को अपनी माता के बारबाद की सदस्यता प्राप्त होती है। इस परिवार का संचालन ज्येष्ठ पुरुष सदस्य द्वारा किया जाता है तथा उसे 'कणबान' के नाम से जाना जाता है। इस परिवार की सम्पत्ति सामूहिक होती है और कणबान सब व्यवस्था देखता है। जब तक वह परिवार के सब सदस्यों के हितों की रक्षा करते हुए कार्य करता है वह अपने पद पर बना रहता है और एक प्रकार से निरकुण शासक की स्थिति में रहता है। परन्तु गड़बड़ करने पर अन्य सदस्य आपत्ति उठाकर उसे पदच्युत कर सकते हैं। जब थारवाद का आकार बहुत बड़ जाता है तब इसमें थवासी के नाम में एक छोटा पारिवारिक संगठन भी बना लिया जाता है और इसमें महिला उसकी सतानें तथा महिला बराज आते हैं।

इनके अतिरिक्त आदिमजातीय समाजों में हमें ऐसे परिवार भी मिलते हैं जिनमें एक से अधिक पति पत्नी तथा उनके बच्चे और कुछ निकट सम्बन्धी आते हैं। इस परिवार को विवाह सम्बन्धी परिवार कहा जाता है क्योंकि इसमें विवाह सम्बन्ध पर अधिक बल रहता है और जहाँ विवाह सम्बन्धों में स्थायित्व नहीं है वहाँ ऐसे परिवार नहीं मिलते हैं। भारत जैसे परम्परागत एवं सांस्कृतिक समाज में ऐसे परिवारों के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं। इसमें विवाह के समय वंश परम्परा के अनुसार पत्नी या पति को अपने जन्म द्वारा प्राप्त पारिवारिक सदस्यता को छोड़ना पड़ता है अर्थात् मातृवर्गीय समाजों में पति तथा पितृवर्गीय समाजों में पत्नी कबल पत्नी तथा पति के वंश परिवार

को सम्बन्धता में सम्मिलित हो जाती है और उनके सम्बन्ध परिवार की सदस्यत्व सम्पत्ति ही जाती है। बिना परिवार में किसी का सम्बन्ध होता है उसे हम सामान्य परिवार से सम्बन्ध विवाह द्वारा सम्बन्धित परिवार को सामान्य परिवार के नाम से जानते हैं।

परिवारों को विवाह के आशय से भी कुछ भागों में विभाजित किया जा सकता है। बिना समाजों में परिवार स्थापना के सिद्ध एक समय में एक ही पति या पत्नी प्राप्त करने और रखने का विचार होता है उनको हम एक विवाही परिवार के नाम से जानते हैं। पुनः जहाँ एक ही समय में एक से अधिक पति या पत्नियाँ प्राप्त करने तथा रखने की व्यवस्था होती है उनको हम बहुविवाही परिवार कहते हैं। यदि एक स्त्री के अनेक पति होते हैं तब हम ऐसे परिवार को बहुपति परिवार के नाम से जानते हैं। इसमें भी यदि एक स्त्री के अनेक पति भाई-भाई होते हैं तब हम इसको अतक बहुपति परिवार के नाम से व्यवस्था अतक बहुपति परिवार के नाम से जानते हैं। इसी प्रकार दूसरी ओर एक पुरुष जब एक समय में एक से अधिक पत्नियाँ प्राप्त करता है तथा रखता है तब हम इस परिवार को बहुपत्नी परिवार के नाम से जानते हैं।

जहाँ विवाह के विभिन्न रूपों पर आधारित परिवारों के उदाहरण हमें सामान्य रूप से भारत की अधिकांश आदिमजातियों में मिलते हैं वहीं पर बहुपति परिवार केवल सीमित क्षेत्रों में ही मिलते हैं। उत्तर प्रदेश के आसा तथा मालाबार के ताम्र इस बहुपति परिवार के विशिष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। आसा आदिमजाति में सबसे बड़ा भाई जिस स्त्री से विवाह करता है वह स्त्री परिवार के सभी भाइयों की पत्नी मानी जाती है। जो भाई आत्यावस्था में होते हैं वे भी बड़ होकर पति के रूप में व्यवहार करते हैं। अक्सर छोटे भाइयों की आयु से बड़े भाई की पत्नी की आयु में बहुत अन्तर होने पर उनके लिए दूसरी पत्नी भी लायी जाती है परन्तु वह भी सभी भाइयों की पत्नी होती है। इस प्रकार के पीछे एक विशेष भावना पारिवारिक सम्पत्ति को अविभक्त रखने की है। सबसे बड़ा भाई सारे परिवार का मुखिया होता है और परिवार की सारी सम्पत्ति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। पत्नी पर भी बड़े भाई का ही सर्वाधिक एवं सम्पूर्ण अधिकार होता है। भूमि आसा बिकट परिस्थितियों एवं विपरीत प्राकृतिक वातावरण में अविभक्त स्थापन करते हैं जहाँ उनमें वह प्रकार परिवार के आवासन में जायिक और सामाजिक दोनों संसार पर सहायक होती है। जो इसके सम्बन्धों में निम्नो की कमी, बहुपत्नी की अधिकता, स्त्री की सुखों का विनाश, विवाहपत्र को

बचाना आदि भी बताए जाते हैं। मालाबार के नायर लोगों में बहुपत्नित्व का उदाहरण यौन सम्बन्धों की स्वतन्त्रता के रूप में पाया जाता है। यहाँ विवाह सम्बन्धों के नाम से जाना जाता है और इसको किसी वंश द्वारा नया विवाह करके या बँसे भी समाप्त किया जा सकता है। इनमें परिवार पर विवाह सम्बन्ध का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि थारवाद में प्रत्येक सदस्य को पूरी सुरक्षा प्राप्त है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक स्त्री एक से अधिक पुरुषों से विवाह करने की स्वतन्त्रता थी यद्यपि नये सामाजिक वातावरण में यह प्रथा समाप्तप्राय है। इनके अतिरिक्त मालाबार के इरवान तथा नीलगिरि के टोडा तथा कोटा एब कुर्ग लोगों में भी बहुपति परिवार मिलते हैं। जब कई पुरुष मिलकर कई स्त्रियों से विवाह करने हैं तब ऐसे परिवार को समूह विवाही परिवार के नाम से जाना जाता है।

सदस्यता तथा विवाह के अतिरिक्त परिवार के विभाजन के कुछ अन्य आधार भी हैं। परिवार में प्रमुख सदस्य पिता है या माता इस आधार पर हब पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक परिवार पाते हैं। विवाह के उपरंत पति-पत्नी के निवास स्थान की व्यवस्था के आधार पर पितृस्थानीय मातृस्थानीय, मातुलस्थानीय तथा नवस्थानीय परिवार पाये जाते हैं। सम्पत्ति एवं वंश नाम परम्परा के हस्तांतरण के आधार पर हम मातृवशीय तथा पितृवशीय परिवार पाते हैं।

जहाँ अधिकांश भारतीय आदिमजातियाँ पितृसत्तात्मक पितृस्थानीय एवं पितृवशीय हैं वहीं पर कुछ क्षेत्रों में मातृपक्ष को आज भी प्रमुख स्थान मिलता है। इनमें मालाबार के नायर तथा मेघालय की खासी तथा गारो आदिम जातियों को प्रमुख रूप से देखा जा सकता है। नायर लोगों में परिवार का संचालन एक ज्येष्ठ पुरुष सदस्य कणवान द्वारा होता है परन्तु वह मातृपक्ष का होता है तथा सम्पत्ति एवं वंश परम्परा का हस्तांतरण सर्वत्र मातृपक्ष के सदस्यों में होता है। परिवार में माता की सतानों और केवल स्त्री सतानों की सतानों को सदस्यता मिलती है जो विशुद्ध मातृवशिकता का प्रतीक है। खासी में मातृस्थानीय निवास एवं मातृवशीय वंशानुक्रम मिलता है। स्त्री एवं उसकी सतान परिवार की सदस्यता प्राप्त करते हैं परन्तु परिवार का संचालन माता के हाथ में होता है। सारी सम्पत्ति एवं वंशानुक्रम मातृपक्ष के सदस्यों को ही प्राप्त होता है। सामान्यतया सबसे छोटी लड़की—का खद्दु—परिवार की धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्था का संचालन करती है। गारो में भी वंशानुक्रम मातृपक्ष की ओर से ही चलता है। यहाँ वंशनाम तो सभी सदस्यों को

प्रकट होता है परन्तु सम्पत्ति सम्बन्धों में से किसी एक को ही मिलती है और उस सम्पत्ति को 'अधिकार' के नाम से जाना जाता है। लोकता का चुनाव जाता-मिता यह निर्धार करता है। जहाँ सम्पत्ति का हस्तान्तरण तो मातृपक्ष के ही होता है परन्तु सम्पत्ति की व्यवस्था इसी के प्रति ह्रास की जाती है। लोकता की अधिकारिता ज़रूरी की देखभाल की उसी की जिम्मेदारी होती है।

बंश रक्त-सम्बन्ध पर आधारित दूसरी सामाजिक इकाई है। कई परिवार मिलकर बंश नामक समूह का निर्माण करते हैं। जैसे परिवार बहुविवाही होता है वैसे ही बंश भी बहुविवाही सामाजिक समूह है। इसमें सदस्य एक दूसरे से परिचित और सम्बन्धित होते हुए भी परिवार की अपेक्षा कम निकटता का अनुभव करते हैं। जहाँ परिवार में माता या पिता किसी की भी प्रधानता होने पर बेटों को ही स्थान प्राप्त होता है बंश में किसी एक का ही स्थान होता है अर्थात् या तो कोई अपने पिता के बंश से सम्बन्धित होता है या माता के। एक ही परिवार में दो बंशों के व्यक्ति सदस्य हो सकते हैं। बंश के सदस्य एक दूसरे की सहायता सामान्य एवं सहज रूप से सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह हेतु करते हैं।

गण कई परिवारों या बंशों से मिल कर बनी हुई एक अपेक्षाकृत विस्तृत इकाई है। इसके सभी सदस्य किसी एक पूर्वज से अपने को उत्पन्न मानते हैं और आदिमजातीय समाजों में गण का पूर्वज कोई काल्पनिक व्यक्ति जीव पौधा या जड़ पदार्थ भी हो सकता है। गण सामान्यतया बहुविवाही इकाई है और टोटम के माध्यम से इसके सभी सदस्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। एक निश्चिन्त भौगोलिक क्षेत्र में निवास करना भी इस इकाई के सदस्यों से अपेक्षित है। यद्यपि इस इकाई को अधिकतर आदिमजातियों में पाया गया है परन्तु अज्मान द्वीपवासियों तथा केरल के कादार में यह इकाई नहीं पाई जाती है।

अनेक गोत्रों से मिल कर फटरी (Phratry) नामक सामाजिक इकाई की स्थापना होती है जो कि एक आदिमजाति को कई भागों में बांटती है। जब किसी आदिमजाति में ऐसी केवल दो इकाईयां होती हैं तब इसको अर्धाश (Moisty) के नाम से जानते हैं। ऊपर टोडा से दिये गये उदाहरण के अतिरिक्त मेसालय के बादो में भी शरक एवं लगमा नामक दो अर्धाश समूह मिलते हैं। यह इकाईयां अर्धाश के स्तर पर अतिविवाही तथा फटरी के स्तर पर बहुविवाही पायी जाती हैं।

सबसे ऊपर हमें आदिमजाति नामक समूह मिलता है जो रक्त-सम्बन्ध

के साथ-साथ स्थान पर आधारित सामाजिक इकाई है। इसके सदस्य आपस में एक दूसरे से अपने को सम्बन्धित मानते हैं परंतु यह सम्बन्ध सामाजिक परम्परा से चला आ रहा है इसीलिए माना जाता है। केवल कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर अधिकांश आदिमजातियाँ इस स्तर पर औपचारिक सामाजिक सम्बन्धों की ही व्यवस्था रखती हैं। यह इकाई सामान्यतया एक भाषा, एक क्षेत्र एक नाम एवं अंतर्विवाह के लक्षणों से युक्त है।

स्थान पर आधारित सामाजिक इकाईयों में हम आदिमजातीय समाजों के निवास एवं भ्रमण क्षेत्र को आधार बना कर विभाजन करते हैं। प्रत्येक आदिमजाति के निवास का एक मा. य. परम्परागत भ्रमण क्षेत्र होता है जिसके अंतर्गत वे खाद्य समूह या शिकार के लिए घूमते फिरते हैं। पुनः आदिमजातियों के जो उपसमूह होते हैं उनकी भी निश्चित सीमाएँ निर्धारित रहती हैं। जो समाज कृषि या पशुपालन पर निर्भर करते हैं उनका भी कृषि क्षेत्र या पशु चरागाह के क्षेत्र निर्धारित होते हैं और विभिन्न समूह अपने क्षेत्र के साथ ही अपने को सम्बद्ध करते हैं। इनमें से प्रत्येक की स्वतंत्र एवं परम्परागत सामाजिक आर्थिक एवं राजनतिक जीवन पद्धति होती है। उनके यह समूह सामान्यतया गाँव की इकाई पर आधारित होते हैं। कभी इनका आकार बड़ा होता है जैसे ही मुण्डा ओराव गोण्ड आदि आदिमजातियों में और कभी छोटा जैसे ठोडा अण्डमान द्वीपवासी कादार आदि आदिमजातियों में पाया जाता है। गाँव के बाद हम क्षेत्रीय तथा आदिमजातीय इकाईयाँ पाते हैं। इनमें प्रत्येक इकाई का सामाजिक जीवन एक नियन्त्रित व्यवस्था द्वारा संचालित होता है। प्रत्येक इकाई के सदस्य को इकाई के प्रति कुछ कतव्यों का निर्वाह करना होता है और बदल में इकाई के माध्यम से उसको सामाजिक स्तर तथा आर्थिक स्थिरता प्राप्त होती है।

हमें लिंग एवं आयु पर आधारित सामाजिक इकाईयाँ भी मिलती हैं। चूँकि विभिन्न आयु वर्ग के सदस्यों की समस्याएँ और भावनाएँ अलग-अलग होती हैं अतः आदिमजातीय समाजों में आयु वर्ग पर आधारित अनेक इकाईयाँ मिलती हैं। इसी प्रकार स्त्री एवं पुरुष बालक एवं बालिका किशोर एवं किशोरी वर्ग के सदस्यों के लिए भी अलग-अलग समूहों की व्यवस्था मिलती है। पूर्वी भारत में नागालैण्ड के कोम्पाक नागाओं में हमें किशोरों एवं किशोरियों के लिए मोरुंग तथा यो नामक अलग-अलग इकाईयाँ मिलती हैं। यद्यपि इन इकाईयों की सदस्यता के लिए अविवाहित होना भी आवश्यक है। यही आओ-नागा में गाँव के युवा वर्ग के सदस्यों को अविवाहित होते हैं

राजि को गांव की सीमा के पास सस्य करण करके बिबाह करते हैं ताकि किसी भी बाजमय का सामना नुरन्त कर सकें। वे गांव की सुरक्षा समिति के रूप में कार्य करते हैं। इसी प्रकार जोराव में भी विवाहित किछोरों एवं किछोरियों की अलग-अलग सामाजिक इकाइयाँ हैं। जो अपने गांव वालों की विभिन्न अवसरों पर अथवा गृह निर्माण फलल कार्त्तमें विवाह आदि में सामूहिक रूप से सहायता करती हैं।

आयु पर आधारित इकाइयों का सबसे अच्छा और व्यवस्थित उदाहरण हमें जाओ नागा में मिलता है। वहाँ बारह से बीसह वर्ष की आयु प्राप्त करने पर प्रत्येक बालक को मोरुग नामक कुमार गृह की सदस्यता प्राप्त करनी पड़ती है। इस वर्ग के सदस्य 'नोजबरीहोरी' कहलाते हैं और इन्हें आयु तथा अनुभव की परिपक्वता के कारण अपरिपक्व दल के रूप में माना जाता है। यह अपने से बरिष्ठ वर्ग के सदस्यों की सेवा करते हैं तथा उनसे आदिमजातीय परम्पराओं तथा मान्यताओं की शिक्षा ग्रहण करते हैं। तीन वर्ष तक इस प्रकार प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद इन सदस्यों को तुकपबहोरी वर्ग में पहुँचा दिया जाता है जिसकी ये अब तक सेवा करते रहे थे और अब यह स्वयं परिपक्व दल में माने जाते हैं। यह नये सदस्यों को प्रशिक्षण देने लगते हैं। अब यह विवाह कर सकते हैं तथा इनके लिए मोरुग में सोना आवश्यक नहीं है। पुन तीन वर्षों तक परिपक्व दल में रहने के बाद यह 'बूचनबहोरी' वर्ग के सदस्य बन जाते हैं जो कि मोरुग का नेता दल होता है। इसके तीन वर्ष बाद यह ओकचनशमी चरीबोरी' वर्ग में आ जाते हैं जिनको मोरुग की दावती में सुअर की टाँग का भाँस मिलता है। इस अवधि में भी ये मोरुग का नेतृत्व करते रहते हैं। इसके तीन वर्ष बाद ये किदोगमबग वर्ग में आ जाते हैं जो गाँव के सम्मानित सदस्यों का वर्ग है। अब मोरुग का कोई कार्य इनके पास नहीं रह जाता है। तीन वर्ष बाद यह सोनरी वर्ग में प्रवेश पाते हैं जो बलि के लिए बोझा ढोने वाले मजदूरों का प्रबन्ध करता है। बलिभाँस का कुछ भाग इनको भी मिलता है। पुन तीन वर्षों बाद यह 'तलारी' वर्ग में प्रवेश पाते हैं जो गाँव की प्रबन्ध समिति का कार्य करते हैं। गाँव के वृद्ध लोगों के परामर्श से गाँव का प्रशासन चलाना इनका काम है। इस प्रकार जाओ—नागा में प्रत्येक पुरुष अपनी आयु के बढ़ने के साथ-साथ गाँव के सर्वोच्च वर्ग तक पहुँचने में समर्थ होता है। इस वर्ग के बाद यह 'बाओजम्बोतेसका' 'माओजम्बोतेसका' व 'पातिर' बनकर शेष जीवन बिताते हैं।



आयु एवं लिंग दोनों पर समान रूप से आधारित होने विभिन्न आदिम-जातियों के युवागृह मिलते हैं। इन युवागृह नामक इकाइयों में लड़कियों के लड़कियों को एक निश्चित आयु (चार पाँच वर्ष) के बाद सदस्य बनना और वहाँ की गतिविधियों में प्रतिदिन सम्मिलित होना आवश्यक होता है। भारतीय आदिमजातियों में युवागृह की उपस्थिति अधिकांश स्थानों पर पायी जाती है। इनमें से मध्य प्रदेश के मुडिया गोड लोगों में 'गोतुल' नामक युवागृह इस प्रदेश के बग का सर्वोत्तम उदाहरण समझा जा सकता है। प्रत्येक मुडिया बालक और बालिका के लिए गोतुल में शाम को आना आवश्यक है। यहाँ वे आयु और अनुभव के आधार पर वरिष्ठ तथा कनिष्ठ सदस्य के रूप में जाने जाते हैं। वरिष्ठ सदस्य जहाँ एक और कनिष्ठ सदस्यों को पारम्परिक लोक कथाओं पहिलियों सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं लोक गीतों द्वारा पारम्परिक संस्कृति की शिक्षा प्रदान करते हैं वहीं पर उनसे विभिन्न संवाए भी प्राप्त करते हैं। वरिष्ठ सदस्यों में से गोतुल के संचालन के लिए अधिकारियों का चुनाव किया जाता है। जहाँ सबसे प्रमुख अधिकारी एक किशोर ही होता है वहीं पर बाकी सभी पदों पर किशोर और किशोरियों की अलग-अलग नियुक्ति होती है। यहाँ किशोर सदस्यों को चेलिक तथा किशोरी सदस्यों को मोतियारी के नाम से जाना जाता है। मोतियारी का काय चेलिक बग के सदस्यों की मालिश करना बाल काटना तथा उनके साथ नृत्य आदि करना है। वरिष्ठ सदस्य कनिष्ठ सदस्यों को यौन सम्बन्धों की शिक्षा भी प्रदान करते हैं। यौन शिक्षा इस इकाई का एक महत्वपूर्ण काय है। यद्यपि अब गोतुल समाप्ति की ओर है। पिछले दो दशकों में शिक्षा के विकास, मनोरंजन के नये साधनों से सम्पक बाहरी लोगों द्वारा इस संस्था को यौन सम्पक के केन्द्र रूप में समझना और इसकी गतिविधियों में भाग लेकर यहाँ की भावना और पारम्परिक क्रियाओं को नष्ट करना इस इकाई के ह्रास के प्रमुख कारण समझ जा सकते हैं। विकास कार्यों के बहुमुखी क्रियान्वयन के दौरान बाहरी लोगों से जो सम्पक हुआ है उसने भी नये सामाजिक एवं नतिक मानदण्डों का विकास किया है जिनके कारण इनको हीनता की दृष्टि से देखा जाने लगा है और नई पीढ़ी इससे विमुख हो रही है।

उपलब्ध इकाइयों के साथ-साथ हम और भी ऐसी सामाजिक इकाइयाँ पाते हैं जिनके माध्यम से मनुष्य अपने कर्तव्यों को पूरा करने तथा निबाहने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिए मनोरंजन, राजनीतिक गतिविधियाँ आर्थिक क्रियाओं से सम्बद्ध इकाइयाँ भी सामाजिक ढाँचे का बाहरी कलेवर

तैयार करने में बहुसंख्यक स्थान रखती हैं। आदिवासीय समग्र से मिले-जुलें रहे इस सामाजिक ढाँचे का रूप समय-समय पर स्थानीय रूप से उत्पन्न आवश्यकताओं एवं समस्याओं के साथ-साथ कुछ न कुछ बदलता रहता है। उदाहरण के लिए कहीं एक बिवाही परिवार का प्रचलन हो सकता है तो कहीं बहुबिवाही परिवार का, कहीं आर्थिक एवं सामाजिक स्तर भारत की ओर से हस्तांतरित होता है तो कहीं पिता की ओर से किसी किन्ना को एक जगह स्त्री द्वारा सम्पादित किया जाता है तो दूसरी जगह पुरुष द्वारा जादि-आदि। परन्तु कुछ मिलाकर यह ढाँचा समाज के सहज संचालन के लिए आधारभूत पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा इसके अन्तर्गत स्थानीय मान्यताओं एवं परम्पराओं को स्थापित एवं विकसित होने में सहायता मिलती है।

कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ और समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं कि किसी समाज के लिए अपनी पुरानी मान्यताओं एवं परम्पराओं में आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता आ पड़ती है। बहुधा अधिकांश समाज इसे सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाते हैं तथा उनका सामाजिक ढाँचा लड़खलाने लगता है। भारतीय आदिमजातियों के सामने इस समय यही स्थिति आ खड़ी हुई है और स्वतंत्रता के बाद की बदलती हुई परिस्थितियों में शासन एवं सुधारक संस्थाओं द्वारा इनके जीवन को शेष राष्ट्र की विकास गति के साथ जोड़ने के प्रयत्नों ने इनके सामाजिक ढाँचे को सकलेश्वर डाला है। इस समस्या पर हम अग्रज विचार करेंगे।

सामाजिक इकाइयों के अतिरिक्त सामाजिक संगठन को पूरकत्व प्रदान करने में उन तमाम संस्थाओं का सहयोग होता है जो इस इकाइयों वाले ढाँचे को गति प्रदान करती हैं। हमने पहले देखा है कि इस प्रकार की सामाजिक संस्थाओं में विवाह नाते रिश्तेदारी शिक्षा सम्पत्ति टोटम तथा टैबू आदि आते हैं।

विवाह इन संस्थाओं में विशेष स्थान रखता है। विवाह भारतीय आदिमजातियों की एक ऐसी संस्था है जो उनके जीवन के अनेक पक्षों यथा सामाजिक आर्थिक मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि को प्रभावित करती है। यहाँ विवाह के पीछे आर्थिक एवं सामाजिक पक्षों की प्रमुखता होती है, क्योंकि आदिमजातीय अर्थव्यवस्था में स्त्रियों का बहुत अधिक सहयोग होता है। वे खाद्य स्रष्टृ व कृषि के अतिरिक्त दस्तकारी में भी कुशल होती हैं। दूसरी ओर, परिवार की स्थापना के लिए भी विवाह की आवश्यकता है। यी तो आदिमजातीय समाज में भी विवाह के साथ अनेक धार्मिक विधि-

विधान एव कियाएँ सम्बद्ध रहती हैं परन्तु वे सामाजिक परम्पराओं के अधिक प्रभावित हैं और इस प्रकार धर्म का विवाह के साथ अभिष्ट सम्बन्ध नहीं मिलता है। जहाँ तक शारीरिक यौन आवश्यकताओं का प्रश्न है विवाह के बाद यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है परन्तु बिना विवाह किए भी और विवाह करने के बाद भी आदिमजातीय समाजों के इस विषय में काफी उदार परिस्थितियाँ बिचार और व्यवहार मिलते हैं। ऊपर हम आदिमजातीय समाजों के युवा सगठनों में यौनशिक्षा की व्यवस्था देख चुके हैं। चूँकि इस शिक्षा से यौन सम्बन्धी शारीरिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती रहती है अतः विवाह के साथ इस भावना का प्रभाव या सम्बन्ध गौण ही रहता है। हम इन समाजों में विवाह के बाद भी इस विषय में पर्याप्त स्वतन्त्रता पाते हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले की खासा आदिमजाति में विवाह के बाद पति के घर रहते हुए पत्नी को यौन सम्बन्धों में कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है और इस समय उसको राँती के नाम से जाना जाता है। परन्तु जब वह अपने पिता के घर वापस आती है और जहाँ उस ध्याती के नाम से जानते हैं वह यौन सम्बन्धों में पूर्ण स्वतन्त्र हाती है। उत्तर प्रदेश तराई की थारू स्त्रियाँ सुदरता के साथ-साथ विवाहेतर यौन सम्बन्धों की स्थापना की स्वतन्त्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। कोन्याक नागा में भी लड़कियाँ विवाह के बाद अपने प्रेमियों से शारीरिक सम्बन्ध रखती हैं और यदि इस सम्बन्ध के द्वारा सतान भी प्राप्त होती है तो उसे सहजतापूर्वक स्वीकार किया जाता है। परन्तु इन स्वतन्त्रताओं के साथ-साथ कहीं हमें विशेष परिस्थितियाँ अपराध बर्तन की वृद्धि भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए बस्तर के माडिया गाँव में हत्या एवं आत्महत्या के अपराधों के पीछे अनपेक्षित यौन सम्बन्ध ही प्रमुख कारण हैं। अभी सन् 1972 में ही (बहा की गोड लड़कियों के साथ) बलाढीला योजना में कार्य कर रहे अन्य क्षेत्र के लोगों से काफी सख्या में शारीरिक एवं अद्वैतात्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण उत्पन्न असंतोष को शांत करने के लिए तत्कालीन जिलाधीश द्वारा उन लड़कियों का सम्बन्धित व्यक्तियों से सामूहिक विवाह कराया गया था। यद्यपि स्थानीय आदिमजातीय महापंचायत तथा नवयुवक इससे विशेष सन्तुष्ट नहीं हैं और फिर यह भी नियम बनाया गया कि यहाँ पर बाहर से आये हुए लोगों के घर स्थानीय गोड युवतियाँ बरेलू नौकरों के रूप में न रखी जाय ताकि इस प्रकार के सम्बन्धों की सम्भावना कम हो सके। गोड लोगों में विवाह के बाद अन्य पुरुषों से शारीरिक सम्बन्धों को लेकर

बहुधा तलाक की स्थिति उत्पन्न ही जाती है। इसी आधार पर चाहीं तथा सुझाई नागा आदिमजातियों में भी तलाक दिया जाता है। यों विवाह के साथ सन्तान प्राप्ति की भावना बिल्कुल रूप से सम्बद्ध है और इसको हम मनोवैज्ञानिक, आर्थिक एवं आर्थिक तीन पक्षों से देख सकते हैं। पति-पत्नी को विवाह सम्बन्धों से सन्तान प्राप्ति होने पर बहुत बड़ी आत्मतुष्टि एवं प्रसन्नता मिलती है जो कि मानव की सहज मनोवैज्ञानिक आकांक्षाओं की पूर्ति है। दूसरी ओर यह भी विश्वास हमें यदा-कदा मिलता है कि बच्चे प्राप्त होना ईश्वर की कृपा का प्रतीक है। यद्यपि सन्तान प्राप्ति के साथ मोक्षप्राप्ति की भावना आदिमजातीय समाज में नहीं मिलती थी परन्तु पड़ोसी हिन्दुओं के सम्पर्क के साथ-साथ यह भी कहीं-कहीं मिलने लगी है। विवाह के बाद पत्नी यदि सन्तान न उत्पन्न कर सके तो उसे तलाक दिया जा सकता है और इसके पीछे मुख्य कारण बच्चों का आर्थिक दृष्टिकोण से उपयोगी होना है। आदिमजातीय समाजों में जहाँ हर व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य करते हुए अर्थों पार्जन का प्रतीक माना जाता है वहाँ सन्तान न होना आर्थिक दृष्टिकोण से हानिप्रद है।

अब हम भारतीय आदिमजातियों में प्रचलित विभिन्न विवाह प्रथाओं अर्थात् पत्नी प्राप्त करने के तरीकों का अवलोकन करेंगे। भारतीय आदिम जातीय समाज में परम्परागत चली आ रही विवाह प्रथाओं को आठ भागों में बाँटा गया है—

- (1) परीक्षा विवाह (Probationary Marriage)
- (2) हरण विवाह (Marriage by Capture)
- (3) परीक्षा विवाह ( , Trial)
- (4) क्रय विवाह ( , Purchase)
- (5) सेवा विवाह ( , Service)
- (6) विनिमय विवाह ( , Exchange)
- (7) सह पलायन विवाह ( , Elopement)
- (8) हठ विवाह (Intrusion marriage)

परीक्षा विवाह के अन्तर्गत भावी पति को कुछ समय तक भावी पत्नी के घर पर साथ-साथ रहकर एक दूसरे का स्वभाव समझने और समन्वय स्थापित करने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि इस बीच दोनों सन्तुष्ट रहते हैं तो विवाह कर दिया जाता है अन्यथा लड़का अपने घर वापस चला जाता है। परन्तु विवाह न करने की स्थिति में लड़के को लड़की के अवि-

भावको को कुछ नकद धन देना पड़ता है। यह प्रथा असम की कुकी आदिम-जाति में पायी जाती है।

हरण विवाह के अन्तर्गत वर पक्ष के सदस्य आभी बधू को जबरदस्ती ले आते हैं। यद्यपि अब शिक्षा एवं न्याय सम्बन्धी नियमों के प्रसार के साथ-साथ इस प्रथा में कमी आ रही है। वैसे इस प्रथा का विकास आर्थिक कारणों से हुआ है। चूँकि अधिकांश आदिमजातियों में शारीरिक श्रम ही आर्थिक उत्पादन का साधन है अतः पत्नी प्राप्त करने के लिए 'कन्या मूल्य' देने की प्रथा पायी जाती है क्योंकि एक सदस्य के बढ़ने से घर की आय बढ़ेगी और जहाँ से सदस्य कम होगा वहाँ की आय घटेगी। जब धन की कमी और कन्या मूल्य की अधिकता के कारण लोग इसे अदा करने में असमर्थ रहते हैं तब वे जबरदस्ती पत्नी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। नागा, गोंड, हो भील आदि आदिमजातियों में यह प्रथा पायी जाती है। कभी-कभी जैसे भूमिज आदिमजाति में यह हरण परस्पर दोनों पक्षों की स्वीकृति के साथ होता है जिसमें कन्या पक्ष की ओर से केवल साकेतिक विरोध किया जाता है। खडिया, सथाल, मुण्डा तथा बिरहोर आदि आदिमजातियों में लडका अपनी प्रेमिका लडकी को जब ब्याहने में असफल रहता है। तब किसी समय मेले आदि में उसके माथे पर सिद्धर लगाकर हरण का संकेत करता है। इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा किये गये सम्बन्धों को बाद में सामाजिक स्वीकृति दे दी जाती है।

परीक्षा विवाह में विवाह योग्य लडकों को मेले आदि के अवसर पर शारीरिक क्षमता और शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ता है। भील आदिमजाति में इस प्रथा का बड़ा अच्छा और मनोरंजक उदाहरण मिलता है। यहाँ होली के अवसर पर होने वाले सावजनिक मेले में एक स्थान पर लकड़ी का खम्बा पृथ्वी में गाड़ दिया है और उसके ऊपरी सिरे पर गुड़ और नारियल बाँध देते हैं। इस खम्बे के चारों ओर एक घेरे में लडकियाँ और उनके बाद दूसरे व बाहरी घेरे में लडके नाचते हैं। इस नृत्य के दौरान लडके एक एक करके लडकियों वाला भीतरी घेरा तोड़कर खम्बे पर चढ़ने, नारियल तोड़ने व गुड़ खाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न के दौरान लडकियाँ उनको ऐसा करने से रोकती हैं और रुकावट के लिए शारीरिक शक्ति के जतिरिक्त लडकों के कपड़ फाड़ने, बाल नोचने, काटने डण्ड या झाड़ू से मारने के सभी प्रयत्न करती हैं। यद्यपि कोई भी रुकावट देखावट नहीं डाली जाती है वही उनका इरादा कुछ विशेष शक्ति पहुँचाने का होता है। इसके बाद भी जो नवयुवक

सफल हो जाता है उसे वहाँ जहाँ में नाक रही किसी भी लड़की को अपनी पत्नी के रूप में चुनने का अधिकार होता है और उस लड़की को वह सुरक्षित अपने साथ ले जा सकता है। इस प्रथा को वहाँ स्थानीय रूप से 'गोल गैडो' के नाम से जाना जाता है।

कन्या विवाह के अन्तर्गत विवाह के इच्छुक युवक को मायी पत्नी प्राप्त करने के लिए एक निश्चित मूल्य अर्थात् करना पड़ता है और इस मूल्य को 'कन्या मूल्य' या 'सन्तान मूल्य' के रूप में लिया जाता है। यह मूल्य नकद या सामग्री या दोनों रूपों में हो सकता है। इस मूल्य का वह अर्थ कदापि नहीं है कि इस प्रकार वहाँ लड़कियों को खरीदा जा बेचा जा सकता है बरन इस मूल्य द्वारा वह संकेत दिया जाता है कि लड़कियों का समाज में समुचित स्थान है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि आदिमजातीय समाज में लड़कियाँ भी उत्पादन के कार्य में पुरुषों के समान ही पायी जाती हैं अतः उनकी आर्थिक उपादेयता के प्रतीक रूप में यह मूल्य देने की प्रथा निर्धारित की गयी है। यदि कोई स्त्री विवाह के बाद अपने पति को छोड़ती है तो पति को कन्या मूल्य वापस मिलता है। यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और इस आधार पर उसको उसका पति तलाक देखा है तब भी कन्यामूल्य वापस किया जाता है और यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे सन्तान मूल्य के नाम से संबोधित करना पसन्द करते हैं। यह अवश्य है कि कुछ आदिमजातियों में इसके आर्थिक पक्ष को अधिक प्रभावशाली न दिखाने के लिए सांकेतिक मूल्य ही लिया जाता है अथवा रंगमा नागाओं की भाँति निश्चित कन्या मूल्य से कुछ कम धन देते हैं। परन्तु दूसरी ओर हो जैसी आदिमजातियाँ भी हैं जहाँ कम कन्या मूल्य मान्यता या स्वीकार करना हीनता का प्रतीक है। यह प्रथा हम सधाल ओराँव खडिया गोड कूकी भील आदि अनेक आदिमजातियों में पाते हैं।

सेवा विवाह भी कन्या विवाह के परिणाम स्वरूप ही विकसित हुई विवाह प्रथा है। जब कोई युवक अपने लिए पत्नी प्राप्त करने के लिए समुचित कन्या मूल्य जुटाने में असफल रहता है तब एक स्थिति यह भी मान्य होती है कि विवाहेच्छुक युवक अपने मायी स्वसुर के घर एक निश्चित अवधि तक नौकरी करता है और इस प्रकार की नौकरी की अवधि में वह सभी काम करता है जो घर के लड़के को करने होते हैं इस प्रकार जो पैसा मजदूरी का बनाता है उससे कन्या मूल्य चुका कर विवाह किया जाता है। अधिकतर

की पुरम आदिमजाति में तीन वर्ष की अवधि तक यह सेवा काय करना पड़ता है। जौनसार बाबर के खासा लोगो में भी नेपाल के गोरखा लोगो को एक निश्चित अवधि तक मजदूर रखकर उनके साथ अपनी लडकी की शादी कर देने की प्रथा पायी जाती है। गोड बगा कूकी, अथमोल आदि आदिमजातियो में भी यह प्रथा पायी जाती है। बिरहोर में स्वसुर अपने भावी दामाद को कन्यामूल्य चुकाने के लिए कर्ज दे देता है जो कि बाद में धीरे-धीरे चुका दिया जाता है। जब तक कर्ज समाप्त नहीं होता है लडके को अपने स्वसुर के ही यहाँ रहकर काम करना पड़ता है।

विनिमय विवाह एक और ऐसी ही प्रथा है जिसमे कन्यामूल्य देना न देना बराबर होता है। इस प्रथा के अंतर्गत दो परिवार परस्पर एक एक लडके लडकी की बदला बदली कर लेते हैं। अर्थात्—एक परिवार की लडकी दूसरे परिवार में बहू बन कर जाती है और दूसरे परिवार की लडकी पहले परिवार में बहू बन कर आ जाती है। यह प्रथा खासी आदिमजाति में निषिद्ध है जबकि अधिकांश अन्य आदिमजातियो में इसको स्वीकृति प्राप्त है।

सह पलायन विवाह के अन्तर्गत जब लडका लडकी आपस में प्रेम करने लगते हैं और विवाह भी करना चाहते हैं परन्तु किसी कारण से जैसे कन्यामूल्य न दे पाने के कारण या माता पिता की स्वीकृति न मिलने के कारण विवाह नहीं कर पा रहे होते हैं तब वे मिल कर पूर्वनिर्धारित कार्य क्रम के अनुसार गाँव से दूर भाग जाते हैं। कुछ समय बाद वापस आने पर उनके विवाह को सामाजिक मान्यता प्रदान कर दी जाती है। हो, मुण्डा, सथाल आदि आदिमजातियो में इस प्रथा का प्रचलन मिलता है।

हठ विवाह के अंतर्गत जब किसी लडकी का विवाह नहीं हो रहा होता है या विवाह तय होने के बाद लडके के पक्ष की ओर से टाल मटोल होने लगती है तो लडकी एकाएक किसी दिन अपनी भाभी ससुराल चली जाती है। उसके इस प्रकार घर में घुस आने का कड़ा विरोध किया जाता है। उसे घर से बाहर निकालने के अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। कभी-कभी कठोर व्यवहार और मारपीट भी की जाती है और इस पर भी जो लडकी टिकी रहती है उसको अततो गत्वा स्वीकार कर लिया जाता है। यह प्रथा हो आदिमजाति में अनादरविवाह के नाम से जानी जाती है। सथाल तथा बिरहोर आदिमजातियो में भी इसका प्रचलन पाया जाता है।

भारतीय आदिमजातियो में विवाह के सभी प्रकार पाये जाते हैं। विवाहित साथियो की सख्या के आधार पर हम यहाँ एकविवाह और बहु

विवाह दोनों प्रकार पाते हैं। बहुविवाह में बहुपतिविवाह तथा बहुपत्नी विवाह दोनों का प्रचलन है। इससे सम्बन्धित परिवारों में इसका विस्तृत विवरण हम पहले कर चुके हैं अतः यहाँ हम इन आदिमजातियों में विवाह सम्बन्धी कुछ प्राथमिकताओं तथा भिन्नताओं का अवलोकन कर सकते हैं। आदिम-जातीय समाजों में स्त्रीय मान्यताओं के अनुरूप कुछ विशिष्ट सम्बन्धों के बीच विवाह सम्बन्ध करना अपेक्षित तथा कभी-कभी आवश्यक सा होता है। उदाहरण के लिए बस्तर के माडिया गोड में ममेरे तथा फुकेरी माई बहनों के बीच विवाह होना आवश्यक है। यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध को स्वीकार करने से इन्कार करता है तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। त्रिगसन महोदय ने बस्तर के माडिया गोड पर लिखी पुस्तक में 54% विवाह इस श्रेणी के अन्तर्गत पाये हैं। इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध खडिया और ओरॉव में भी पाये जाते हैं। मणिपुर की कुकी आदिमजाति में केवल ममेरी बहन से विवाह किया जा सकता है। यहाँ इस प्रकार के विवाह 75% तक पाये गए हैं। खासी में पिता की मृत्यु के बाद फुकेरी बहन से विवाह किया जा सकता है। कादार जनजाति में भी फुकेरी बहन से विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इसी प्रकार पति या पत्नी की मृत्यु पर देवर अथवा साली से विवाह करने को भी अभिमान्यता दी जाती है। इस विवाह द्वारा दो व्यक्तियों के बजाय दो परिवारों के बीच घनिष्ठता एवं सम्बन्धों की स्थापना को महत्व दिया जाता है। बहुविवाह में भी कई माई एक पत्नी या कई बहनें एक ही पति प्राप्त करके इस प्रकार का सम्बन्ध बनाती हैं।

दूसरी ओर कुछ विवाह सम्बन्ध ऐसे भी हैं जो निषिद्ध बताए गये हैं। उदाहरण के लिए एक ही गण के सदस्य आपस में विवाह नहीं करते हैं। इस प्रकार के विवाह का निषेध हम गोड बगा हो कोरवा ओरॉव नागा, खासी आदि तमाम आदिमजातियों में पाते हैं।

कभी कभी आदिमजातीय समाजों में कुछ बेमेल विवाह प्रथाएँ भी पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए गारो आदिमजाति में बामाव अपने ससुर की मृत्यु के बाद अपनी सास से विवाह कर लेता है। चूँकि भाई की मृत्यु के बाद सम्पत्ति पुत्री को हस्तान्तरित होती है अतः उस सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए बामाव अपनी सास से विवाह कर लेता है। यदि सास किसी और व्यक्ति से विवाह कर ले तो वह व्यक्ति उसकी सम्पत्ति को ध्वंस कर सकता है।

नाते रिस्तेदार विवाह के साथ सम्बन्धित होते हैं। इनसे परिवार की स्थापना और विस्तार होता है। इस प्रकार नाते रिस्तेदार सामाजिक संगठन



के बीच के प्रमुख अंग हैं। अनुष्य अपने समाज की विभिन्न इकाइयों के सदस्यों को जिस माध्यम से एक दूसरे से बाँधे रखता है उसे हम नातेदारी प्रथा के रूप में पाते हैं। यह बंधन और सम्बन्ध हमें सभी समाजों में, आधुनिक एवं आदिमजातीय, समान रूप से उपस्थित मिलते हैं परन्तु आदिमजातीय समाजों में इनका अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली और क्रियात्मक पक्ष मिलता है।

नातेदारी के सम्बन्ध दो प्रकार से स्थापित होते हैं एक तो विवाह द्वारा और दूसरे सतानोत्पत्ति द्वारा। विवाह द्वारा स्थापित सम्बन्ध सीधे-सीधे पति पत्नी और उनके माध्यम से उनके अनेक अन्य नातेदारों के बीच होते हैं। इन तमाम सम्बन्धों को विवाह जनित सम्बन्ध और ऐसे सम्बन्धियों को विवाहजनित सम्बन्धी कहते हैं। सतानोत्पत्ति द्वारा स्थापित सम्बन्ध माता पिता एवं बच्चों तथा उनके माध्यम से अन्य सम्बन्धियों के बीच स्थापित होते हैं। यह सम्बन्ध मातवशीय एवं पितवशीय समाजों में क्रमशः माता व बच्चों एवं पिता व बच्चों के बीच स्थापित होते हैं और इनको रक्त सम्बन्धी कहते हैं। यहाँ भी यदि जविकीय दृष्टिकोण से देखा जाय तो ब्रूँकि भ्रूण माता के गर्भ में विकसित होता है अतः रक्त सम्बन्ध तो केवल माता के पक्ष से ही होना चाहिए परन्तु यहाँ पर सामाजिक मान्यता का महत्त्व कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए पितवशीय समाजों में बहुविवाही परिवारों में कई पतियों में से कौन सा पति बालक के जन्म के लिए उत्तरदायी है अथवा गोद लिये पुत्र का कौन जविक पिता है इसका इस पर कोई प्रभाव नहीं है। यहाँ तो समाज द्वारा स्वीकृत पिता ही उस बालक का रक्त सम्बन्धी होगा और उसके माध्यम से अन्य अनेक और रक्त सम्बन्धी होंगे।

नातेदारी के सम्बन्धों का सामाजिक जीवन और संगठन पर सबसे विस्तृत प्रभाव नातेदारी प्रथाओं के माध्यम से मिलता है। हमें समाज की विभिन्न इकाइयों के स्तरों पर विभिन्न सम्बन्धियों के बीच एक निर्धारित प्रकार के सम्बन्धों या व्यवहारों का प्रचलन मिलता है। इन व्यवहारों को हम नातेदारी प्रथाओं के नाम से जानते हैं। इनमें से कुछ नातेदारी प्रथाएँ विशेष रूप से प्रचलित हैं और सार्वभौमिक रूप से मिलती हैं। इन्हें हम निम्न लिखित भागों में बाँट सकते हैं।

- 1 निषधार्थक सम्बन्ध प्रथा
- 2 परिहास सम्बन्ध प्रथा
- 3 श्लेतात्मक सम्बन्ध प्रथा
- 4 मामा अधिकार सम्बन्ध प्रथा

### 5. कुलाधिकार सम्बन्ध प्रथा

#### 6. विवाहसमय के उदाहरण सम्बन्ध प्रथा

निषेधात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत अत्यंत समाज में कुछ ऐसे सम्बन्ध होते हैं जिनके बीच सम्बन्ध कभी-कभी हट तक संयमित रहे जाते हैं। कभी-कभी तो उनको परस्पर बात करना भी मना होता है। ऐसे सम्बन्धों में मुख्य रूप से बहू व सास-ससुर के बीच, बहू व जेठ के बीच, मामा व सास के बीच के सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। यों कभी-कभी भाई बहन जैसे निकट सम्बन्धियों के बीच भी कुछ निषेध मिलते हैं। जण्डमान द्वीपवासियों में बड़ा भाई छोटे भाई की पत्नी से बात नहीं करता है।

इसके विपरीत कुछ ऐसे सम्बन्ध भी मिलते हैं जहाँ दो सम्बन्धी परोपकार निकटता तथा आत्मीयता से हँसी मजाक कर सकते हैं। इन सदस्यों के सम्बन्धों को परिहास सम्बन्धों के अन्तर्गत रखते हैं। ऐसे सम्बन्ध देवर-भाभी, बीजा-साली मामा मामी व भोज के बीच पाये जाते हैं। इन सम्बन्धों में हसि मजाक के लिए छेड़ छाड़ गाली देना शारीरिक सम्बन्धों के संकेत देना, धोलाघृष्ण करना आदि भी सम्मिलित है। कभी कभी इस प्रकार के सम्बन्धियों के बीच शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाते हैं और विवाह भी हो जाते हैं। ओराँव हो बगा, आदि आदिमजातियों में इसके उदाहरण मिलते हैं। शरत चन्द्र राय ने ओराँव में बाबा-पोती एवं बैरियर एल्विन ने बैगा में दादी-पोते में विवाह के उदाहरण दिए हैं।

कुछ ऐसे सम्बन्ध भी होते हैं जिनको सीधे न सम्बोधित करके किसी के माध्यम से सम्बोधित किया जाता है अथवा कुछ सम्बन्धियों का नाम नहीं लिया जाता है। इसमें पत्नियों द्वारा पति जेठ और, सास ससुर का नाम न लेने की प्रथा है। पति को सम्बोधित करते समय बन्धुओं के पिता या देवर-नवद के भाई के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इन्हें हम संकेतात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत रखते हैं। हिन्दू स्त्रियाँ अपने पति का नाम सामान्यतया नहीं लेती हैं। खासी आदिमजाति में भी इस प्रथा के उदाहरण पाये जाते हैं।

कुछ समाजों में मामा का अपने भोज भोजियों पर विशेष अधिकार होता है। मामा उनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाह-सम्बन्ध आदि का प्रबन्ध करता है और सामाजिक स्थिति में वह भोज भोजियों के पिता के भी ऊपर माना जाता है। यहाँ तक कि मामा की सम्पत्ति भोजों की ही उत्तराधिकार के प्राप्ति होती है। इस प्रकार के सम्बन्धों को मामा अधिकार सम्बन्ध कहते हैं। खासी तथा खासी आदिमजातियों में इसके उदाहरण मिलते हैं।

इसी प्रकार कही कही बुआ अधिकार सम्बन्ध मिलते हैं। इसमें बुआ को अपने भतीजे भतीजियों पर वही अधिकार होते हैं जो भासा को भासा अधिकार सम्बन्धों में भाँजे भाँजियों पर होते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ समाजों में एक विभिन्न प्रथा मिलती है जिसमें कुछ अवसरों पर जैसे प्रसवकाल में पति ऐसे व्यवहार करता है मानो उसने स्वयं बच्चे को जन्म दिया हो। वह प्रसव वेदना तथा उसके बाव के व्यवहारों का अभिनय सा करता है। वह काय करना बन्द कर देगा चारपाई पर सेटा रहेगा तथा शिशु जन्म से सम्बन्धित उन तमाम निषधों का पालन करेगा जो कि उसकी पत्नी के लिए निर्धारित है। इस व्यवहार द्वारा पति पत्नी के कष्ट में प्रतीक रूप से संवेदना का प्रदर्शन करता है। टोडा खासी हो तथा ओरांव आदिमजातियों में इसके उदाहरण मिलते हैं।

इस प्रकार की विभिन्न सम्बन्ध प्रथाओं के अतिरिक्त हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्बोधन शब्दों के अध्ययन द्वारा भी तत्सम्बन्धित समाज की प्रथाओं को जानने का प्रयत्न करते हैं। यह सम्बोधन शब्द वर्णनात्मक एवं वर्गात्मक दो प्रकार के होते हैं। वर्णनात्मक सम्बोधन शब्द सम्बोधित व्यक्ति के सम्बोधनकर्ता से सम्बन्ध को स्पष्ट बताते हैं और यह शब्द किसी एक व्यक्ति के लिए ही प्रयोग किए जाते हैं जैसे पिता माता आदि। परंतु यदि ऐसे सम्बोधन शब्द हों जिनसे एक शब्द द्वारा अनेक व्यक्तियों को सम्बोधित किया जा सके जैसे भाई चाचा आदि तब इन्हें वर्गात्मक सम्बोधन शब्द कहते हैं। यह सम्बोधन शब्द विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों एवं प्रथाओं के विश्लेषण में सहायक होते हैं।

इस नातेदारी के अध्ययन द्वारा हम किसी भी मानव समाज के सामाजिक ढाँचे के क्रियात्मक पक्ष का अध्ययन करने में सफल होते हैं। इसके द्वारा हम जानते हैं कि अमुक समाज में किन सम्बन्धियों का कैसा स्तर और स्थान है। यह किसी भी समाज के सदस्यों के व्यावहारिक सम्बन्धों को अत्यन्त स्पष्ट करता है और इस प्रकार उस समाज के सहज संचालन का बोध कराता है।

शिक्षा का तात्पर्य आदिमजातीय समाज में सामाजिक प्रशिक्षण से होता है और इसीलिए इनके सामाजिक संगठन में पायी जाने वाली शिक्षण संस्थाएँ हमारे समाज की शिक्षण संस्थाओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं। भारतीय आदिमजातियों में शिक्षा सामाजिक सम्पर्क एवं वातावरण से ही जाती है। बचपन में बच्चे घर पर माता पिता से अनुशासन, बड़ों के प्रति सम्मान,

खोज करने के तरीके, बहुकार्य के निष्पन्न आदि सीखते हैं। इसको सिखाने के लिए वहाँ आज के आधुनिक कहे जाने वाले समाज की शक्ति कोई अलग शिक्षण संस्थाएं नहीं होती हैं। वहाँ तो घर और परिवार के सदस्य ही शिक्षण संस्था, शिक्षक और शिक्षार्थी का कार्य करते हैं। इस प्रकार आदिमजातीय समाज की प्रारम्भिक शिक्षा बच्चों की इस प्रकार तैयार करती है कि वे अपने समाज में सहज रूप से सम्मिलित हो सकें। दैनिक जीवन के व्यवहार प्रकारों या संस्कृति की शिक्षा आदिमजातीय समाज की प्रमुख देन है। इसके बाद जैसे ही बच्चे थोड़े बड़े होने लगते हैं उनको एक स्वतन्त्र, कर्तव्यपरायण एवं आत्मविश्वास युक्त सामाजिक सदस्य बनाने की शिक्षा युवा संस्थाओं अथवा पारिवारिक कार्यों में सहयोग देने से शुरू हो जाती है। पहले हम इन युवागृहों के विषय में सामाजिक इकाई के रूप में बता चुके हैं। यहाँ पर आदिमजातीय समाज के अपेक्षाकृत वरिष्ठ सदस्य कम आयु वाले सदस्यों को कथाओं लोक वाताओं पहेलियाँ खेलों त्योहारों भेलों सामाजिक कार्यों नृत्य-गान आदि के माध्यम से अपनी संस्कृति की शिक्षा प्रदान करते हैं। यहाँ बच्चे यह सीखते हैं कि शिकार कमे किया जाता है किसी बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा कैसे की जाती है किन किन पशुओं पक्षियों का शिकार करना चाहिए किनका नहीं खेती कैसे की जाती है, मकान कैसे बनाये जाते हैं मछली मारने के कौन कौन से तरीके हैं किस अवसर पर कैसे नृत्य किया जाता है कौन कौन से परम्परागत गीत हैं और उनका क्या अर्थ है समाज के तमाम सदस्यों एवं वर्गों से उनका क्या सम्बन्ध है और इस प्रकार जीवन के आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक आदि तमाम पक्षों की शिक्षा यहाँ मिलती है। यही कारण है कि आदिमजातीय समाज के संगठन को समझने के लिए उनकी इन युवा संस्थाओं के औसिक पक्ष का अध्ययन अत्यंत उपयोगी पाया गया है।

सम्पत्ति भी आदिमजातीय समाज में बड़ा आर्थिक ढाँचे के सामाजिक ढाँचे के अधिक निकट है। यहाँ सम्पत्ति प्राप्त करना और एकत्रित करना उस रूप में नहीं मिलता है जैसा कि हमारे आधुनिक कहे जाने वाले समाज में है। वे सम्पत्ति एकत्रित भी करते हैं तो सुरक्षित व्यवहार के लिए। यहाँ सामान्यतया व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर सामूहिक एवं सामाजिक सम्पत्ति का स्थान श्रेष्ठ होता है। सम्पत्ति यहाँ के सामाजिक संगठन के क्षम वितरित सम्बन्ध है। टीडा में हम तमाम चरामाहा तथा मैसों के संग्रहों को भोजन की सम्पत्ति के रूप में पाते हैं। किसी भी बड़े पशु का शिकार होने पर

उसका अंश पूरे समूह की सम्पत्ति है। मछलियों का विकार सामूहिक रूप से किया जाता है। यद्यपि आधुनिक समाजों से सम्पर्क तथा शासकीय विषयों की सुविधा के लिए भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में आ रही है, परन्तु अभी भी वन चरागाह तालाब आदि सामाजिक सम्पत्ति हैं और भूमि पर भी व्यक्ति के बजाय पारिवारिक एवं सामाजिक परम्पराओं का अधिकार ही अधिक प्रभावशाली है। नागा आदिमजाति के सदस्य आज भी अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने तथा नेता या मुखिया पद को प्राप्त करने के लिए बड़ी-बड़ी दावते देते हैं और हमसे तमाम सचित सम्पत्ति बाँट देते हैं। सम्पत्ति का हस्तांतरण कैसे किया जाता है इसके अध्ययन से भी हमें विभिन्न सामाजिक इकाईयों की स्थिति का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए इसके नियमों का अध्ययन हमें यह जानने में सहायता देता है कि अमुक समाज मातृवशीय है या पितृवशीय है अथवा दोनों पक्षों का समान प्रतिनिधित्व करता है। किसी सदस्य की विशेष सामाजिक स्थिति का भी ज्ञान इससे होता है जैसे टोडा में पारिवारिक पशुओं के विभाजन में सबसे छोटे व सबसे बड़े लड़के को अन्य लड़कों की अपेक्षा एक पशु अधिक मिलता है।

सम्पत्ति के हस्तांतरण के सदन में गारो आदिमजाति का उदाहरण अत्यन्त उपयोगी है। यह लोग मातृवशीय होने के कारण सम्पत्ति के उत्तराधिकार में केवल लड़कियों को ही भाग्यता प्रदान करते हैं। परिवार की सम्पत्ति को विभाजित होने से रोकने के लिए किसी एक लड़की को बहुधा सबसे छोटी लड़की को सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में चुना जाता है। उस लड़की को नोकना के नाम से जानते हैं। इस लड़की का विवाह जिस व्यक्ति से होता है उसे नोक्रोम के नाम में सम्बोधित करते हैं। नोक्रोम ही पारिवारिक सम्पत्ति का कर्ता धर्ता होता है। इस प्रकार सम्पत्ति का हस्तांतरण मातृपक्ष में होते हुए भी उसका संचालन पुरुष पक्ष द्वारा होता है। खासी आदिमजाति में भी सम्पत्ति मातृपक्ष में हस्तांतरित होती है। परन्तु यहाँ माता ही सम्पत्ति की देखभाल करती है और पुरुष पक्ष का इसमें कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु सम्पत्ति का उपयोग पूरे परिवार की देखभाल के लिए होता है न कि व्यक्तिगत स्वाध्याय के लिए। आदिमजातीय समाज में सम्पत्ति का पारिवारिक एवं सार्वजनिक हित में प्रयोग होना ही इसके सामाजिक संगठन की एक विशेषता है।

आदिमजातीय सामाजिक संगठन में हम टोटम का एक विशिष्ट स्थान पाते हैं। जहाँ भी हमें टोटम मिलता है वहाँ एक गणस्तरीय सामाजिक

संघटन भी अवश्य मिलेगा। सामाजिकता का लक्ष्य टोटम साध-साध पाये जाते हैं परन्तु टोटम की स्वतन्त्र व्यवस्थिति भी मिलती है। टोटम से हमारा तात्पर्य एक ऐसे प्राकृतिक जड़ पदार्थ, जीव या पौधे से है जिसके आकार पर एक सामाजिक समूह का नामकरण होता है और उस समूह के सदस्य अपने को टोटम का पक्षज मानते हैं। उसको अलौकिक ईश्वरीय शक्तियों का प्रतीक भी माना जाता है। वे यह भी मानते हैं कि इस वस्तु प्रवतक के द्वारा उनको संकट या अशुभ घटनाओं से सुरक्षा मिलती है। इसके गष्ट होने या मृतावस्था को प्राप्त करने पर सामूहिक रूप से शोक मनाया जाता है। इसको खाना या मारना निषिद्ध होता है। परन्तु कुछ विशेष अवसरो, पूजा, त्योहार आदि पर इसका सेवन किया जा सकता है। इसके प्रतीको को आभूषणों के रूप में पहना जाता है अथवा उनके आकार को मोदने के रूप में शरीर पर धारण किया जाता है। इनके प्रति श्रद्धा आस्था व्यक्त करने एवं इनके विकास के लिए पूजा प्रार्थना की जाती है। सामान्यतया एक टोटम समूह के सदस्य बहिर्बिवाही होते हैं अर्थात् वे अपने समूह के बाहर विवाह करते हैं। यो इसे एक सयुक्त सामाजिक तथा धार्मिक समूह के रूप में देखा जा सकता है परन्तु भारतीय आदिमजातियों के सभ में केवल इसका सामाजिक पक्ष ही अधिक प्रबल और विकसित मिलता है। यहाँ मध्य क्षेत्र की 'प्रोटो आस्ट्रे लायड आदिमजातियों में इस संस्था के सामाजिक पक्ष का सर्वोत्कृष्ट विकास मिलता है। भारतीय आदिमजातियों में अधिकांशतः टोटम बहिर्बिवाही गण समूहों से सम्बद्ध है यद्यपि हम अतिबिवाही गण समूह भी पाते हैं।

टैबू एक और ऐसी संस्था है जिसका हम आदिमजातीय सामाजिक संगठन में काफी प्रभाव पाते हैं। इस शब्द का आरम्भ पालीनेशियन शब्द टाबू (Tabu) में हुआ है। जिसका अर्थ है निषेध करना और निषिद्ध। इस प्रकार इस शब्द के अन्तर्गत वे सारे नियन्त्रण और निषेध आते हैं जिनको समाज के सहज संचालन के लिए सदस्यों पर लागू किया जाता है। प्रत्येक आदिमजातीय समाज में दैनिक कार्यकलापों को नियन्त्रित करने के लिए हर सदस्य के कर्तव्यों एवं अधिकारों में एकलपता लाने के लिए विभिन्न आयु एवं लिंग वर्ग के सदस्यों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए तथा आर्थिक क्रियाओं और श्रम विभाजन के लिए अनेकानेक ऐसे निषेध होते हैं जिनका पालन करना आवश्यक होता है। यह सभी निषेध किसी लिखित कानून के अभाव में केवल मौखिक आदेशों और परम्पराओं के रूप में सदस्यों को मिलते हैं परन्तु फिर भी प्रत्येक सदस्य सामान्यतया इनका पालन अवश्य करता है।

भारतीय आदिमजातियों में हम टैबू का प्रचलन सामान्य रूप से पाते हैं और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक निषेधों का प्रयोग मिलता है। यह निषेध तत्संबन्धित समाज की सांस्कृतिक स्वाधीनता का निर्धारण करते हैं। इनका प्रचलन अन्धविश्वासों सामाजिक मान्यताओं धार्मिक क्रियाओं व्यक्तियों सामग्रियों एवं स्थानों की सुरक्षा के लिए भी पाया जाता है। छोटा नागपुर बिहार की ओराबे आदिमजाति में स्त्रियों को हल छूने का निषेध है। नीलगिरी के टोडा लोगो में डरी से सम्बन्धित कार्य स्त्रियाँ नहीं करती हैं। इसी प्रकार यौन सम्बन्धों एवं सामाजिक सम्बन्धियों के व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध मिलते हैं। बिहार की सयाल आदिमजाति में निवटाभिगमन (Incest) का निषेध है जिसके उल्लंघन पर बिटलहा नामक औपचारिक प्रदर्शन द्वारा अपराधी सदस्य को समाजव्युत्त किया जाता है। डा० धीरेन्द्रनाथ मजूमदार के मतानुसार इन निषेधों के प्रति सम्मान एवं भय की मात्रा आधुनिक शिक्षा एवं सामाजिक वातावरण के कारण कम होती जा रही है। यों जब तक इन समाजों में शिक्षा एवं विज्ञान का समुचित प्रसार न हो जाय हम इन निषेधों को समाज के सहज संचालन एवं नियन्त्रण के लिए अत्यन्त उपयोगी पाते हैं।

यदि हम इस सस्था की कार्यविधि देखें तो पाते हैं कि इन निषेधों का पालन कराने के लिए अथवा इनके उल्लंघन पर दण्ड देने के लिए किसी प्रकार की अतिरिक्त व्यवस्था आदिमजातीय समाजों में नहीं पायी जाती है। जब किसी व्यक्ति से किसी निषेध का उल्लंघन हो जाता है तो वह स्वयं ही उसके लिए अपेक्षित दण्ड को स्वीकार कर अपने आप पर वह दण्ड लागू कर लेता है। इस प्रकार यह सस्था अलौकिक एवं धार्मिक विश्वासों के रूप में समाज के नियमों को प्रतिपादित करती है। आदिमजातीय समाज के सदस्य इस विषय में आश्वस्त हैं कि किसी भी निषेध का उल्लंघन करने पर दण्ड स्वयमेव मिलेगा। वे इसके द्वारा जहाँ समाज को संचालित करने के लिए एक सहज माग प्रदान करते हैं वहीं पर साथ साथ यह उनके लिए निबन्ध और कानून का कार्य भी करता है। यद्यपि निषेधों के पालन करने या न करने का प्रभाव समाज के अन्तर्गत सदस्यों तथा समाज के सामूहिक हित या अहित पर पड़ता है परन्तु इसको लागू करने की जिम्मेदारी व्यक्तिगत सदस्यों पर ही है।

यह निषेध विभिन्न अवसरों के सदर्थ में उत्पादक, रक्षात्मक या निषेधात्मक हो सकते हैं। हम इस प्रकार के अनेक निषेध टोटप के सदर्थ में भी

पाते हैं। टोटल के साथ सम्पूर्ण सुरक्षा तथा उसके सहज की बनाए रखने के लिए अनेक नियम जुड़े रहते हैं। कुछ मिलाकर इन नियमों की उपयोगिता समाज की सहज इन से अनुशासित और संचालित रखने के लिए प्रतीत होती है।

इस प्रकार उपरोक्त विविधता हमें यह जानने में सहायता देती है कि आदिमजातीय समाज के सामाजिक संगठन का निर्माण अनेक इकाइयों तथा संस्थाओं को मिला कर होता है। जहाँ एक ओर इकाइयों के माध्यम से संगठन के शारीरिक ढाँचे का अस्थि आधार तैयार होता है वही संस्थाओं के माध्यम से उसमें मांस, रुधिर आदि प्रदान कर उसको गति प्रदान की जाती है।





## भारत में आदिमजातीय राजतन्त्र एवं प्रशासन

संगठन में शक्ति होती है किंतु शक्ति का नियंत्रण एवं बिघटनकारी तत्वों का दमन प्रत्येक संगठन के लिए आवश्यक होता है। राजनीति का उदभव भले ही राज्य की सकल्पना से जुड़ा हुआ हो किंतु प्रत्येक स्तर के संगठन में उपयुक्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ नीतियों के निर्धारण की व्यवस्था पाई जाती है। यही नीतियाँ अतत्तोगत्वा सहयोगिता एवं सहकारिता की आधारशिला बनती है। आदिवासियों के राज्यविहीन संगठनों में भी हमें आधुनिक प्रजातन्त्र एवं समाजवाद जसी अवस्थाएँ दृष्टि गोचर होती हैं। बाह्य रूप से अनियंत्रित एवं उद्दड़ समझे जाने वाले इन समुदायों का संगठन भी कुछ ठोस नीतियों पर आधारित होता है—भले ही हम उन्हें मान्यता देने के पक्ष में न हों।

यदि हम किसी ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें किसी प्रकार की राजनैतिक संगठन व्यवस्था का राज्य व्यवस्था न हो तो उसका स्वरूप एक ऐसे वृद्ध परिवार के समान होगा जिसमें किसी भी प्रकार के संगठित उपविभाग न हों। ऐसे समाज में वायु तथा जल पर आधारित अंतर पथे जायेंगे तथा कुछ आर्थिक अनुष्ठानों के विशेषज्ञों का बर्त होमा। कुछ अत्यन्त सरल सामाजिक जीवन व्यतीत करने वाले समाजों में इस कल्पित अवस्था से मिलती जुलती व्यवस्था मिल सकती है अन्वया वर्तमान समय में पृथ्वी के किसी भी भाग में ऐसी सामाजिक व्यवस्था के उदाहरण नहीं प्राप्त होते।

सामाजिक मानवशास्त्रियों ने मत तीस पैंतीस वर्षों में आदिम समाजों के अध्ययन में अपने प्रत्यक्ष निरीक्षणों के आधार पर उनमें राजनैतिक गठन के स्वरूपों का अध्ययन किया है। अपने इन अध्ययनों में उन्होंने राजनीतिशास्त्र में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धांतों की ओर ध्यान न देते हुये अधिकांश आदिम समाजों के आंतरिक एवं बाह्य सम्बन्धों के नियंत्रण के निष्पत्तिक आधारों को खोजने के प्रयास किये हैं। आदिवासियों में जहां किसी प्रकार की नियमित राज्य व्यवस्था का अभाव मिलता है उनके राजनैतिक गठन के अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अतर्गत नियमित राज्य व्यवस्थाओं के अध्ययनों के समान ही महत्वपूर्ण साबित हुये हैं। इन शासक विहीन आदिमजातियों के अध्ययन भी राजनैतिक प्रक्रियाओं के मूलभूत आधारों के सम्बन्ध में उसी प्रकार से महत्वपूर्ण निष्कर्षों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने हैं जैसे सचिवालयों के द्वारा निर्मित राज्य व्यवस्थाओं के अध्ययन से राजनैतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये ये अध्ययन जिन्हें अब राजनैतिक मानवशास्त्र की सज्ञा दी जाने लगी है वास्तव में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र में मानवशास्त्र का एक महत्वपूर्ण योगदान है। किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्तारहित राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में राजनीतिशास्त्र में अध्ययनों का अभाव है और ऐसी व्यवस्थाओं से सम्बन्धित राजनैतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण उनके अपने अध्ययनों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। नेतृत्व का अध्ययन एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र है जो कि सामाजिक मानवशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र दोनों का ही अध्ययन विषय रहा है। राजनैतिक जीवन में भाग लेने वाले लोगों में नेतृत्व का अध्ययन तथा जनमत के निर्धारण में उसके महत्व तथा उचित नीति निर्धारण में उसके योगदान आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें राजनैतिक संगठन के अध्ययनों के राजनीतिशास्त्र की वांछित मानवशास्त्र का भी महत्वपूर्ण योगदान

रहा है। राजनीतिशास्त्र के एक जर्मन विद्वान ओपेनहीमर ने आदिवासियों के संबंध में चर्चा करते हुये लिखा है कि वे समाज आधुनिक सुसंगठित राज्य-व्यवस्था वाले समाजों के पूर्वज हैं—जो पूर्वतया अराजकता की दशा में हैं (Anarchic antecedents of state proper)। परन्तु आदिवासियों ने अपने अध्ययनों से यह स्पष्ट कर दिया है कि आदिमसमाजों के सरलतम स्वरूपों में आधुनिक राज्य व्यवस्था के तुल्य व्यवस्था पाई जाती है। वास्तव में कर्मचारीवर्ग के द्वारा अत्यंत विशिष्ट एवं जटिल पद्धतियाँ तथा बौद्धिक प्रतियोगिता पर आधारित अत्यंत सुगठित विधि-व्यवस्था द्वारा नियंत्रित आधुनिक राज्य व्यवस्था आदिमसमाजों की राजनैतिक व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है जिनका संचालन परंपराओं पर आधारित होता है और जिनमें क्रियाशील राजनयिक बौद्धिक आकलन एवं दूरदर्शिता के आधार पर कार्य न करके स्वभाव एवं अपनी आदतों के अनुसार ही कार्य करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आदिमसमाजों में भी राजनैतिक क्षेत्र में जो भी गतिविधियाँ होती हैं उनके पीछे भी परंपराओं के पथप्रदर्शन में बौद्धिक चिंतन एवं वादविवाद की आधारशिला होती है। परन्तु उनके इन बौद्धिक प्रयत्नों को आधुनिक राजतंत्र में कोई विशेष मान्यता नहीं दी जाती। यद्यपि उद्विकासवादी दृष्टिकोण को आज की विचारधारा में आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता फिर भी उद्विकासवादियों के विचारों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि आधुनिक राजतंत्र की जटिल व्यवस्था के बीज हमें आदिमसमाजों की राजनैतिक व्यवस्था में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए मागन के अनुसार राज्य एक नैसर्गिक मानव संस्था है और इसे गण व्यवस्था का स्वतः विकसित रूप कहा जा सकता है।

इसी प्रकार रिमट के अनुसार भी प्रारम्भ में राज्य का जन्म खास संग्रहों के बहिर्विवाही स्थानिक समूहों से हुआ।

### राजनैतिक संगठन

राजनैतिक संगठन एवं राज्य की अवधारणाओं की परिभाषा कुछ इस प्रकार से दी जा सकती है कि इनमें केवल विस्तृत क्षेत्रों तथा जटिल प्रशासन वाले समुदायों को ही सम्मिलित किया जा सके। राजनीतिशास्त्र में वस्तुतः इन अवधारणाओं की विवेचना इसी सदन में की जाती है। परन्तु मानव-शास्त्रीय अध्ययनों ने अब निश्चित रूप से स्पष्ट कर दिया है कि राजनैतिक व्यवहारों की कोई न कोई व्यवस्था लगभग सभी मानव समाजों में पाई जाती

है। ग्लोबमैन ने ठीक ही कहा है कि ट्रिकोमिया आदिमजाति में पाखीनेसिक्क द्वीप समूहों में रहने वाले हजारों विवाधियों का संगठन संभव लगता ही नहीं है जिससे कि संघन बाहर के निवासियों का संगठन है। आदिमसमाजों में अनेक आदिमजातियों के लोग साक्ष संग्रहण की अव-व्यवस्था के अंतर्गत किसी एक स्थाई स्थल पर निवास करके भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु एस्किमो, आस्ट्रेलिया के आदिवासी एवं अठमान द्वीप समूह निवासी भी किसी एक निश्चित क्षेत्र पर अपने स्वामित्व का दावा करते हैं और साधारणतया उनके भ्रमण अपने ही क्षेत्र की सीमाओं में ही होते हैं। इन क्षेत्रों के अधिक साधनों का प्रयोग भी सुनिश्चित नियमों से नियंत्रित होता है। इसी प्रकार से किसी एक क्षेत्र के धावेदार समूह तथा उसके पड़ोसी अन्य समूहों के बीच संबंधों का नियंत्रण भी सुनिश्चित नियमों के आधार पर ही होता है। ऐसे समाज जिनमें कृषि अपनी प्रारंभिक अवस्था में है अथवा शिकार इत्यादि तथा स्थानांतरण पद्धति पर खेती की आवश्यकताओं के कारण लोगों का स्थिर रूप से किसी एक स्थान पर रहना संभव नहीं हो पाता इन्हें देखकर भी ऐसा आभास होता है कि इनमें स्पष्ट रूप से क्षेत्र निर्धारित नहीं होते। परन्तु विविध निरीक्षणों से ज्ञात होता है कि इन सदस्यों में आपस में तथा इनके पड़ोसियों के निर्धारित क्षेत्र होते हैं तथा इनसे संबंधित स्पष्ट नियम होते हैं। इन समाजों में अपनी सुरक्षा एवं पड़ोसियों के अतिक्रमण को दृष्टि में रखते हुये एक व्यवस्थित संगठन होता है। यही नहीं यहाँ तक कि विभिन्न परिस्थितियों में नीति निर्धारण के लिए नेतृत्व भी पाया जाता है। परिवार प्रमुख के अतिरिक्त कुछ विशेष व्यक्तियों को सीमित परिमाण में कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त होते हैं, जिनका प्रयोग समाज के सामान्य हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। इन विशिष्ट व्यक्तियों के गुणों एवं अथ क्षमताओं से संबंधित अन्तर भिन्न भिन्न समाजों में हो सकते हैं परन्तु लगभग सभी समाजों में इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है।

अतः प्रत्येक संस्कृति में राजनैतिक व्यवहारों के गठन के कुछ सुनिश्चित नियम पाये जाते हैं। इन्हीं नियमों के द्वारा प्रत्येक संस्कृति में एक राजनैतिक संरचना का निर्माण होता है। यदि इन नियमों को हम कर्तव्यों एवं अधिकारों के गठन के रूप में देखें तो इन नियमों द्वारा निर्मित संरचना की स्पष्ट रूप से पर्यावरण से संबंधित किया जा सकता है। प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में पर्यावरण जहाँ एक ओर राजनैतिक व्यवस्थाओं के साधन उपलब्ध करता है, वहाँ दूसरी ओर राजनैतिक व्यवस्थाओं को सीमित भी करता है। सभी राजनैतिक

सरचनाओं के नियम पर्यावरणीय परिस्थितियों के दबाव से समाज की सुरक्षा में सहायक होते हैं। प्रत्येक संस्कृति, समुदाय के सदस्यों द्वारा अपनी परिस्थितियों से अनुकूलन का एक विशिष्ट प्रयास होती है। राजनैतिक संगठन इसी सुसंगठित प्रयास का एक अंग होता है।

प्रत्येक समाज रक्त संबंधी लिंग आयु धर्म व्यवसाय आदि आधारों पर विभिन्न उप-समूहों में विभाजित होता है। ऐसे सभी समूहों के सदस्यों में तथा समूहों में परस्पर संबंधों को व्यवस्थित रखने के लिए कुछ नियमों एवं नियंत्रणों की आवश्यकता होती है। समाज में इन नियमों एवं नियंत्रणों की व्यवस्था को ही राजनैतिक संगठन कहा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में राजनैतिक संगठन उसकी संस्कृति का वह अंग है जो कि समाज के सदस्यों की गतिविधियों का निदेशन एवं नियंत्रण समाज के हितों एवं सुरक्षा को ध्यान में रखकर करता है। जैसा कि पहले समझा जाता था यह आवश्यक नहीं है कि राज्य के स्तर में ही राजनैतिक शब्द का प्रयोग किया जाये। आदिम समाजों में मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों में अब यह स्पष्ट हो चुका है कि केन्द्रीय सत्ताविहीन आदिमजातीय समाजों में हम राज्य की बात तो नहीं कर सकते किन्तु एक सुनिश्चित राजनैतिक गठन का अभाव इनमें नहीं होता। किसी भी राजनैतिक संरचना में निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक होता है—

1 एक समुदाय—जिसकी परिधि में उसके सदस्यों की कुछ विशेष मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर की जाने वाली गतिविधियों का नियंत्रण होता हो।

2 किन्हीं विशेष गुणा तथा आधारों पर चुने गये समाज का एक अथवा कुछ सदस्य जिन्हें इस नियंत्रण एवं निदेशन का उत्तरदायित्व प्राप्त हो। इन्हें राजनीतिज्ञ कहा जा सकता है।

3 समुदाय के सामान्य हितों को ध्यान में रखते हुये गतिविधियों के निदेशन एवं नियंत्रण में संचालित कुछ नियम।

मानवशास्त्री जब आदिम समाजों में राजनैतिक संगठन का अध्ययन करते हैं तो उपयुक्त तत्वों की विवेचना एवं विश्लेषण ही उनके अध्ययनों का मुख्य आधार होता है। सभी आदिम समाजों में आवश्यक रूप से उपर्युक्त तत्वों का समावेश पाया जाता है।

कीसिंग ने राजनैतिक संगठन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि यह एक ऐसी सांस्कृतिक व्यवस्था होती है जिसके द्वारा किसी क्षेत्र में निवास करने वाले समूह के सदस्य अपने अधिकारों को प्राप्त करते हैं तथा

परस्पर सहयोगी सेवाओं तथा श्रेणीय सुरक्षा के लिए संगठित होते हैं।" अर्थात् राजनैतिक संगठन की स्वरूप प्रमुख विशेषताओं का उन्होंने उल्लेख किया है—

1 एक समूह की सामान्य सदस्यता तथा सदस्यों का समूह के प्रति विश्वासपात्र होना।

2 सभी सदस्यों की एक समान परंपरा एवं प्रतीकों के प्रति निष्ठा।

3 सामूहिक नियंत्रण एवं कथंवाक्य के लिए एक आंतरिक प्रशासन।

4 बाह्य संबंधों की कोई व्यवस्था।

नाडेल ने विशेष रूप से लघु समुदायों में राजनैतिक संगठन की विशेषताओं पर विचार व्यक्त करते हुये कहा है— 'जैसा कि हम आदिमजातियों में पाते हैं यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनन्त समुदाय के लोग आंतरिक शांति एवं बाह्य आक्रमण अथवा युद्ध के विरुद्ध संगठित होते हैं।

होबेल ने भी राजनैतिक संगठन की व्याख्या करते हुये बताया है कि समाज में किसी प्रकार के प्रशासन के अभाव में भी कानून हो सकता है परन्तु बिना किसी प्रकार के कानून के हम किसी प्रशासन की कल्पना नहीं कर सकते। कानून राजनैतिक संगठन का ही एक परिणाम है। अतः राजनैतिक संगठन प्रशासन की अपेक्षा एक बृहत् अवधारणा है तथा यह राज्य का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। राज्य एक विशिष्ट सामाजिक घटना है जबकि राजनैतिक संगठन एक सामान्य सामाजिक घटना है। राज्य का संगठन प्रशासन के लिए किया जाता है जबकि राज्य राजनैतिक संगठन का आवश्यक परिणाम नहीं होता।

अतः राजनैतिक संगठन प्रत्येक संस्कृति का एक अंग होता है। यह एक सार्वभौमिक सामाजिक घटना है। चाहे कोई संस्कृति सरल अथवा जटिल हो प्रत्येक संस्कृति के सदस्यों में राजनैतिक संगठन के कुछ सामान्य कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए—

- 1 समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों से संबंधित सबसामान्य आदर्शों का निर्धारण
- 2 सत्ता एवं शक्ति का वितरण
- 3 आपसी झगड़ों एवं मतभेदों का निराकरण
- 4 समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहारों के मानदण्डों का पुनः निर्धारण
- 5 सार्वजनिक कार्यों के लिए सामूहिक सहयोग का संगठन
- 6 धार्मिक संस्कारों का उत्तरदायित्व

## 7 व्यापार विनियम आदि का संगठन इत्यादि ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है—राजनीतिशास्त्रियों की भांति मानव शास्त्री राजनैतिक संगठन की अवधारणा के विश्लेषण में राज्य को एक आवश्यक अंग नहीं मानते । जहाँ आदिम समाजों में हम निश्चित रूप से किसी न किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था अवश्य पाते हैं वहाँ उनमें राज्य का सिध्दिततम रूप भी अक्सर नहीं पाया जाता । इसीलिए मानवशास्त्री राज्य विहीन एव राज्य के आधार पर संगठित समाजों में भेद स्थापित करते हैं ।

प्रत्येक राजनैतिक संगठन समाज के बृहद् सामाजिक संगठन का ही एक अंग होता है—अपितु इन दोनों में अंतर स्थापित किया जा सकता है । आधुनिक बृहद् समाजों में तो ये भेद अत्यंत स्पष्ट हो जाते हैं क्योंकि राजनैतिक संगठन अपनी जटिलताओं के साथ साथ राज्य जैसे संगठनों के रूप में उभर कर सामने आ जाता है किन्तु आदिमजातियों जैसे लघुसमाजों में ये अंतर उतने स्पष्ट नहीं हो पाते और यही कारण है कि इन राज्यों में किसी प्रकार का राजनैतिक संगठन पाया ही नहीं जाता । वास्तव में प्रत्येक संस्कृति में व्यक्तियों के विभिन्न अनुकूलनीय प्रयासों में जहाँ स्वयं व्यक्तियों के बीच अनुकूलन का प्रश्न आता है वही सामाजिक संगठन का जन्म होता है । इस क्षेत्र में अनुकूलन स्थापित करने के लिए व्यक्ति परस्पर तीन प्रकार के समूहों में संगठित होते हैं । एक तो वे समूह जिनका उद्देश्य शुद्ध रूप से सामाजिक जीवन के अस्तित्व को कायम रखने का होता है दूसरे वे समूह जिनका उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं को संचालित करने का होता है तथा तीसरे वे समूह जिनका उद्देश्य नियंत्रणात्मक होता है । उसी समाज के ही व्यक्ति इन तीनों उद्देश्यों से संगठित विभिन्न समूहों के नायक होते हैं—किन्तु वास्तव में इनके परिणाम स्वरूप तीन भिन्न भिन्न उद्देश्यों पर आधारित संगठनों का जन्म हो जाता है । इन संगठनों के बीच किसी प्रकार की स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती किन्तु भिन्न भिन्न उद्देश्यों पर आधारित होने के कारण व्यावहारिक रूप से इनका विश्लेषण अलग अलग किया जा सकता है । अपने सरलतम स्वरूप में लघु समाजों में भी हमें नियंत्रणात्मक उद्देश्यों पर आधारित समूहों का गठन किसी न किसी रूप में मिलता है इसे ही राजनैतिक संगठन की सझा दी गई है । किसी भी समाज में राजनैतिक क्रिया सामाजिक क्रिया से अलग नहीं होती । उदाहरण के लिए वे नियम जो नियंत्रण के लिए निर्धारित किये जाते हैं, समाज में आर्थिक क्षेत्र तथा परिवार आदि के क्षेत्रों में होने वाली

विविधता के विषय नहीं हो सकती। उनके विपरीत लोगों के व्यवहारों के सम्बन्ध कम होते तथा उनसे संबंधित विविधताओं का विषय कम हो, इससे विविध समाज के अन्य क्षेत्रों में लोगों की मान्यताओं के अनुरूप ही होता है।

विविध परिस्थितियों के अनुरूप दो प्रकार के राजनैतिक संगठनों का उल्लेख किया जा सकता है। एक दो लघु समुदायों की राजनैतिक संरचनाओं को अन्तर्केन्द्रित होती है। दूसरी वे राजनैतिक संरचनाएँ जो अधिकांशतः बृहद् समुदायों का अंग होती हैं एवं अपने प्रभाव क्षेत्र में जाने वाले लघु समुदायों की राजनैतिक संरचनाओं को अपने प्रभाव में सम्मिलित किये हुये होती हैं। इनके राजनैतिक क्षेत्र एवं समतार्य अपेक्षाकृत परिवर्धित होती हैं। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासनकाल में असम के पहाड़ी स्थलों में सीमावर्ती क्षेत्रों में अधिकांश ऐसे क्षेत्र थे जिनका विधिवत शासन ब्रिटिश प्रशासन के द्वारा नहीं होता था। उदाहरण के लिये सन् 1830 में तत्कालीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उड़ीसा में खोड पबली जंगल के भारी प्रशासन के सम्बन्ध में काफी बड़ा विवाद हुआ। इस समय तक खोड आदिमजाति के लोग राजनैतिक आधार पर ब्रिटिश शासन के अंग नहीं थे। उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर खोड लोगो का राजनैतिक संगठन प्रथम प्रकार का था तथा ब्रिटिश राजनैतिक संगठन द्वितीय प्रकार का था।

जब ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं कि बृहद् समाज के सशक्त राजनैतिक संगठन की परिसीमा में लघु समाजों के अन्तर्केन्द्रित संगठन हो तो इन दोनों प्रकार के राजनैतिक संगठनों में सम्बन्धों के तीन भिन्न रूप पाये जाते हैं। बृहद् स्तर के संगठन स्वयं लघुस्तर के संगठनों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना चाहे-यह एक परिस्थिति हो सकती है। उपर्युक्त उदाहरण में ब्रिटिश प्रशासन ने खोड लोगो के जीवन में राजनैतिक हस्तक्षेप न करने का फैसला किया था क्योंकि उनके संपूर्ण क्षेत्र के प्रशासन में जितना व्यय होता उतनी आवश्यकता होने की संभावना नहीं थी। परन्तु कालांतर में उन्हें प्रचलित नर-बलि को रोकने के मानवीय एवं नैतिक दृष्टिकोण से उनके राजनैतिक जीवन में हस्तक्षेप करना उचित समझा। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति में निरन्तर विभिन्न प्रशासन कार्यालय करने की अपेक्षा समय-समय पर शक्ति के द्वारा हस्तक्षेप करके खूट करवा अधिक लाभप्रद समझा जाता है। नागा क्षेत्रों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बाद भी काफी समय तक ब्रिटिश प्रशासन के राजनैतिक हस्तक्षेप का बड़ी रूप रहा।



तीसरी परिस्थिति में बृहत् सगठन योजनाबद्ध रूप से स्वयं शक्ति का प्रयोग न करते हुये मधु सगठनों को अपने अन्तर्गत सम्बद्ध करने का प्रयास करते हैं। ऐसी परिस्थितियों में आर्थिक अथवा राजनैतिक लाभ की भावना इस प्रयास का उद्देश्य नहीं होती। व्यावहारिक रूप से इन प्रयासों का परिणाम आमूल परिवर्तन होता है। आज लगभग सभी विकासशील राष्ट्र इसी भावना को अपनाते हैं। भारतवर्ष में इस समय स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ब्रिटिश प्रशासन काल की सैकड़ों वर्षों से उपेक्षित आदिमजातियों के प्रशासन के सम्बन्ध में इसी भावना में प्रयास किये गये हैं और योजनाबद्ध रूप में किये गये इन प्रयासों का समय-समय पर मूल्यांकन भी किया जाता रहा है। उपनिवेशवादी युग के बाद आज लगभग सत्तार के उन सभी क्षेत्रों में, जहाँ ये दोनों प्रकार के राजनैतिक सगठन एक दूसरे के सम्मुख हैं इसी भावना के सदर्थ में उनके सम्बन्ध होते जा रहे हैं।

### आदिमजातियों में राजनैतिक सगठन

किसी भी समाज में राजनैतिक सगठन के अध्ययन में दो महत्वपूर्ण आधारों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। एक तो शक्ति एवं सत्ता का वितरण तथा वे सामाजिक सम्बन्ध जिनके द्वारा इन दोनों को व्यक्त किया जाता है। सत्ता के वितरण के आधार पर केन्द्रित सत्ता वाले सगठन राज्य की स्थापना जिसका चरम रूप है तथा विकेन्द्रित सत्ता वाले सगठनों जिनमें सत्ता का विभाजन छाने छोटे समूहों तक में होता है की चर्चा की जा सकती है। अधिकांश आदिमजातियों में सत्ता का विकेन्द्रीकरण भिन्न भिन्न अंशों में पाया जाता है तथा कुछ ही आदिमजातियों में राज्य के समान केन्द्रित सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत आधुनिक सगठनों में राज्य के रूप में पूर्ण रूप में केन्द्रित सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते हैं। यद्यपि राजनैतिक सगठन का यह वर्गीकरण तार्किक दृष्टिकोण से किसी सीमा तक न्यायसंगत माना जा सकता है अर्थात् पूर्ण रूप से विकेन्द्रित सत्ता एवं पूर्ण रूप से केन्द्रित सत्ता की धारणा केवल आदर्श मात्र है तथा वास्तविकता से परे हैं। यहाँ तक कि 'यूननतम केन्द्रित सत्ता वाले आदिम समाजों में भी कुछ व्यक्ति या कुछ परिवार कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा कभी-कभी कुछ थोड़े से समय के लिये ही समाज का नेतृत्व ग्रहण कर लेते हैं। उदाहरण के लिये अफ्रीका की नुएर आदिमजाति में किसी मुखिया के द्वारा प्रशासन की परंपरा नहीं रही है। आदिमजातियों में परस्पर तथा एक ही आदिमजाति के

विभिन्न-भिन्न क्षेत्रों के मध्य शक्ति संतुलन के द्वारा ही किसी एक खंड अथवा एक आदिमजाति के निर्बलत्व की अवस्था नहीं जाये पाती। परन्तु संवेध-समय पर धार्मिक क्षेत्र में कुछ व्यक्ति ऐसे होते रहे हैं, जिनका प्रमुख कुछ समय तक सर्वोपरि रहा है। साधारणतया छोटे छोटे बशों के धार्मिक पुजारी लोग, जिनका राजनैतिक स्तर पर कोई विरोधी नहीं होता स्थानीय सगठों के निपटारों में मध्यस्थ का कार्य करते हैं और उनकी सम्मानित स्थिति एवं देवी देवताओं से उनके सपनों के कारण सार्वजनिक रूप से उनके फैसले मान्य होते हैं। अतः यद्यपि इन समाजों में केन्द्रित सत्ता की परंपरा नहीं है, फिर भी इस प्रकार के नेतृत्व के रूप में केन्द्रित सत्ता के प्रमाण पाये जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके ये कार्य नैतिक तथा धार्मिक शक्ति पर आधारित होते हैं तथा राजनैतिक शक्ति का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी जो कार्य ये करते हैं वे किसी भी समाज के राजनैतिक सगठन के ही अंग होते हैं।

सत्ता के वितरण के अतिरिक्त राजनैतिक सगठन के अध्ययन में उन सामाजिक सम्बन्धों का भी महत्व होता है जो शक्ति एवं सत्ता को व्यावहारिक रूप देते हैं। जैसा कि हम बता चुके हैं यद्यपि राजनैतिक सगठन सामाजिक सगठन का ही एक अंग होता है तथापि सामाजिक सगठन में सन्निहित सभी प्रकार के सम्बन्धों का राजनैतिक महत्व नहीं हुआ करता। आदिम समाजों में साधारणतया राजनैतिक एकता के आधार रक्त सम्बन्धों के रूप में ही पाये जाते हैं। उधर सामाजिक सगठन में भी रक्त सम्बन्धों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। परन्तु इन दोनों क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्तरों के रक्त सम्बन्धों का महत्व होता है। इसीलिये राजनैतिक सगठन की विवेचना के लिये रक्त सम्बन्धों के इन विभिन्न स्तरों में अन्तर स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। राजनैतिक क्षेत्र में एकता का प्रवर्धन किसी एक सामान्य पूज से सम्बन्ध स्थापित करके किया जाता है। एक ही सामान्य क्षेत्र में सहनिवास इन सम्बन्धों की भूमिका होती है। परन्तु सामाजिक सगठन के अन्तर्गत निकट सम्बन्धियों के रक्त सम्बन्धों की विभिन्न समितियों के रूप में संयोजित किया जाता है। साधारणतया समितियों का गठन सामान्य रुचियों एवं समान उद्देश्यों के आधार पर होता है। परन्तु इनके स्थान पर रक्त सम्बन्ध एवं एक पूर्वज से उत्पत्ति भी समानता का एक रूप हो सकते हैं। सामाजिक सगठन के अन्तर्गत रक्त सम्बन्धों पर आधारित समूहों अथवा समितियों की संस्थापनी सुनिश्चित एवं व्यवस्थित होती है। इनमें क्षेत्रीय

सहनिवास का कोई विशेष महत्व नहीं हुआ करता। परन्तु इसके विपरीत राजनैतिक गठन में रक्त सम्बन्धियों की एक पूर्वज से उत्पत्ति की व्याख्या उत्तरी सुनिश्चित न होकर अधिकांशतः सहनिवास एवं सदस्यों की कल्पना पर आधारित होती है।

प्रारंभिक मानवशास्त्रियों के लेखों में गण तथा आदिमजातियों के राजनैतिक विभागों में भेद नहीं स्थापित किया गया है परन्तु वर्तमान मानवशास्त्रीय विश्लेषणों में गण को वंशागति पर आधारित एक पूर्वज से उत्पत्ति मानने वाले व्यक्तियों का समूह माना गया है। सह निवास गण की सदस्यता का आधार नहीं होता। जिन आदिमजातियों में गण का राजनैतिक महत्व भी होता है, उनमें गण के सदस्यों को पूर्वजों से अपने सम्बन्धों का सुनिश्चित ज्ञान नहीं होता। कुछ आदिमजातियों में समाज के अधिकांश सदस्य रक्त सम्बन्धी होते हैं और सम्पूर्ण आदिमजाति एक बड़े वंश के रूप में कार्य करती है और एक गण के समान ही उसका महत्व होता है। राजनैतिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का गठन अत्यंत महत्वपूर्ण होता है।

प्रत्येक गण विभिन्न वंशों में विभक्त हो सकता है। इस स्तर पर एक पूर्वज से उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित की जा सकती है। परन्तु इस स्तर पर भी चार या पांच पीढ़ियों तक के पूर्वजों को सम्मिलित करने वाली वंशधारा में कुछ सौ व्यक्तियों की संख्या हो सकती है। ऐसा वंशसमूह एक प्रभावशाली राजनैतिक समूह के रूप में कार्य कर सकता है। परन्तु केवल दो या तीन पीढ़ियों तक के समान पूर्वजों पर आधारित वंशसमूह का निश्चित रूप से कोई राजनैतिक महत्व नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के वंशसमूहों का गठन समान सिद्धांत पर आधारित होते हुए भी दोनों समान राजनैतिक महत्व के नहीं हो सकते। विशेष रूप से अत्यंत मिश्रित केन्द्रीय सत्ता वाली आदिमजातियों में वंशों पर आधारित सख व्यवस्था (Lineage Segmentation) उनकी राजनैतिक संरचना में अधिक महत्वपूर्ण होती है। अफ्रीका के नुएर लोगों में कुछ ऐसी ही व्यवस्था मिलती है। ऐसे वंशजों में लोगों को उचित-अनुचित का निराकरण स्वयं अपने वंश की सीमाओं में ही करना होता है। क्योंकि अनुचित व्यवहार करने वालों के लिये न तो कोई न्यायालय होता है और न ही किसी प्रकार की निषेध सत्ता होती है। बयोबूढ़ लोगों की परिषद अथवा उनके मुखिया आपसी झगड़ों की सुलह करके परम्परागत मान्य नियमों के आधार पर अपना मत व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु इन नियमों का पालन कराने की शक्ति उनमें नहीं होती।

इसीलिए 'अहाँ' कहाँ भी आधुनिक वैधानिक व्यवस्था की गई है, वहाँ न्यायालयों का तो उन्होंने स्वागत किया है परन्तु न्यायालयों के निर्णयों के पालन करवाने की व्यवस्था का विरोध किया है। ऐसे समाजों में परस्पर विवाद के आधार पर समझौते को ही अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। किसी भी प्रकार के दृढ़ विधान को मान्यता नहीं दी जाती।

आदिमजातियों के सम्बन्ध में जैसी कि एक सामान्य धारणा रही है, ऐसी किसी भी सामाजिक व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त नहीं हुये हैं, जिसमें उनके सदस्यों में रक्त सम्बन्ध ही उनके राजनैतिक सम्बन्धों के आधार होते हों। मेपेरा ने अपनी पुस्तक 'Politics in Tribal Societies-1956' में यह बताया है कि अफ्रीका के बुशमैन लोगों में इधर-उधर बूमते रहने वाले छोटे-छोटे समूह भी निश्चित भू भागों पर अपने अधिकार का दावा करते हैं और इस प्रकार से ऐसे प्रत्येक समूह का अपना एक सामान्य निवास क्षेत्र होता है। इसी तथ्य को जी० सी० व्हीलर ने भी अपने एक सर्वेक्षण 'The tribes & Inter tribal Relations in Australia-1910' में स्वीकार किया है। भ्रमणशील एवं छाछ संग्रहण की अर्ध-व्यवस्था पर आश्रित लोग सामान्यतः छोटे छोटे समूहों में विभक्त होते हैं और यह परिस्थिति सुरक्षा एवं पारस्परिक सहयोग के लिये रक्त सम्बन्धों एवं बहिर्वाहिक सम्बन्धों के आधार पर एकता स्थापित करने की आवश्यकता को अत्यंत महत्वपूर्ण बना देती है। दूसरी ओर पशुपालक आदिमजातियों जैसे साइबेरिया के अंगोल जचवा एशिया एवं अफ्रीका के चरवाहों में परिवार एवं गण राजनैतिक क्रिया के केन्द्र बिन्दु होते हैं। उनकी परिस्थितियाँ कुछ भिन्न प्रकार की होती हैं। बड़े-बड़े झुंडों के लिये सीमित चरागाहों एवं जलसमयों की समस्या से आपसी लगड़े बहुत होते हैं किन्तु इनमें से अधिकांश विवादों का निपटारा पारिवारिक स्तर पर ही हो जाता है। गण एवं सम्पूर्ण आदिमजाति के मुखिया के स्तर पर केवल सम्पत्ति एवं सुरक्षा संबंधी निर्णय ही लिये जाते हैं।

प्रत्येक आदिमजाति का एक मुखिया अवश्य होता है। परन्तु उसकी व्यक्तिगत सत्ता होती है, क्योंकि मुखिया का वह अंत्यमुक्तमण, के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक नहीं चलता। इन समाजों में युद्धकाल में मुखिया के अधिकार एवं उसका प्रभाव शान्तिमय की अपेक्षा अधिक होते हैं।

कुछ आदिमजातियों में और ही संश्लेषणतक एक मूलभूत राजनैतिक इकाई होता है। ऐसी आदिमजातियों में जो कि संग्रहक व्यवस्था के ही परिवर्तित होकर धीरे-धीरे कृषि करने लगती हैं, उनमें पूरे समुदाय का मेस्त

बड़े अथवा बयस्को की परिषद में होता है। इन परिषदों का कोई मुखिया होना अथवा न होना आवश्यक नहीं होता। यदि कोई एक व्यक्ति परिषद का मुखिया होता भी है तो उसके अधिकार नाममात्र को ही होते हैं। मध्य भारत, न्यूगिनी तथा कुछ अन्य स्थानों की आदिमजातियों में ऐसी ग्राम परिषदें पाई जाती हैं। अधिक विकसित रूप से खेती-बाड़ी करने वाली आदिमजातियों में इस प्रकार की ग्राम परिषदें मिलकर एक मुखिया चुन लेती हैं परन्तु इस मुखिया को अधिकार नहीं प्राप्त होते। ये ग्राम-परिषदें अधिकतर सम्पत्ति तथा सामाजिक एवं राजनैतिक मसलों को तय करने में स्वतंत्र होती हैं तथा उनके न्यायिक अधिकार भी होते हैं। इन समुदायों में युवा सभों का राजनैतिक महत्व होता है। युवा सभों का प्रभुत्व गण एवं ग्राम के प्रभाव क्षेत्रों को लाकर सम्पूर्ण आदिमजाति के स्तर तक फैला होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यंत प्रारम्भिक स्तर पर कृषि करने वाले अथवा केवल खाने योग्य वनस्पति को जंगलों से काटने वाले लोगों में जिनका आर्थिक जीवन अधिकांशतः शिकार पर आधारित होता है राजनैतिक संगठन अत्यंत सुसंगठित होता है। इनमें स्थानीय वन सम्पूर्ण आदिमजाति के स्तर तक विस्तारित हो जाते हैं। स्थानीय समूहों के अधिकार गणों तथा आदिम जातीय अधिकार में आ जाते हैं। विशेष रूप से टोटमी आदिमजातियों में गण जिन्हों के एकता सूत्र में राजनैतिक एकता भी अधिक पुष्ट हो जाती है। इनमें सामुदायिक उत्तरदायित्व की भावना इतनी पुष्ट होती है कि गण के सदस्य सामूहिक रूप से अपने किसी सदस्य के प्रति किये गये किसी बैमनस्यता पूर्ण व्यवहार का बदला लेते हैं। इनमें प्रत्येक गण का या तो एक मुखिया होता है या कोई एक परिषद होती है। मुखिया का पद वंश परम्परा के आधार पर हो सकता है परन्तु उसके अधिकार सीमित होते हैं। गण के बयो वृद्ध लोगों को अधिक अधिकार होते हैं। विभिन्न गणों के मुखिया लोगों में जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत क्षमताओं एवं गुणों के आधार पर अधिक योग्य समझा जाता है उसी को सम्पूर्ण आदिमजाति का मुखिया घोषित कर दिया जाता है। परन्तु आदिमजाति के मुखिया को पूर्ण अधिकार नहीं दिये जाते और उसे सभी नीतियों के निर्धारण में बयोवृद्ध लोगों की परिषद की राय लेना आवश्यक होता है। आदिमजातीय एकता को अविच्छिन्न रखने में वन से बाहर विवाह करने का नियम अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। बहुत सी आदिमजातियों जैसे भारतवर्ष में अक्सर के नागा, मध्यप्रदेश के गोंड इत्यादि,

में आनु-पर आधारित कुछ समूह बनाये जाते हैं। ऐसे संगठन की आदिमजातीय एकता की भावना को बनाये रखने में राजनैतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं।

अक्सर एक क्षेत्र में निवास करने वाली अनेक आदिमजातियाँ आपसी विचार विमर्श के आधार पर अन्य आदिमजातियों के आक्रमणों से सुरक्षा के दृष्टिकोण से एक सच बना लेती हैं। ऐसे सच में सम्मिलित आदिमजातियाँ एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती किन्तु किसी भी बाह्य आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सतर्कता को महत्व न देते हुये एकता का प्रदर्शन करती हैं।

किसी समाज में राजनैतिक संगठन के लिये किसी एक अथवा एक से अधिक सिद्धान्तों को आधार माना गया है इसके आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के राजनैतिक संगठनों को वर्गीकृत किया जा सकता है। आदिम समाजों में ऐसे निम्नलिखित वन पाये जाते हैं—

1—**राज्य-विहीन व्यवस्थाएँ**—इनमें पूरी आदिमजाति से संबंधित कोई प्रशासन नहीं होता। छोटे-छोटे बग एव समूह ही सारी राजनैतिक क्रियाओं का संपादन करते हैं। यहां क्रियाएँ सामान्यतया कुछ ऐसे व्यक्तियों के माध्यम से होती हैं जिनका राजनैतिक जीवन गौण होता है। कोई भी एक व्यक्ति अथवा एक समूह ऐसा नहीं होता जिसमें राजनैतिक सत्ता केन्द्रित हो।

2—**अविभेदित व्यवस्थाएँ**—ऐसे समाज जिनमें रक्त संबंधी एवं राजनैतिक संबंधों में कोई भेद नहीं स्थापित किया जाता। छोटे छोटे स्थानीय समूह एक दूसरे से बिलग स्वशासित इकाइयों के रूप में होते हैं तथा उनके ऊपर किसी उच्च स्तर का राजनैतिक नियंत्रण नहीं होता।

3—**सखट बंसीय-व्यवस्था (Segmental Lineages)**—विकेंद्रित राजनैतिक सत्ता वाली आदिमजातियों में ही यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें स्थानीय समूह अथवा गांव राजनैतिक समूह की इकाइयां न होकर बस राजनैतिक इकाइयां होती हैं। पूरी आदिमजाति के संबंध में प्रायः नीतियों का निर्धारण नहीं किया जाता। अफ्रीकी सूडान की नुएर आदिमजाति राजनैतिक संगठन के इस स्वरूप का एक विशेष उदाहरण है। पूर्वी अफ्रीका एवं मैसेनेरिया की आदिमजातियों में ऐसी राजनैतिक व्यवस्थाएँ साधारणतया पाई जाती हैं।

4—**आनुवंशों पर आधारित व्यवस्थाएँ**—ऐसी राजनैतिक व्यवस्थाएँ आनु के आधार पर गठित वर्गों के द्वारा संभाली जाती हैं। यह आनुवंश

स्थानीय समूहों एवं ग्राम्य सीमाओं से परे होते हैं तथा राजनैतिक एकता के सूत्र होते हैं।

5—ग्राम-परिवर्धों एवं समितियों द्वारा सञ्चालित व्यवस्थाएँ—इन व्यवस्थाओं में एक गांव राजनैतिक संगठन की इकाई होता है। गांव की एक परिषद होती है जिसका निर्माण वयोवृद्ध लोग करते हैं और राजनैतिक सत्ता पूर्ण रूप से इन्हीं परिषदों में ही निहित होती है। मध्य भारत की आदिमजातियों में ऐसी व्यवस्थाएँ सामान्यतः पाई जाती हैं।

6—ग्राम प्रमुख के द्वारा सञ्चालित व्यवस्थाएँ—इन व्यवस्थाओं में भी राजनैतिक सत्ता विकेंद्रित ही होती है। कुछ व्यक्तिगत क्षमताओं एवं गुणों के आधार पर ही ग्राम प्रमुख का चयन होता है। सामान्य परिस्थितियों में सभी राजनैतिक क्रियाओं का उत्तरदायित्व ग्राम प्रमुख पर ही होता है यद्यपि असामान्य परिस्थितियों में सार्वजनिक हित के निराकरण में उसे लोकमत का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। परंतु उसका प्रभाव सर्वोपरि होता है।

7—राजकीय-व्यवस्थाएँ—ऐसी व्यवस्थाओं में पूरी आदिमजाति पर प्रभावशाली आदिमजातीय परिषदों प्रमुखों अथवा राजाओं में राजनैतिक सत्ता निहित होती है। केन्द्रित सत्ता संपन्न एक लघु राज्य का आभास होता है। सामाजिक जीवन की जटिलताएँ ही कुशल नेतृत्व को जन्म देती हैं। ऐसी आदिमजातियाँ जिनका सामाजिक संगठन अत्यंत विकसित एवं जटिल हो जाता है वही एक राज्य का स्वरूप उभर कर सामने आता है। संपूर्ण आदिम जाति का राजनैतिक गठन विशिष्ट क्षमताओं एवं द्वितीय नेतृत्व के गुणों वाले व्यक्ति में निहित होता है। मुखिया (Chief) एवं प्रमुख (Headman) में आंशिक अंतर होता है। मुखिया के अधिकार प्रमुख की अपेक्षा सीमित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त मुखिया का पद वंशगत भी हो सकता है।

8—अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ—जिन समाजों में मुखिया का पद वंशगत होता है वहां मुखिया एवं उसका परिवार सामान्य लोगों के स्तर में उच्च वर्ग में माना जाता है। राजनैतिक मान्यता के साथ ही साथ वंशगत पद की परंपरा के कारण मुखिया धीरे धीरे एक अधिनायक अथवा राजा का रूप ले लेता है। इस व्यवस्था का एक प्रमुख परिणाम यह होता है कि आदिम जाति के प्रशासन में स्थायित्व एवं एकरूपता आती है। विशेष रूप से उन आदिमजातियों में जिनमें परस्पर वयनस्य तथा विभिन्न गणों में एक-दूसरे से बदले की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है जिनमें राजनैतिक एकता एवं स्थायित्व की आवश्यकतावश इस प्रकार की व्यवस्था का जन्म

होता है। आदिमजातीय स्तर पर परस्पर रक्त-प्रतिक्रिया की भावना का समक आयत्तक होता है। अतः विशिष्ट नेतृत्व एवं स्वायत्तहारिक कुशलता वाले व्यक्ति अधिनायक के रूप में सफल हो जाते हैं। केन्द्रित राजनैतिक शक्त का चरम रूप आदिमजातियों में इसी प्रकार की व्यवस्था में पाया जाता है।

9—**वर्गमिश्र-अधिनायकवादी व्यवस्थाएँ—**राजनीति एवं वर्ग समाजिक जीवन के दो विभिन्न पक्ष हैं। जादूगर तथा देवी-देवताओं की पूजा अर्चना का संचालन करने वाले व्यक्ति अत्यधिक शक्तियों के नियंत्रण में विशेषज्ञ होते हैं। मुखिया अथवा प्रमुख मानवीय व्यवहारों के नियंत्रण में विशेषज्ञ होते हैं। आध्यात्मवाद आदिमसमाजों में इतना प्रभावशाली होता है कि लगभग सभी आदिमसमाजों में उनका राजनैतिक जीवन किन्हीं अंशों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं से रजित होता है। राजनैतिक अधिकारी वर्ग में विशेष आध्यात्मिक शक्तियों की सभावना को मान्यता दी जाती है। वैसे तो सभी आदिमजातीय समाजों में धर्म एवं जादू में सबंधित पुजारी वर्ग के लोग सामान्य जन समुदाय की अपेक्षा अति सम्मानित वर्ग में माने जाते हैं तथा सामान्य लोगों पर उनके नैतिक प्रभाव के राजनैतिक महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती परन्तु जिन समाजों में राजा अथवा अधिनायक को पवित्रता का प्रतीक मानते हुये देव-तुल्य मानते हैं उनमें धार्मिक एवं राजनैतिक पक्ष और अधिक एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। ऐसे अधिनायकों का राजनैतिक प्रभुत्व और भी अधिक प्रभावशाली होता है और सामान्यजन केवल दंड के भय से नहीं बल्कि धार्मिक विश्वास एवं भ्रष्टा के कारण उनका राजनैतिक आधिपत्य सहज स्वीकार करते हैं।

यद्यपि विभिन्न सिद्धांतों पर सगठित होने के कारण आदिमजातीय समाजों के राजनैतिक गठनों में उपर्युक्त प्रकारात्मक वर्गीकरण संभव है फिर भी कभी-कभी अति विकसित सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं वाले समाजों में, रक्त संबंध, भौगोलिक तथा अन्य आधारों पर गठित वर्गों के साथ-साथ अराजनैतिक समितियों को भी राजनैतिक महत्व प्रदान किया जाता है। युवा संघ जैसी समितियों को शांति एवं सुरक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। नाना आदिमजातियों में निरन्तर पड़ोसी आदिमजातियों से आक्रमण के भय के संबंध में उनके मोरम यह राजनैतिक भूमिका अदा करते हैं। इसी प्रकार अश्वजंघल प्रदेस के आघातानी घाटी के निवासियों में भी विधिवत एक प्रकार की शक्ति-युक्त सेना का गठन जहाँ एक ओर उनके कुछ कार्यों में सहायता प्रदान करने का कार्य करता है, वहाँ दूसरी ओर पड़ोसी डाकू लोगो की



निरन्तर आक्रामक चेष्टाओं के संघर्ष में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान रहता है और उनकी सतर्कता को बनाये रखने में सहायता मिलती है। इस प्रकार से एक अतिविकसित आदिमसमाज में रक्त-संघर्षों सेवीय आचारों तथा अराजनैतिक समितियों—इन तीनों आधारों को समुक्त रूप से राजनैतिक गठन का आधार बनाया जाता है। आधुनिक राजतन्त्रों में अधिक संख्या में विभिन्न समितियों के आधार पर गठित सामाजिक संगठन तथा उनके राजनैतिक संगठन में इन समितियों का प्रचुर मात्रा में समावेश उनकी एक विशेषता होती है। आदिमसमाजों में यह अवस्था नहीं पाई जाती। उनकी राजनैतिक गतिविधिया अत्यंत व्यक्तिगत होती हैं। समाज के सभी व्यक्ति परस्पर संपर्कों के द्वारा राजनैतिक गतिविधियों को प्रभावित करते हैं। आदिमजातीय अधिनायक से लेकर निम्नतम स्तर के व्यक्तियों एवं संगठनों तक समाज के प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच हाती है। जहाँ एक ओर वे राजनैतिक सदस्यों में कर्तव्य एवं अधिकारों की भूमिका में परस्पर विचार विमर्श करते हैं वहीं वे एक दूसरे से निकट सामाजिक संबंधों एवं रक्त संबंधों की भूमिका में एक दूसरे के प्रति अपने नैतिक व्यवहारों के प्रति भी जागरूक होते हैं। अत्यंत व्यक्तिगत पारस्परिक व्यवहारों की भूमिका में संगठित एवं परंपरागत मूल्यों एवं मान्यताओं से निदेशित आदिमसमाजों के राजनैतिक संगठन आधुनिक राजनैतिक व्यवस्थाओं से गुणात्मक आधारों पर निश्चित रूप से बिल्कुल भिन्न होते हैं।

### भारत के आदिवासियों में राजनैतिक संगठन

आदिमजातियों में राजनैतिक संगठन के अधिकांश स्वरूप जिनका वर्णन किया गया है भारत के आदिवासियों में भी पाये जाते हैं। देश के विभिन्न आदिमजातीय अंशों में विभिन्न प्रकार की पर्यावरणीय परिस्थितियाँ पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ एक ओर दक्षिण भारत के जंगलों में भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते हुये कादर इरुला पानियान, जेंबू जैसे अत्यंत अविकसित आदिम जीवन वाले आदिवासी हैं वहाँ दूसरी ओर असम प्रदेश की खासी एवं गारो पहाड़ियों के खासी एवं गारो तथा अरुणाचल प्रदेश के आपातानी लोग हैं जो अत्यंत विकसित खेती बाड़ी तथा बागबानी करते हुये उत्कृष्ट आर्थिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक जीवन तथा सम्य समाजों से संपर्कों के आधार पर भी विभिन्नता पाई जाती है। एक ओर छोटा नागपुर बिहार तथा मध्य प्रदेश के आदिवासी हैं जो कि हिन्दुओं से तथा आसाम नागालैंड एवं मिजोराम प्रदेशों के आदिवासी ईसाई मिशनरियों

से इतने अधिक प्रभावित हो चुके हैं कि एक सामान्य पर्यवेक्षक की संभवतः इनमें अंतर स्थापित करना भी कठिन हो जाये और दूसरी ओर सूदूर अरुणाचल प्रदेश, हिमाचल के क्षेत्रों एवं दक्षिण भारत में स्थित आज भी कुछ आदिवासी हैं, जो सम्यक्ता से दूर एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बीच की स्थितियों में भी काफी संख्या में आदिमजातियाँ आती हैं। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की इन विविधताओं ने विभिन्न क्षेत्रों की आदिमजातियों में विभिन्न प्रकार की राजनैतिक प्रणालियों को जन्म दिया है। परिणामस्वरूप अति विकेन्द्रित राजनैतिक संगठन से लेकर अधिनायकवादी केन्द्रित राजनैतिक प्रणालियों तक के उदाहरण हमें भारत के आदिवासियों में मिलते हैं। अब हम विभिन्न भारतीय आदिवासी समुदायों में राजनैतिक प्रणालियों के स्वरूपों का वर्णन विभिन्न क्षेत्रों एवं प्रदेशों में प्राप्त उदाहरणों से करेंगे।

**उत्तर-पूर्वी भारत (असम, अरुणाचल, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोराम, मणिपुर, त्रिपुरा)**

असम प्रदेश में अधिकांश आदिवासी बने जंगलों से आच्छादित पर्वतीय प्रदेशों में रहते हैं। इनमें खासी गारो लुसाई, जयंतिया मिजो आदि प्रमुख हैं। इस प्रदेश की लगभग सभी आदिमजातियों में प्रशासनिक संगठन का आधार प्रजातन्त्रात्मक है। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी आदिमजातियों में भूमि का स्वामित्व सामुदायिक होता है। भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार को कोई मान्यता नहीं दी जाती। यद्यपि गारी लोगों में उनके गण अथवा गांवों का प्रधान नोकमा तथा खासी लोगों में उनका राजा डोलोई एवं लुसाई लोगों में उनके मुखिया अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाली संपूर्ण भूमि के स्वामी माने जाते थे, परन्तु यह स्वामित्व केवल नाममात्र को अथवा प्रतीकात्मक ही होता है क्योंकि वस्तुतः प्रत्येक गांव के सदस्य को कहीं पर भी खेती करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह सभी आदिमजातियाँ आर्थिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ हैं तथा खेती-बाड़ी एवं व्यापार वित्तिय के द्वारा समाज में बरीब एवं अमीर दोनों कोटि के लोग होते हैं। परन्तु धन संपत्ति एवं राजनैतिक पद किसी प्रकार के सामाजिक स्तरीकरण को जन्म नहीं दे पाये। कुछ ही समय पूर्व तक लुसाई आदिमजाति का मुखिया तथा खासी आदिमजाति का डोलोई अथवा सिंघे इतने प्रभावशाली माने जाते थे कि आस पड़ोस के अन्य समुदायों के लोग उन्हें राजा मानते थे। परन्तु वास्तव में अपने समाज में उनकी स्थिति सामान्य व्यक्तियों के ही समकक्ष होती है तथा इस राजनैतिक

पद पर होने के कारण उन्हें विशेष सुविधाएँ नहीं प्राप्त होती। इन सभी आदिमजातियों के राजनैतिक गठन में प्रजातान्त्रिक भावना सभी स्तरों पर देखने को मिलती है। खासी सियेम केवल वैधानिक रास्ता हीता है और स्वतन्त्र रूप से कभी कोई फैसला अथवा नीति निर्धारण नहीं करता। उसके कुछ परामसदाता होते हैं और सभी मामलों में उनका एक मत होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार से यद्यपि चुसाई आदिमजाति के मुखिया का खासी सियेम की अपेक्षा अधिक प्रभुत्व होता है और इसी प्रभुत्व के कारण कुछ समय पहले तक उसे एक अधिनायक ही माना जाता था परन्तु वास्तविकता यह है कि किसी भी मामले पर उपा (ग्राम बबोबूद्ध) लोगों की राय की अवहेलना करना उसके लिए कठिन होता है। वे दोनों अधिकारी ब्रह्मानुक्रमण के आधार पर ही चुने जाते हैं तथा प्रतीकात्मक रूप से राजनैतिक सत्ता इन्हीं में केन्द्रित होती है। राजनैतिक गतिविधियों का सञ्चालन एवं प्रशासन पूर्णरूपेण प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों पर आधारित होता है। उत्तरी कछार के क्षेत्रों में अन्य विभिन्न आदिमजातियों में मुखिया के चयन में चुनाव तथा वंश पर परामत दोनों सिद्धांत अपनाये जाते हैं। छोटे छोटे झगड़ों का निपटाना गांव के सभी पुरुषों के समक्ष मुखिया की उपस्थिति में बुले -पायालय में होता है तथा किसी अपराधी के सबंध में लिया गया निर्णय पूरे गांव का निर्णय होता है न कि केवल मुखिया तथा उसके सलाहकारों का निर्णय। प्रत्येक गांव के बड़े बूढ़ लोग एक अनौपचारिक परिषद का निर्माण करते हैं और अपने गांव की समस्याओं तथा समय समय पर विशेष परिस्थितियों में उनका मत सर्वोपरि माना जाता है परन्तु वे स्वयं इस बात का ध्यान रखते हैं कि गांव के लोगों की सामान्य जन भावना के विरुद्ध उनका कोई निर्णय न हो।

प्रशासन का यह रूप इन शांतिप्रिय आदिमजातियों के लिये इतना उपयुक्त था कि ब्रिटिश प्रशासकों ने भी इसकी इस व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उपयुक्त नहीं समझा और इनके मुखिया तथा सियेम तथा इसी प्रकार से अन्य आदिमजातियों के प्रमुखों को मान्यता प्रदान कर दी। केवल अपने अधिकार एवं आधिपत्य को बनाये रखने के लिये गंभीर असलो को तय करने में डिप्टी कमिश्नर अथवा एस० डी० ब्रो० की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से इन सर्वसीध क्षेत्रों के आदिवासियों की प्रशासन व्यवस्था में जाग्रत परिवर्तन हुये हैं। वैधानिक व्यवस्था के अनुसार थिला परिवदों की स्थापना से दलगत राजनीति का प्रारंभ हुआ है, जबकि पहले राजनैतिक क्षेत्र में किसी भी

प्रकार की बसतबन्दी अथवा मुटुबन्दी से भी लीज परिचित नहीं थे।

भारत के उत्तरी कछार पहाड़ियों के उप विभाग में तीन प्रमुख आदिम जातियाँ उत्प्लेखनीय हैं। यह हैं डिमसा कछारी कुकी तथा जैमी भागा। इनमें डिमसा कछारी जनसंख्या के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दी से ब्रिटिश शासनकाल में सन् 1854 तक इस क्षेत्र की अन्य सभी आदिमजातियों पर इनका व्यापक राजनैतिक प्रभुत्व रहा है। प्रारम्भ से ही राजकीय परम्परा इनकी राजनैतिक जीवन का आधार रही है। कछारी राजाओं के समय में इस पूरे पूर्वीय क्षेत्र की व्यवस्था विशेष सैनिक अधिकारियों का वायित्व रही है जो कुछ थोड़े से सहायक अधिकारियों की सहायता से व्यवस्था करता रहा है। प्रत्येक गाँव का एक ग्राम प्रमुख होता है जिसे कुनांग कहा जाता है। यह निर्वाचन से भी बनाया जाता है तथा बसतपरम्परा के आधार पर भी इसकी नियुक्ति हो सकती है। बड़े-बड़े गाँवों में ग्राम प्रमुख के सहायतार्थ एक सहायक प्रमुख भी नियुक्त किया जाता है जिसे डिमो कहा जाता है। कुनांग के अधिकार अधिक होते हैं। छोटे मोटे सभी मामलों का निपटारा कुनांग ही करता है परन्तु वह अपने फैसलों में गाँव के उन सभी सदस्यों की सलाह एवं सहायता लेना उचित समझता है जोकि किसी मामले में रुचि रखते हों। स्त्रियों से सम्बन्धित मामलों में गाँव की बृद्ध स्त्रियाँ भाग लेती हैं।

उत्तरी कछार पहाड़ियों में स्थित कुकी आदिमजाति की जनसंख्या लगभग आठ हजार है जो कि डिमसा की अपेक्षा लगभग एक तिहाई है। परन्तु ज्ञातमान समय में मिन तथा लुसाई पहाड़ियों लिपुरा, कछार, जनीपुर तथा नागालैंड के विस्तृत क्षेत्रों में फैले हुए कुकी लोगों की संख्या लगभग एक लाख से भी अधिक है। थोड़ी बहुत सांस्कृतिक विभिन्नताओं के साथ-साथ काफी संख्या में उप जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें उत्तरी कछार के कुकी लोगों में गाँव का प्रशासन ग्राम प्रमुख काबुर तथा उसके सहायक प्रमुख छापिया काबुर के द्वारा होता है। यह पद बंश परम्परा पर आधारित नहीं होते, बल्कि इन पदों पर विशेष क्षमताओं एवं योग्यताओं वाले व्यक्तियों को प्रतिष्ठित करने की परम्परा है। इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कुकी आदिमजाति का प्रशासन कुखिया के द्वारा होता है और यह पद बंश परम्परा पर आधारित होता है।

प्रजातन्त्रात्मकता के आग, विशेषकर सन् 1963 के बाद से मिजो लोग हमारे देश के राजनैतिक जीवन में बर्बा का विषय रहे हैं। मिजो

पहाड़ियों में स्थित असम के दक्षिणी भाग के क्षेत्रों में रहने वाले यह लोग पिछले कुछ वर्षों के इस क्षेत्र में व्यापक राजनैतिक अशांति का कारण रहे हैं। यह क्षेत्र उत्तर में कछार तथा मजीपुर, पूर्व एवं दक्षिण में बर्मा तथा पश्चिम में बंगला-देश की सीमाओं से घिरा हुआ है।

सन् 1950 के उपरान्त सबैधानिक नियमों के अनुरूप इनका प्रशासन भारतीय सबैधाना के छोटे अनुच्छेद में दिये नियमों के अनुसार जिला परिषदों के द्वारा होता रहा है। परन्तु इस से पूर्व की स्थिति भिन्न थी। इससे पहले प्रत्येक गांव एक सशक्त राजनैतिक इकाई होता था और गांव का अधिकारी वंश परम्परा के आधार पर नियुक्त एक मुखिया होता था जिसे लाल कहा जाता था। यह मुखिया अधिकांशतः लुसेई गण के सेलों परिवार का ही होता था। कभी एक मुखिया के अधिकार क्षेत्र में एक से अधिक गांव भी हुआ करते थे। गांव के प्रशासन में मुखिया की सहायता के लिये गांव के बयोबूढ़ लोगों की एक परिषद हुआ करती थी। परिषद के सदस्यों की नियुक्ति मुखिया ही नामांकन के द्वारा करता था। ग्राम परिषद के सदस्यों के अतिरिक्त राजनैतिक व्यवस्था के लिये मुखिया कुछ अन्य अधिकारियों की नियुक्ति भी करता था। लगाऊ जिसका कार्य मुखिया के फैसलों की घोषणा करना था थिरडेंग—गांव का सावजनिक कमकार पुई थियाम ग्राम पुरोहित खाछियार—जिसका कार्य विशेषरूप से ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य के बाद से, सरकारी कागजों की देखभाल करना होता था बादि की नियुक्ति मुखिया ही करता था। परम्परागत प्रथा के अनुसार गांव के प्रत्येक घर से लगभग एक मन धान मुखिया को देना आवश्यक होता था। किसी व्यक्ति के व्यवहार से असंतुष्ट होने पर मुखिया को उसे गांव से निष्कासित करने का अधिकार होता था।

### नागा आदिमजातियों में राजनैतिक संगठन

नागा पर्वत श्रेणियों के निवासी नागा सांस्कृतिक समानताओं पर आधारित छोटी तथा बड़ी सकडो आदिमजातियों का वर्गीकृत समूह हैं। नागा आदिमजातियों के कुछ थोड़े से बड़े समूहों का ही समुचित अध्ययन किया गया है और उन्हीं के सम्बन्ध में हमें अधिकांश तथ्य ज्ञात हैं। इनमें और आस पडोस की असम की अन्य आदिमजातियों से शारीरिक लक्षणों एवं सांस्कृतिक आधार पर ही अन्तर स्थापित किये जा सकते हैं। यद्यपि कुछ आदतों एवं व्यवहारों में अन्य पडोसी आदिमजातियाँ इनके समान भी हैं।

उनमें स्वयं में भाषा में अत्यधिक विभक्तता पाई जाती है। एक दूसरे के पास में ही रहने वाली दो भाषा आदिमजातियों में परस्पर संपर्क इसीलिए नहीं हो पाया क्योंकि वे एक दूसरे की भाषा नहीं समझते। दूरी पर बसे हुए समूहों की भी यद्यपि भाषा आदिमजातियों में ही गठना की जाती है, किन्तु उनके एक दूसरे से सम्पर्क में आने का प्रश्न ही नहीं होता। विशेष रूप से निचली पहाड़ियों एवं ब्रह्मपुत्र के अंचल के समीप ऐसी भाषा आदिमजातियों को उनके सम्पर्क असम के मैदानी क्षेत्रों से हैं केवल नामा कहा जाता है, तथा ऊँची पर्वत श्रेणियों तथा असम के मैदानी क्षेत्रों से संपर्क बिहीन दूरस्थ अंचलों में रहने वालों को अबोर नामा सामान्य शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार भी समस्त भाषा आदिमजातियों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। Kilted तथा 2 Non Kilted। प्रथम वर्ग में अगामी भाषा लोगो को सम्मिलित किया गया है तथा दूसरे वर्ग में इनके अतिरिक्त अन्य सभी भाषा आदिमजातियों को सम्मिलित किया गया है। किल्ट शब्द से तात्पर्य कमर में बांधी जाने वाली नीली अथवा काली कपड़े की पट्टी से होता है जो कि साधारणतया 3 1/2 से 4 फीट तक लम्बी तथा लगभग 1 1/2 फीट चौड़ी होती है। यह पट्टी कूल्हों पर से होती हुई कमर में बांधी जाती है और इसका दूसरा सिरा टांगों के बीच से से जाकर पीछे कमर में बांध दिया जाता है। यद्यपि पहनावे के इस अन्तर के आधार पर वर्गीकरण अस्वाभाविक सा ही जान पड़ता है परन्तु वास्तव में प्रथम एवं द्वितीय वर्ग में सम्मिलित आदिमजातियों में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अन्तर पाये जाते हैं। अगामी भाषा स्वयं ब्रह्मपुत्र के दोनों किनारों पर बसे हुए हैं तथा विस्तृत क्षेत्रों में फैले हैं। दूसरे वर्ग की आदिमजातियों में निश्चय ही आपस में थोड़े बहुत सांस्कृतिक अन्तर हैं परन्तु वे सभी सामूहिक रूप से अगामी भाषा लोगों से सम्बन्धित हैं।

लगभग सभी भाषा आदिमजातियाँ स्वतः पिपासु जातकबादी एवं युद्ध प्रिय कही जाती हैं। अगामी भाषा यद्यपि अन्य भाषा आदिमजातियों के समान भयंकर, कठोर एवं उग्र स्वभाव के नहीं होते तथा उनके व्यवहारों में किसी सीमा तक सौम्यता एवं कोमलता परिलक्षित होती है, फिर भी सामान्य भाषा प्रकृति से परे नहीं हैं। अन्य भाषा आदिमजातियों की भाँति, रक्त का प्रतिशोध रक्त के द्वारा ही हो सकता है का सिद्धांत अगामी भाषा लोगों में भी उतना ही सार्थक है। एक भाषा के दो वर्गों में परम्परागत

संबन्ध हो सकता है परन्तु उसी गांव के एक और गण के लोगों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। बैमनस्य वाले गणों के बीच निरन्तर समय-समय पर झगड़ा काट चलती रहती है। एक गण के सदस्य जबसर पाते ही दूसरे गण के सदस्यों को मार देते हैं परन्तु उसी गांव के अन्य गण के सदस्य इस विवाद से अपने को दूर रखते हैं तथा तटस्थ होते हैं। यह अवस्था सभी नागा आदिमजातियों की विशेषता है। एक राजनीतिशास्त्र का विद्वान इस अवस्था को सम्पूर्ण अराजकता की सजा ही देगा तथा मानवशास्त्री के द्वारा इन लोगों में एक सुगठित राजनैतिक संगठन की बात उसे हास्यास्पद ही प्रतीत होगी।

वास्तव में ऐसी आतंकपूर्ण परिस्थितियों में किसी स्थाई प्रशासन की कल्पना नहीं की जा सकती। इनके गांव साधारणतया बड़े होते हैं। विशेष रूप से अगामी नागाओं में नौ सौ चारों तक के गांव पाये जाते हैं। प्रत्येक गांव का एक मुखिया होता है। इनका चयन घनाडयता बहादुरी चतुराई एवं राजनैतिक गुणों के आधार पर किया जाता है। गांव के लोग केवल नाममात्र के लिये ही अपने मुखिया के नियंत्रण में होते हैं और वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करता है जो वह उचित समझता है। उसका स्वयं का विवेक उसका कायून होता है। कैंप्टेन बटलर ने ठीक ही कहा है कि नामा समाजों में हमें एक ऐसी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मिलती है जिसका एक दिन भी चल सकना संभव नहीं प्रतीत होता। फिर भी इस लोगों में एक प्रकार की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की विद्यमानता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। मुखिया की वंशजों का पालन उसी सीमा तक किया जाता है जहाँ तक वे अधिकांश लोगों के अनुकूल हों। परन्तु फिर भी अल्पसंख्यक लोग बहुसंख्यक लोगों के विचारों का आदर न करते हुये मुखिया की आज्ञा की अवहेलना करते हैं। सिद्धांततः प्रत्येक अगामी नागा अपनी इच्छाओं एवं रुचियों को ही मान्यता देता है और उतने किसी का भी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता। एच० बी० राने ने इस परिस्थिति का बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है। उनके अनुसार नामा आदिमजातियों में किसी प्रकार का आंतरिक प्रशासन नहीं पाया जाता। वे किसी की शक्ति को स्वीकार नहीं करते। यदि किसी नागा से इस सम्बन्ध में पूछा जाये तो वह अपने आने की ओर से जमीन में खाड़ कर उसे ही अपना राजा घोषित करता है। किन्हीं जातियों में गांव के बयोबृद्ध को कुछ मान्यता दी जाती है परन्तु उसका आधिपत्य नाममात्र को ही होता है। कहीं कहीं पर छोटे मोटे आपसी झगड़ी

का निपटारा करने के लिये गांव के बड़ोबूढ़ लोगों की परिषद भी होती है परन्तु परिषद केवल समझौता कराने का प्रयत्न ही कर पाती है। उसके फैसलों को कार्यान्वित करने की व्यवस्था किसी प्रकार के बड़े विधान की कोई व्यवस्था नहीं होती।

ए० जे० जोकाद मिल ने जवानों की समस्याओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि यद्यपि जय नाथ आदिमजातियों की नाति इनका जीवन भी आक्रमणों तथा हत्याओं के बीच बीतता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इनमें किसी प्रकार के राजनैतिक संघटन का अभाव है। वस्तुतः इनकी राजनैतिक व्यवस्था को प्रजासत्तात्मिक प्रणाली का एक वरम रूप मानना चाहिए। प्रत्येक गांव स्वयं में एक बहुव्युप राजनैतिक इकाई होती है। नाममात्र को उसके एक मुखिया होता है परन्तु मुखिया की निरपेक्ष शक्ति नहीं होती। वह किसी प्रकार का कर नहीं वसूल करता और न ही वह किसी को कोई आज्ञा दे सकता है क्योंकि वह स्वयं समझता है कि उसकी आज्ञा के पालन की सम्भावनायें अत्यन्त क्षीण होती हैं। किसी आक्रमण की योजना बनाने में अथवा किसी गांव से प्रतिशोध लेने की योजना बनाने में गांव के बड़ोबूढ़ एवं सदाकू जवान एक स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं और अपने कार्यक्रम निश्चित करते हैं। परन्तु साधारणतया युद्धावस्था का मत बड़ोबूढ़ लोगों के मन की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। गांव के मुखिया का पद वशावुक्कम पर आधारित होता है। मुखिया की मृत्यु हो जाने पर अथवा उसके अत्यन्त सिधिल हो जाने पर उसका सबसे बड़ा पुत्र यह पद संभालता है। अधिकांश गांवों में साधारणतया दो मुखिया होते हैं परन्तु उनका राजनैतिक प्रभुत्व केवल नाम मात्र को ही होता है।

किन्हीं नाम आदिमजातियों में उनके वंश जिम्मे वे खेल कहते हैं प्रादेशिक इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं। वह इकाइयाँ सामाजिक तथा राजनैतिक, दोनों दृष्टिकोणों से बहुव्युप होती हैं। इन पर आनुवंशिक सरदारों राजाओं अथवा सामन्ती विशेषाधिकार प्राप्त आदिमजातीय मुक्ति माओ का शासन है। प्रत्येक खेल योजना अथवा स्थियों के लिए पड़ोसी खेलों द्वारा किसी भी समय संभावित आक्रमणों से रक्षा की व्यवस्था करता है। सामान सामाजिक महत्त्व की आक्रमणों तथा निरन्तर व्याप्त विपद की आज्ञा व्यवहारों, खेल के सदस्यों की एकता के खेल में गांव देती है। बीड़ियों से बनी या रही वैमनस्यता तथा सामाजिक अशुद्धता के निवारण पर मठित, नामा अशुद्धतायें स्वभाव से स्वतन्त्र हैं, किन्तु राजनैतिक संदर्भ में इन्हें बराबर-



कलापूर्ण समाज नहीं कहा जा सकता ।

### मध्य भारत के आदिवासियों में राजनैतिक संगठन

मध्य भारत के विस्तृत आदिमजातीय क्षेत्रों में बिहार, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ की आदिमजातियाँ मिलकर भारत की सर्वाधिक आदिवासी जनसंख्या वाले क्षेत्र का निर्माण करती हैं । परन्तु इन सभी आदिमजातियों में राजनैतिक संगठन के कुछ समान प्रतिरूप पाये जाते हैं । इनमें से अधिकांश आदिमजातियों के सामाजिक संगठन में गण रक्त सम्बन्धों पर आधारित एक महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई है और इन गणों के प्रमुख अपने नैतिक प्रभाव से गण के सदस्यों पर काफी नियन्त्रण भी रखते हैं । परन्तु गण की अपेक्षा गांव एक प्रभावशाली राजनैतिक इकाई होता है । प्रत्येक गांव का शासन ग्राम प्रमुख अथवा बयोबद्ध लोगों की परिषद के द्वारा होता है । दोनों का राजनैतिक प्रभाव महत्वपूर्ण होता है । इन परिषदों का निर्णय सर्वसम्मति अथवा बहुमत से ही होता है । ग्राम प्रमुख अपने निर्णयों में ग्रामवासियों के बहुमत की अवहेलना नहीं कर सकता । बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र में पिछले पचास वर्षों में राजनैतिक गतिविविधियों में अधिक तीव्रता आई है । सदियों से हिन्दू जमींदारों कजदाताओं आदि के शिकार में जकड़े हुए ये आदिवासी अपने अधिकारों एवं सुविधाओं के प्रति जागरूक हो उठे हैं और अतीत आधार पर कई आदिमजातियों ने परस्पर सहयोग के आधार पर बृहद् आदिम जातीय संधों तथा राजनैतिक दलों का निर्माण कर लिया है । देश की सामान्य राजनैतिक व्यवस्था धीरे धीरे इनके परम्परागत राजनैतिक संगठनों को क्षीण करती जा रही है तथा प्रादेशिक प्रशासन के अन्तर्गत स्थापित पंचायतें धीरे धीरे अधिक लोकप्रिय होती जा रही हैं । सरकारी न्यायालय एवं राष्ट्र का दण्ड विधान अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है ।

इस सम्बन्ध में सुरजीत सिन्हा के हाल में किये गये अध्ययन महत्वपूर्ण हैं । मध्य भारत के आदिवासियों में राजनैतिक गतिविविधियों के अपने अध्ययन में उन्होंने बताया है कि इन आदिमजातियों की राजनैतिक व्यवस्था हिन्दू सामाजिक संगठन में इनके प्रवेश तथा बृहद् भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में समावेश की दिशा में महत्वपूर्ण रही है । जहाँ एक ओर अपने सुखिया एवं ग्राम परिषदों के अन्तर्गत इनकी राजनैतिक एकता के प्रभाव मिलते हैं, वहीं यही राजनैतिक व्यवस्था उनके राजनैतिक विघटन का भी मुख्य कारण रही है । विघटनात्मक शक्तियाँ एकतामूलक शक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली

खिंचे हुए हैं। इन आदिवासीयों के बुद्धिमान राजनैतिक मोर्चन के सीतल बनते जा रहे हैं। परिणामस्वरूप इनके प्रभुत्व की स्थापना करने की सामाजिक कारणा उभरती जा रही है। इस दूरे क्षेत्र में, विशेषरूप से स्वतंत्रता प्रशक्ति के अन्त से औद्योगिक राजनैतिक एवं सामुदायिक विकास की गति अत्यन्त तीव्र रही है। परिणामस्वरूप अपनी परम्परागत व्यवस्था से कुछ इन आदिम जातियों को अवलम्ब प्राप्त हुआ। श्री खिन्हा के निष्कर्ष कहा तक पूरे मध्य भारत क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह एक विचारणीय विषय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी राष्ट्रीय सरकार की निर्धारित नीतियों के अनुरूप जैसे-जैसे कल्याणकारी शिक्षा एवं औद्योगिक तथा विनिर्माण कार्यों का प्रसार आदिम जातीय क्षेत्रों में होता जा रहा है, जैसे-जैसे हमारे देश के आदिवासी राजनैतिक स्तर पर राष्ट्र से अधिकाधिक सम्बद्ध होते जा रहे हैं। साथ ही तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे वातावरण के सन्दर्भ में उनका सामाजिक सांस्कृतिक जीवन भी प्रभावित हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कठिन होगा कि युगों से चली आ रही व्यवस्था आज स्वयं इतनी दूषित हो चुकी है कि वह आदिमजातियों के राजनैतिक विघटन का कारण बन रही है। वास्तव में पास पड़ोस में होने वाली गतिविधियों से हमारे आदिवासी आज उतने अपरिचित एवं उदासीन नहीं हैं। परिणामस्वरूप जो भी प्रभाव हो रहे हैं, उन्हें परम्परागत संगठन की कमजोरियों का नहीं बल्कि असाधारण शक्तिशाली गतिविधियों का प्रभाव मानना चाहिए।

उपयुक्त कथन के सन्दर्भ में हम बिहार की एक प्रमुख आदिमजाति सन्थाल का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। बिहार के सन्थाल परमना भागलपुर, मुंगेर मानभूम हजारीबाग तथा सिंगभूम उड़ीसा के मयूरभंज एवं बालासोर तथा पश्चिमी बंगाल के बोरभूम, बांकुरा तथा मिर्जापुर के लगभग 350 वर्गमील क्षेत्र में फैले हुए सन्थाल मध्य भारत की आदिम जातियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अभी कुछ वर्ष पूर्व पूर्णिया जिले में सामन्ती जमींदारों के हाथों 14 सन्थाल व्यक्तियों के अग्निदाह की सूचना ने इनकी दयनीय दशा से देश को अवगत कराया है।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में दिये गये वर्णनों से स्पष्ट है, आदिमजातीय सामाजिक व्यवस्था में राजनैतिक संगठन अहां उनकी एकता एवं सुरक्षा की ओर एक प्रयत्न है, वहीं परंपराओं एवं सामाजिक मानदंडों के सुचारु रूप से निर्वाह में भी महत्वपूर्ण है। ब्रिटिश शासनकाल में अधिकांश आदिमजातीय क्षेत्रों में किसी प्रकार का प्रशासन लगभग नाममात्र को ही हुवा करता था

तथा शासन इन क्षेत्रों से आर्थिक लाभ प्राप्त करने के सीमित उद्देश्य से ही इनकी व्यवस्था में सीमित हस्तक्षेप करता था। ऐसी अवस्था में निश्चय ही इनकी राजनैतिक संगठनों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हुआ करती थी। आज पास की अन्य आदिमजातियों से सुरक्षा का कार्य तथा अपने आर्थिक जीवन को संगठित रखने का काम अत्यंत महत्वपूर्ण हुआ करता था। परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इन सभी क्षेत्रों में भी राष्ट्रीय प्रशासन एवं कल्याणकारी योजनाओं विधिवत अन्य क्षेत्रों की ही भांति कार्य करने लगी है। आदिवासियों ने इन सभी गतिविधियों का स्वागत भी किया है। आज प्रदेश की विधान सभाओं में तथा देश की संसद में इन क्षेत्रों के प्रतिनिधियों को भी अन्य लोगों की भांति बराबर के अधिकार प्राप्त हैं और अपनी क्षेत्रीय भांति एवं सुरक्षा तथा अपनी आर्थिक समस्याओं का भार अब पहले की भांति इनकी आंतरिक व्यवस्था पर नहीं है। देश के अग्र भागों की भांति प्रशासनिक अधिकारियों न्यायालयों तथा विद्यालयों आदि की सेवाएँ अब सुविधायें इन्हें उपलब्ध हैं। अतः इनकी आंतरिक व्यवस्था के उत्तरदायित्व में कमी आई है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इनकी आंतरिक राजनैतिक व्यवस्थाएँ जीव हो गईं हो अथवा लोगों का उनमें विश्वास समाप्त हो गया है। आज भी आदिवासी समुदाय संगठित वर्गों के रूप में हैं। परंपरागत जीवन अब अपने सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की रक्षा का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व आज भी उनकी आंतरिक व्यवस्था पर ही है। देश की सरकार न तो उनके इन नैतिक एवं सामाजिक मानदंडों के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप ही करना चाहती है और न ही राजनैतिक प्रशासन का उद्देश्य इस प्रकार का है। अतः यह कहना कि वर्तमान सदन में आदिवासी समुदायों के राजनैतिक संगठन शिथिल एवं अकमल्य हो चुके हैं ठीक नहीं है।

संघाल आदिमजाति की आंतरिक राजनैतिक व्यवस्था के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अब्राहम लिंकन ने जिस प्रजातंत्र की व्याख्या (Government of the People for the People and by the People) की थी उसके साक्षात् प्रमाण हमें इनमें दिखलाई देते हैं। इनके राजनैतिक संगठन की निम्नतम इकाई गांव होता है। गांव का मुखिया अथवा मांझी अपने कुछ अन्य ग्राम सहयोगियों के साथ पूरे गांव के सामाजिक जीवन का नियंत्रक होता है। मुखिया अथवा ग्राम प्रमुख के अतिरिक्त परामिक, जोग मांझी, गोदेत तथा मायके कुछ अन्य अधिकारीयुक्त होते हैं, जो कि विभिन्न व्यवस्थाओं के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा मांझी को सहयोग प्रदान करते

हैं। यह सभी व्यक्ति गांव के ही मधीयम लोगों में से चुने जाते हैं।

कई गांव एक साथ बिलकर एक क्षेत्रीय राजनैतिक इकाई का निर्माण करते हैं। इसका प्रमुख देशप्रधान कहलाता है। यह सभी क्षेत्रीय इकाइयों सम्मिलित रूप से एक रांघ बनाती हैं, जिसका अध्यक्ष परगना कहलाता है। ग्राम स्तर पर उपर्युक्त वर्णित पांच सहायक मिलकर ग्राम परिषद का निर्माण करते हैं, जिसे मोरेनहोर कहते हैं। गांव का मुखिया मांझी इसी परिषद के सहयोग एवं सलाह से कार्य करता है। किहीं क्षेत्रों में गांव के सभी परिवारों के प्रमुख इस परिषद में सम्मिलित होते हैं। गांव के सदस्यों से संबंधित दिन प्रतिदिन के जीवन में आपसी झगडो एवं सामाजिक नियमों एवं सांस्कृतिक निषेधों आदि से संबंधित सभी निर्णय मांझी द्वारा परिषद की सलाह से लिए जाते हैं। झगडो के निपटारे के बाद दोषी व्यक्ति जयवा कही-कहीं पर वादी एवं प्रतिवादी दोनों निर्णायकों को कुछ पैसा देते हैं। परंपरा के अनुसार यह आवश्यक होता है और इस पैसे का प्रयोग निर्णायक मनोरंजन एवं खाने पीने में करते हैं। गांव का मांझी जहां एक ओर 'यायाजीस' का कार्य करता है, वहीं गांव का सामाजिक नेतृत्व भी उसी में निहित होता है। किसी भी विवाह अथवा मृतक सस्कार में मांझी की उपस्थिति आवश्यक होती है तथा विसर के महीने में वार्षिक पर्व, धार्मिक भोजों तथा सामूहिक रूप से देवी-देवताओं की पूजा का आयोजन एवं व्यवस्था करना भी उसी का उत्तरदायित्व होता है।

लगभग बीस गांवों के समूह का मुखिया देशप्रधान होता है। जिन मामलों में दो अथवा दो से अधिक गांवों के सदस्य होते हैं उनकी सुनवाई देशप्रधान के समक्ष होती है। संबंधित गांवों की परिषदों के सदस्य तथा मांझी इस कार्य में देशप्रधान को सहायता प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त इस स्तर पर उन मामलों को भी देशप्रधान के समक्ष रखा जाता है जो कुछ गंभीर प्रकृति के होते हैं तथा मांझी स्वयं अपनी असमर्थता प्रगट करते हुये उनकी सुनवाई की सिफारिश करता है। उदाहरण के लिए अविवाहित भात की सतानों की पैतृकता निर्धारण का कार्य देशप्रधान के समक्ष रखा जाता है। देशप्रधान का ध्यान संबंधित गांवों के लोगों द्वारा किया जाता है और उसकी मृत्यु के उपरांत ही उस पद पर दूसरा व्यक्ति नियुक्त किया जाता है।

परंपरागत प्रथाओं के अनुसार वसंतोत्सव के उपरांत आदिवासीय स्तर पर एक वार्षिक सामूहिक शिकार के उत्सव का आयोजन किया जाता है, जिसे लो-मीर-सैत्रा कहते हैं। इस अवसर पर उन सभी मामलों का विवेक

किया जाता है, जिन्हें वेस प्रधान निर्णय के लिए प्रेषित करते हैं तथा सम्पूर्ण आदिवासी के सामाजिक एवं धार्मिक नियमों से संबंधित निर्णय भी लिये जाते हैं। इस सम्मेलन को सम्वास आदिवासी का उच्चतम शासनात्मक माना जाता है। अति बलीर सामाजिक बहुत्व के मामलों का निराकरण इसी संघठन के द्वारा होता है। बिटलहा जैसे सामाजिक आयत्तिस एव सामाजिक विष्का संन का अधिकार भी इसी संघठन को होता है। इस अवसर पर किये जाने वाले न्यायिक विचार को संध्रा बीर विचार कहा जाता है। सभी वेसप्रधानों की ससद की यह बैठक वार्षिक शिकार के उत्सव के अवसर पर पवित्र दामो दर नदी के किनारे किसी स्थल पर की जाती है। यहीं पर वेसप्रधानों के निराकरणों से क्षुब्ध व्यक्ति भी अपना प्रतिवेदन करते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियों में सामाजिक एकता को अक्षुण्न रखने एव परंपरागत सामाजिक एव सांस्कृतिक मूल्यों तथा नियमों को व्यवस्थित रखने की दिशा में राजनैतिक संगठनों की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारा जीवन आधुनिक औद्योगिक एवं पाश्चात्य प्रभावों के फलस्वरूप निरंतर इतना अधिक व्यक्तिवादी होता जा रहा है कि सामुदायिक दृष्टिकोण एव बेचना के लिए हमारे समाज में किसी विनिष्ट प्रयास की आवश्यकता नहीं रह गई है। परन्तु परंपराओं से जकड़े हुये तथा अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के प्रति निष्ठावान आदिवासियों में सामूहिक एकता एव परंपरागत सामाजिक एव सांस्कृतिक नियम आज भी महत्वपूर्ण हैं। उनकी आंतरिक राजनैतिक व्यवस्थाय इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

मध्य प्रदेश में बस्तर का क्षत्र आदिवासियों का केन्द्र है। जैसे गोंड आदिवासी सथाल के समान ही विस्तृत क्षेत्रों में फैले हुये हैं और भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बसने वाले लोगों में भाषा एव सांस्कृतिक आधार पर कुछ थोड़े बहुत अंतर भी दिखलाई पड़ते हैं और इसी आधार पर इस महान आदिमजातीय समुदाय में कई उपसमूह बन गये हैं। इनमें से एक उपसमूह बस्तर के माडिया गोड है। इनमें भी सामान्य सांस्कृतिक एव परंपरागत अंतरों के आधार पर दो प्रमुख समूह हैं। एक तो पहाड़ी माडिया जो कि अबूखमाड़ पहाड़ियों पर रहते हैं तथा दूसरे जैसे के सींग वाले माडिया जो कि इन्द्रावती नदी के दक्षिणी क्षेत्रों में बसे हुये हैं। गोंड आदिमजाति के इन सभी उपसमूहों में राजनैतिक संगठन लगभग एक समान ही हैं। केवल कहीं कहीं पर कुछ ऐसे वर्ग, जैसे राजगोड (जो कि अब हिन्दू जाति व्यवस्था के अंग बन चुके

हैं) को छोड़कर सभी अन्य वर्गों में राजनैतिक संगठन में एकरूपता मिलती है। बस्तर के राजा, जो कि एक हिन्दू हैं, में सभी वर्गों की समान रूप से आस्था है। बस्तर के राजा का कोई राजनैतिक नियंत्रण इन लोगों पर नहीं रहा है, इसके प्रमाण अभी मिलते हैं। परन्तु आध्यात्मिक स्तर पर वे सदैव गोंड लोगों के श्रद्धा के पात्र रहे हैं। दशहरा के प्रमुख पर्व के अवसर पर प्रत्येक समुदाय अपनी अपनी लकड़ी लेकर राजा के महल में इकट्ठा करता है और उनकी सवारी के लिए रथ बनाता है। दशहरे के दिन अत्यधिक उत्साह एवं सजधज के साथ आदिवासियों के समूह एकत्रित होकर उनकी सवारी निकालते हैं। राजा गोंड लोगों की श्रद्धा का प्रतीक है और उनका विश्वास है कि उनकी सारी आध्यात्मिक शक्ति राजा में ही केन्द्रित है। यहाँ पर हम भसो के सींग वाले माडिया लोगों के राजनैतिक संगठन का चित्रण प्रस्तुत करेंगे।

भसो के सींग वाले माडिया लोगों के प्रत्येक गाव के कुछ धार्मिक एवं कुछ अर्थ अधिकारी होते हैं। एक ग्राम प्रमुख होता है जिसे साधारणतया पेडा कहते हैं एक उसका सहायक होता है जिसे कदकी कहते हैं तथा एक कोतवार होता है जो कि गाव में होने वाले जन्म एवं मृत्यु की सूचनाएँ पुलिस को देता रहता है। पास पड़ोस के कुछ गाव संगठित होकर एक परगना बनाते हैं जिसका मुखिया परगना मांसी कहनाता है। प्रत्येक गाव की एक पंचायत होती है जिसका अध्यक्ष गाव का मुखिया होता है। इसी प्रकार प्रत्येक परगना की एक परगना परिषद होती है जिसमें ग्राम पंचायतों द्वारा दिये गये फसलों की सुनवाई होती है। बस्तर क्षेत्र के आदिवासियों की परंपरागत ये संस्थाएँ इतनी अधिक प्रभावी थी कि ब्रिटिश शासन प्रणाली ने भारतीय दंड विधान की कनिष्ठ धाराओं में जाने वाले मामलों की व्यवस्था का अधिकार इन्हीं सौंप लिया था। इससे जहाँ एक ओर इतने बड़े क्षेत्र की व्यवस्था के आर्थिक भार से बचत हुई वहाँ दूसरी ओर किसी प्रकार के हस्तक्षेप न होने के कारण शांति एवं व्यवस्था निश्चित हो गई। गाव के कोतवार को जो कि उनकी परंपरागत व्यवस्था का ही एक अंग होता है पुलिस प्रशासन एवं आदिवासीय प्रशासन के बीच की एक कड़ी मान लिया गया और पंचायत के फसलों को कोतवार पुलिस में रिपोर्ट करता था। पंचायत के फैसलों की सुनवाई अंतिम रूप से परगना मांसी और उसकी परिषद के द्वारा की जाती है। इस परिषद में उक्त परगना से संबंधित ग्राम प्रमुखों में से कोई चार प्रमुख होते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक गाव में धार्मिक नेतृत्व वाले वयोवृद्ध लोग

भी होते हैं। वास्तव में धार्मिक अनुष्ठानों का नियंत्रण करने वाले पुरोहित एवं भक्तिसत्तों का प्रभाव आज प्रमुख से कहीं अधिक होता है। धार्मिक अनुष्ठानों से संबंधित व्यक्तियों में बुद्धिवा शून्य गणना कहलाता है। कहीं-कहीं इसे परमा भी कहते हैं। किसी एक गण का धार्मिक बुद्धिवा बड़वाई कहलाता है। एक गांव में एक से अधिक बड़वाई भी हो सकते हैं। पूर्वजों एवं मृतकों से संबंधित तस्कारों को कराने के कारण बड़वाई अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानों से संबंधित ये सम्मानित व्यक्ति तथा चुने हुये अन्य अधिकारीगण ही आदिमजाति के वास्तविक प्रबन्धक होते हैं। सरकारी अफसरों की तुलना में इनकी आज्ञायें अधिक प्रभावशाली होती हैं। केवल बस्तर के महाराजा को ही सर्वोपरि माना जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से देश के अन्य भागों की भांति ही इस क्षेत्र में भी राजकीय व्यवस्था के लागू हो जाने के बाद से इन परंपरागत आदिमजातीय अधिकारी वर्ग के अधिकारों में कमी अवश्य आई है परन्तु फिर भी सामान्य व्यवस्था में उनका प्रभाव समाप्त नहीं हो पाया है।

अभी हाल की कुछ घटनायें तेजी से परिवर्तित हो रहे इस क्षेत्र की कुछ सामाजिक राजनतिक समस्याओं का परिचय देती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इस क्षेत्र में औद्योगिक गतिविधियां बढ़ी हैं और इन औद्योगिक संस्थानों में जहां श्रमिकों के रूप में इस क्षेत्र के आदिवासियों को काम के अवसर प्राप्त हुये वहां बड़ी संख्या में विभिन्न स्तरों में काम करने वाले लोग बाहर से भी आकर बसे हैं। घरेलू काम काज के लिए बाहर से आये इन लोगों ने बड़ी संख्या में आदिवासी स्त्रियों को काम पर रक्खा। अपने परंपरागत सामाजिक मूल्यों के अनुरूप विवाह से पूर्व लैंगिक संबंधों में इनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति को बाहर से आकर बसे लोगों ने अभिचार का स्वरूप दे दिया। परिणामस्वरूप एक बड़ी संख्या में ऐसी स्त्रियों का एक वर्ग बन गया जो अविवाहित मातायें बन चुकी थीं तथा अपने समाज में उनका कोई स्थान नहीं रह गया था और अपने भालिकों के द्वारा परित्यक्त की जा चुकी थीं। परंपरागत नियमों के अनुसार आदिवासी उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहते थे। दूसरी ओर इस परिस्थिति ने औद्योगिक क्षेत्र में भी एक विस्फोटक एवं अस्थिरकारी परिस्थिति को जन्म दिया क्योंकि अधिकांश श्रमिक जो कि आदिवासी ही थे इसे अपना अपमान समझ रहे थे। ऐसी परिस्थिति में बस्तर के तत्कालीन जिलाधीश ने आदिवासियों से अपने सौहार्दपूर्ण व्यवहार तथा उनकी पचायतो के प्रभुत्व का लाभ उठाते हुये उनका विश्वास प्राप्त करके क्षेत्र में

एक आदिवासी बहुसंख्यक एक संसद जिसका तय्यार एक और संसदियों को उनके समुदायों में सम्मानपूर्ण स्थान दिखाने के प्रयत्न किये, वहीं दूसरी ओर ऐसे अवसर जारी किये कि ऐसी परिस्थिति में संबंधित व्यक्ति को इन तकियों से निजाह कर लेना अनिवार्य हो गया। वास्तव में अब परिस्थिति कुछ अटल की हो गई है। एक ओर तो सरकारों एवं अर्धसरकारी संस्थानों का कार्य है दूसरी ओर राजनैतिक पार्टियों की वृत्तिविधियों के परिणामस्वरूप विधान सभा एवं संसद सदस्यों का नेतावर्ग और तीसरी ओर इनकी परंपरागत राजनैतिक व्यवस्था के अधिकारियों का कार्य है। परंपराओं में विश्वास एवं पुरातन मूल्यों में आस्था समाप्त नहीं हो सकी है। परन्तु नवीन व्यवस्थाओं एवं नये नेतृत्व की वास्तविकताओं का तिरस्कार करने का साहस भी नहीं है। राजनैतिक स्वार्थ एवं चुनाव की गंदी गतिविधियों में इनकी परंपरागत एकता एवं मूल्यों को नष्ट करना आरंभ कर दिया है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के वर्गों में एक प्रकार के शक्ति संघर्ष एवं प्रतिद्वंद्विता में युगों से जैसे आ रहे शांतिमय जीवन में एक उथल-पुथल पैदा कर दी है। परन्तु फिर भी सामान्य दैनिक जीवन में उनके अपने परंपरागत नियम एवं कानून किसी सीमा तक सशक्त बने हुये हैं। उनकी मान्यताओं का तिरस्कार कर पाना साधारण तथा संभव नहीं हो पाता। प्रशासन को भी शांति व्यवस्था को ध्यान में रखते हुये कहीं कहीं अपने कानून और उनके परंपरागत नियमों के बीच समझौता करना पड़ता है। हटन ने इस संघर्ष में विचार व्यक्त करते हुये कहा था कि हम सभी लोगों के कानून और आदिवासीयों की परंपरागत कानूनी व्यवस्था में मूल्यों का महान अंतर है। जो कार्य हमारी नजर में जुग है, वही कार्य आदिवासीयों के अपने मूल्यों में जुग नहीं भी हो सकता है। हमारा दंड विधान शायद उतना प्रभावशाली कभी भी नहीं हो सकता, जितना कि आदिवासीयों का परंपरागत दंड विधान है। संभव है कि हम नैतिक दृष्टिकोण से अधिक मानवतावादी दंड विधान को उचित समझते हुये कहीं-कहीं पर उनके अधानुषंग दंड विधान की पुष्टि न कर सकें परन्तु मूल्यों के इस अंतर को शक्ति से समाप्त करना और अपने कानून को बस प्रबल घोषणा हमारी भूल होगी। यद्यपि हटन का यह कथन ब्रिटिश प्रशासन काल के संदर्भ में था, फिर भी यह आज भी उतना ही सत्य है। पूर्वांचल के आदिवासी प्रदेशों में व्याप्त राजनैतिक असंतोष का यही एक मुख्य कारण रहा है और भारत सरकार को उस क्षेत्र का राजनैतिक पुनर्गठन करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।



## दक्षिण भारत के आदिवासियों में राजनैतिक संगठन

दक्षिण भारत हमारे देश के आदिवासियों का एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र है। उपर्युक्त वर्णित दोनों क्षेत्रों की तुलना में इस क्षेत्र का अतिरिक्त महत्व है। क्योंकि इस क्षेत्र में हमें कुछ ऐसे आदिवासी समुदायों के उदाहरण मिलते हैं जिनकी गणना संसार के अत्यंत पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले लोगों में होती है। जहां एक ओर इस क्षेत्र में कादर इरुला एवं वेंचू जैसे संग्रहण पर आधारित अथव्यवस्था वाले समुदाय मिलते हैं वहीं दूसरी ओर पूर्णरूप से पशुपालन पर आधारित अथव्यवस्था वाले टोडा लोगों के उदाहरण भी मिलते हैं। अन्य दो क्षेत्रों में शिकार अविकसित एवं अधविकसित खेती बाड़ी तथा औद्योगिक संस्थानों में काम के अवसरों वाली अर्थ व्यवस्थाओं के संदर्भ में राजनैतिक गठनों के उदाहरण प्राप्त हुये। परन्तु संग्रहणीय अथव्यवस्था कुछ ऐसी परिस्थितियों को जन्म देती है कि उनके संदर्भ में उपर्युक्त वर्णित क्षेत्रों की आदिमजातियों की भांति जति केन्द्रित अथवा केन्द्रित प्रणालियां बन प ही नहीं सकती। अतः हम दक्षिण भारत के कुछ ऐसे ही आदिवासियों पर विचार करेंगे।

अण्डमान द्वीप समूह के आदिवासी भाषा एवं सांस्कृतिक अंतरों के आधार पर कई समूहों में बंटे हुये हैं। छोटे अण्डमान के निवासी ओज इनमें से एक हैं। बड़े अण्डमान द्वीप के आदिवासी पोर्ट ब्लेयर की स्थापना के बाद से बहुत कुछ सभ्यता के संपर्क में आ चुके हैं किन्तु छोटे अण्डमान के निवासी ओज, दक्षिणी अण्डमान के निवासी जरावा एवं सेण्टीनेल द्वीप के निवासी जख भी पिछड़ेपन का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस द्वीप समूह के आदिवासी छोटे छोटे स्थानीय समूहों में विभक्त हैं। प्रत्येक समूह के शिकार एवं भ्रमण का क्षेत्र निश्चित होता है। प्रत्येक स्थानीय समूह में आठ दस परिवार से अधिक नहीं होते तथा प्रत्येक समूह का एक मुखिया होता है। अपने भ्रमण क्षेत्र में प्रत्येक स्थानीय समूह के लोग एक स्थाई कम्प बना कर रहते हैं। इसके मध्य में एक बड़ी गोलाकार झोपड़ी होती है जो उनका सामुदायिक केन्द्र होता है। जब वे शिकार अथवा जंगल से संग्रह करने के लिए भ्रमण पर निकलते हैं तो अस्थायी झोपड़ियां बना लेते हैं। कभी कभी शिकार अथवा उत्सवों के अवसर पर ये स्थानीय समूह संगठित भी हो जाते हैं। परन्तु साधारणतया प्रत्येक स्थानीय समूह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करता है तथा आपस में ही अपने मुखिया के माध्यम से अपनी आंतरिक समस्याओं का समाधान कर लेता है।

सर्वे आदिवासीयों के लिए न तो कोई संरक्षण नहीं होता। परन्तु जो स्वाधीन समूहों के सदस्यों के बीच किसी प्रकार के विकास के अवसर संबंधित समूहों के सुविधा तथा आस-पड़ोस के समूहों के सुविधा आपस में विचार करके समाधान कर लेते हैं। यद्यपि अजनबी लोगों के लिए अण्डमान द्वीपवासी सर्वव्यय का कारण बने रहे हैं, परन्तु छोटे छोटे समूहों में विद्यमान होने के बावजूद भी उनमें आपसी संबंध के अवसर बहुत कम जाते हैं।

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में एक केन्द्रीय सत्ता की उपादेयता नहीं रह जाती। इस द्वीप समूह के एकान्त में सीमित इन आदिवासियों को न तो बाहरी अथवा आदिवासीयों का भय है और न ही आपसी संबंध के अभाव में आंतरिक व्यवस्था का प्रश्न ही उत्पन्न जटिल है। अण्डमान द्वीप समूह के वर्णन उन्हें समुचित रूप से साक्ष्य सामग्री प्रदान कर देते हैं। आर्थिक जीवन अत्यन्त छोटे छोटे स्थानीय समूहों में विभक्त होने के कारण सगठनात्मक समस्यायें भी उत्पन्न जटिल नहीं हैं। अतः प्रत्येक स्थानीय समूह स्वयं में एक लघु राजनैतिक व्यवस्था के रूप में कार्य करता है।

दक्षिण भारत में नीलगिरि पर्वतीय क्षेत्र के निवासी आदिवासियों में बड़ागा कोटा तथा टांडा प्रमुख हैं। इनमें से टांडा आदिवासी पशुपालक हैं और उनका सारा आर्थिक जीवन बैसी को पालने पर आधारित है। पशुपालन की आर्थिक व्यवस्था लगभग उसी प्रकार की परिस्थितियों एवं समस्याओं को जन्म देती है जैसी कि सकलन की अव्यवस्था में पाई जाती है। पशुपालक आदिवासीयों में भी अपने पशुओं को साथ लेकर चारे एवं पानी की सुविधा के अनुसार इधर उधर भ्रमण करना आवश्यक हो जाता है। यह भी अपेक्षाकृत छोटे छोटे समूहों में भ्रमण करते हैं। यद्यपि इनके पास जहाँ वे स्थाई रूप से रहते हैं, सकलन की अव्यवस्था वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सगठित होते हैं परन्तु छोटे छोटे समूहों में भ्रमण करते रहने के कारण आंतरिक समस्याएँ तथा संबंध सीमित हो जाते हैं। साथ ही जब कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो जिनमें बाह्य आक्रमण का भी भय न हो तो ऐसी अवस्था में किसी प्रकार की केन्द्रीय सत्ता के विकास की संभावना अत्यन्त सीमित हो जाती है। यही बात हम पशुपालक टांडा आदिवासियों में भी पाते हैं। नीलगिरि पहाड़ियों में रहने वाले पड़ोसी बड़ागा तथा कोटा लोगों से इनके संबंध केवल वैवाहिक ही नहीं हैं, बल्कि आर्थिक क्षेत्रों के परस्पर सहयोग का एक अनुकरणीय उदाहरण है। अतः किसी प्रकार के बाह्य आक्रमण/अवस्था आसू का भय उन्हें कभी भी नहीं रहा। दूसरी ओर अपने आंतरिक जीवन में भी टांडा लोग अपने आदिवासी,

धर्मभीरू तथा परंपरावादी हैं कि संभवतः आपसी संघर्ष वैभवस्थ आदि की समस्याओं कभी-कभी ही समाज के सामने आती हो। परिवारस्वरूप एक गठित एवं केन्द्रीय राजनैतिक संगठन का अभाव पाया जाता है। उनकी आतिथ्रियता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण यही है कि युद्ध स्तर पर काम में आने वाले हथियारों का टोडा पार्थिव सस्कृति में नितात अभाव है।

टोडा समाज में प्रत्येक परिवार का एक मुखिया होता है। वास्तव में परिवार का मुखिया ही व्यक्तिगत स्तर पर एक ऐसा व्यक्ति है जिसका सामाजिक महत्व के साथ-साथ राजनैतिक महत्व भी होता है। संपूर्ण आदिमजाति अर्धभागों में विभाजित है और दोनों अर्धभाग अंतर्विवाही होते हैं जिनमें से एक अर्धभाग टाथर दूसरे भाग तेवाली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। सामाजिक संगठन में इस द्वैध व्यवस्था का कोई राजनैतिक महत्व नहीं है। यद्यपि आदिमजाति के दोनों भागों की जातियों के रूप में हैं फिर भी किसी भी भाग का कोई औपचारिक संगठन नहीं है। इसी प्रकार से प्रत्येक अर्धभाग बहिर्विवाही गणों में विभक्त होता है। टाथर उप विभाग में बारह गण तथा तेवाली उप विभाग में छह गण होते हैं। परंतु गण का मुखिया भी राजनैतिक दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं माना जाता। गण का मुखिया एक अनौपचारिक रूप से व्यक्तिगत गुणों एवं क्षमताओं के आधार पर निर्धारित व्यक्ति होता है। परन्तु संपूर्ण आदिमजाति के स्तर पर किसी एक व्यक्ति का राजनैतिक महत्व नहीं माना जाता है। केवल पांच सदस्यों वाली परिषद ही एक ऐसी संस्था है जो पूरी आदिमजाति की व्यवस्था को नियंत्रित करती है। इसे टोडा लोग अपनी भाषा में नईम कहते हैं। कुछ विशेष गणों के प्रतिष्ठित व्यक्ति ही मिलकर इस परिषद का निर्माण करते हैं। इसका एक सदस्य तेवाली उप विभाग के किसी गण से चुना जाता है तथा अन्य तीन सदस्य टाथर उप विभाग के विशिष्ट गणों से चुने जाते हैं। पांचवा सदस्य बड़ागा आदिमजाति का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है जो कि परिषद में तभी बैठता है जबकि टोडा तथा अन्य किसी पड़ोसी आदिमजाति से सम्बंधित मामले पर विचार करना होता है। परिवारों व्यक्तियों एवं गणों के परस्पर मामलों का निपटारा करने के अतिरिक्त टोडा आदिमजाति की इस परिषद का सत्कारों की व्यवस्था करने का भी महत्वपूर्ण कार्य होता है। वास्तव में टोडा जीवन रूढ़ियों एवं सत्कारों से इतना जकड़ा हुआ है तथा सत्कारों की इतनी अधिकता है कि उन्हें व्यवस्थित एवं नियंत्रित करने के लिए किसी सत्ता का होना आवश्यक है। अपने धार्मिक जीवन एवं सत्कारों से टोडा को इतनी

पुरखत ही नहीं मिलती कि वह किसी अपराध की योजना में अपना समय बसा सके। अब उनकी परिषद को अपराधों का निर्णय करने का अधिकार भी नहीं है और ऐसे अवसर भी बहुत कम बन जाते हैं। शिशु हत्या, अन्ध-बुद्धि या आदिमजाति के किसी व्यक्ति की हत्या करना अपराध नहीं माना जाता। अन्य हत्याओं का बैसे तो अभाव ही पाया जाता है, परन्तु सामान्यतः ऐसा होने पर परिषद उस पर विचार करने में असमर्थ होती है। संस्कारों की व्यवस्था, देवी देवताओं का तिरस्कार आदि जघन्य पाप की श्रेणी में आते हैं। इन प्रवृत्तियों के नियंत्रण के लिए परिषद अत्यन्त क्रियाशील रहती है।

दक्षिण भारत में केरल प्रदेश छोटी बड़ी अनेक आदिमजातियों का केन्द्र है। अपने आर्थिक पिछड़ेपन में विश्वविख्यात कादर आदिवासी भी इसी क्षेत्र के निवासी हैं। बैसे अब इनसे से अधिकांश आदिमजातियाँ कुछ खेती बाड़ी भी करने लगी हैं परन्तु इनमें अभी भी भ्रमणशील जीवन व्यतीत किया जाता है तथा बेची जाने वाली और निजी आवश्यकता वाली सामग्रियों का जंगलों से संग्रह किया जाता है।

केरल की सभी आदिमजातियों में मुखिया अथवा मुप्पन तथा उसकी पत्नी मुप्पाची को सम्मान दिया जाता है तथा आदिमजाति के आंतरिक मामलों में उनके निर्णयों को मानते हैं। प्रत्येक आदिमजाति में वरिष्ठ लोगों की एक परिषद होती है तथा मुखिया उसका सभापति होता है। अधिकांशतः मुखिया का पद वंश परम्परा के आधार पर निर्धारित होता है।

भारतीय आदिमजातियों में राजनैतिक व्यवस्थाओं एवं विविध संगठन स्वरूपों का आभास उपर्युक्त उदाहरणों एवं वर्णनों से भली भाँति हो जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, आदिवासी राजनैतिक व्यवस्थाएँ उनके वृहद् सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण अंग होती हैं तथा उनका संचालन आधुनिक समाजों में प्राप्त विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं के द्वारा नहीं होता। इसीलिये उनके वृहद् सामाजिक संगठन के सदस्यों से उन्हें अलग करके उनके राजनैतिक संगठन का अध्ययन करना कठिन ही नहीं बरन् जवाबनीय भी है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसने वाले आदिवासियों के विभिन्न परिवारण के अनुरूप उनके सामाजिक संगठनों के प्रतिरूप पाये जाते हैं और उसी के अनुसार अपनी आंतरिक समस्याओं एवं बाह्य प्रभावों से सम्बन्धित स्थापित करने के प्रयत्न में उन्होंने अपने राजनैतिक गठन निर्धारित किये हैं। अर्थात् व्यवस्था एक अन्य प्रधान कारक है जो कि राजनैतिक गठन का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। आदिवासियों की व्यवस्था अधिकांशतः उनकी जीवन-

लिक परिस्थितियों एवं पर्यावरण पर ही निर्भर करती है। प्रकृति द्वारा निश्चित इन सीमाओं के अतः केवल सगठनात्मक अंतर ही समान क्षेत्र एवं समान परिस्थितियों में निवास करने वाली आदिमजातियों में पाये जा सकते हैं। सामान्यतः उनका जीवन आर्थिक दशाओं की समरूपताओं के कारण एक समान प्रतिरूप पर ही आधारित होता है। आर्थिक जीवन की आवश्यकता ही उन्हें कुछ निश्चित आधारों पर सगठित होने के लिये बाध्य करती है। ऊपर दिये गये उदाहरणों में हमने देखा कि जहाँ उत्तर पूर्वी क्षेत्रों की आदिमजातियों में राजनतिक व्यवस्थाओं की प्रवृत्ति एक सशक्त केंद्रीय सत्ता वाली परिषदों अधिनायकी एवं अत्यन्त प्रभावशाली जातिप्रमुखों की ओर है वहाँ मध्य भारत की आदिमजातियों के अपेक्षाकृत सरल आर्थिक जीवन में अधिक स्वतंत्रता एवं प्रजातन्त्रात्मक आधार पर गठित परिषदों के क्रम विभिन्न स्तरों पर पाये जाते हैं तथा इन परिषदों के चयन में औपचारिकता की मात्रा में बढि हो जाती है। परंतु दोनों क्षेत्रों में ग्राम ही राजनतिक एकता एवं गतिविधियों का केंद्र बिन्दु होता है। परंतु दक्षिण भारत की आदिमजातियों में संग्रहण एवं पशुपालन पर आधारित अव्यवस्था में आर्थिक परिस्थितियाँ आदिमजाति को छोटे छोटे स्थानीय समूहों में विभक्त होने पर विवश कर देती हैं। परिवार एवं गण राजनतिक दृष्टि में अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। प्रत्येक स्थानीय समूह के भ्रमण एवं मकलन का क्षेत्र मुनिश्चित होता है। अतः स्थानीय समूह एवं उनके क्षेत्र एक-दूसरे साम्राज्य के प्रतिरूप होते हैं। एक समूह द्वारा दूसरे समूह के आर्थिक क्षेत्र का अतिक्रमण ही साधारणतया परस्पर संघर्षों एवं विवादों का कारण होता है। हम अक्सर पर ही इन विवादों के निराकरण के लिये संपूर्ण आदिमजातीय स्तर पर किसी के नियम व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होती है। संपूर्ण राजनतिक गतिविधियाँ स्थानीय समूहों के स्तर तक ही अधिकतर सीमित रहती हैं। आदिमजातीय एकता का आभास हमें स्थानीय समूहों के स्तर पर ही हो पाता है। ये स्थानीय समूह गण के रूप में भी हो सकते हैं अथवा केवल कुछ परिवारों का एक छोटा सा समूह हो सकते हैं जैसा कि अंडमान द्वीप समूह के निवासियों में वर्णन किया गया है। सामाजिक एवं आंतरिक व्यवस्था के नियन्त्रण का अधिकांश दबाव इन्हीं स्थानीय समूहों पर ही पड़ता है। फलतः ये स्थानीय समूह ही इन आदिम जातियों में राजनतिक सगठन की इकाइयाँ बनाते हैं।

आधुनिक समाजों में हमें कुछ भिन्न स्थिति मिलती है। आज के

आधुनिक समाज एवं उनकी आर्थिक व्यवस्थाओं भौगोलिक दशाओं से सीमित नहीं हैं अतः उनके राजतन्त्र पर आर्थिक परिस्थितियाँ कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल पाती। अंतर्राष्ट्रीय संपर्क व्यापार विनिमय आदि ने आधुनिक समाजों में प्राकृतिक सीमाओं को बहुत निष्क्रिय बना दिया है। अतः राजनैतिक गठन का स्वरूप क्या हो यह सम्बंधित देश के लोगों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। यहाँ तक कि आधुनिक व्यवस्थाओं में आर्थिक राजनैतिक व्यवस्थाओं देश की आर्थिक नीतियों का निर्धारण करती हैं। परन्तु फिर भी अंतर्राष्ट्रीय अक्ष में हम यही देखते हैं कि आर्थिक स्वार्थों के आधार पर ही राजनैतिक संपर्क स्थापित किये जाते हैं अथवा तोड़े जाते हैं।

भारतीय आदिमजातियाँ अपने राजनैतिक जीवन में आज एक नये मोड़ पर आ खड़ी हुई हैं। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में हमारे देश में सम्यक् एवं आदिमजातीय वर्गों के बीच हम और वे का अंतर सिमटता जा रहा है। जो नीतियाँ हमने निर्धारित की हैं उनके अंतर्गत आदिवासी समुदाय अधिक दिनों तक संपूर्ण राष्ट्र की राजनैतिक गतिविधियों से अपने को अलग नहीं रख सकते। नागा मिजो खासी तथा गारो लोगों का राजनैतिक असंतोष समाप्त हो चुका है। सभी क्षेत्रों के आदिवासी समान रूप में देश की राजनैतिक प्रक्रिया में भाग ले रहे हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम उनके सांस्कृतिक मूल्यों का निरस्तार कर रहे हैं। आर्थिक उन्नति एवं उन्नत जीवन के अवसर उन्हें तभी प्राप्त हो सकते हैं जब वे संपूर्ण राष्ट्र से एकाकार होकर उसकी उन्नति एवं उसके कल्याण का उद्देश्य लेकर चलें। परन्तु जहाँ हम आदिवासियों से यह अपेक्षा करते हैं वही हमारा यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि वे अपनी परम्पराओं और निष्ठाओं को त्याग दें। उन्हें राष्ट्रीय हित में एवं स्वयं अपने हित में परिवर्तित होना है। परम्परागत आदिमजातीय राजनैतिक एकता का पतन अवश्यमावी है। यह एक हृष का विषय है कि इन परिस्थितियों ने सवर्ष को ज़रूर नहीं दिया बल्कि प्रत्येक स्थान पर आदिवासी जनता में आगरकता के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। नई राजनैतिक चेतना ने आदिमजातीय विषयमाधोजन (Mal adjustment) को दबाकर एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया है। इस नये दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुये केन्द्रीय सरकार ने आदिवासी जनसंख्या प्रधान भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्र का राजनैतिक पुनर्गठन किया है जिसका आदिवासियों ने स्वागत किया है।

## 6

### आदिवासी जन आंदोलन एवं क्रांतियाँ

मनुष्य ने सदैव अभाव आतंक अत्याचार एवं उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष किया है। मानव इतिहास अग्निशाली एवं प्रपत्ति शील वर्गों द्वारा दलित तिरस्कृत एवं आर्थिक रूप से पिछड़े हुये लोगों पर किये गये अत्याचार की साक्षियों से भरा पड़ा है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वतंत्रता प्रिय है। किसी भी रूप में स्वतंत्रता पर नियंत्रण के विरुद्ध उसमें आवेश उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह बात मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों में भी देखी जाती है। अतः इसे मनुष्य जाति की

ऐतिहासिक उपलब्धि ही मानव का लक्ष्य है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक सम्प्रदाय तक का मानव इतिहास ऐसे ही चरणों का एक अत्यन्त विस्तृत विवरण मात्र है। जिसे कालक्रम में संशोधित प्रस्तुत किया गया है। प्रागैतिहासिक काल में प्रकृति से उत्पन्न मानव का सर्वप्रथम रूप से प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध ही रहा होगा, ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक न होगा। परन्तु जैसे जैसे हथ सम्प्रदाय के समीप आते हैं जैसे जैसे तकनीकी प्रगति के संदर्भ में जहाँ प्राकृतिक उत्पीड़न स्वयमेव क्षीय होता गया, वहाँ प्रबुद्ध मानव ने परस्पर अलग-अलग भेदभावों के साथ मनुष्य के ही द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न को जन्म दिया। परन्तु मानव स्वभाव इस नये प्रकार के उत्पीड़न के विरुद्ध भी उसी प्रकार से प्रतिक्रिया करता रहा। आधुनिक सम्प्रदाय के इस अभिप्राय से आदिवासी भी मुक्त न रह सके। इस अध्याय में हमने भारतीय आदिवासियों में ऐसी ही प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न विभिन्न वर्ण प्रणितियों के प्रतिरूपों की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।



## भारतीय आदिवासियों की सामाजिक-सांस्कृतिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि

संसार में कोई भी देश अथवा क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ किसी संघर्ष अथवा विद्रोह के बिना ही लोगों की स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जहाँ देश और काल में परिवर्तन के साथ साथ स्वतंत्रता के मानदंडों में अंतर रहा वही अत्याचार एवं शोषण की गतिविधियाँ भी परिवर्तित होती रही। समय समय पर नये नये प्रकार के भेदभावों एवं द्वेषों ने जन्म लिया तथा उनके अनुरूप संघर्षों एवं आंदोलनों के नवीन स्वरूप सामने आते गये।

भारतवर्ष में ब्रिटिश राजतन्त्र की स्थापना से पूर्व देश कभी भी एक राजनैतिक इकाई के रूप में नहीं रहा। सांस्कृतिक विविधताओं से परिपूर्ण यह भूखंड सदब अनेक राज्यों एवं साम्राज्यों में विभक्त रहा। संभवतः इस देश के आदिवासियों का पहला कभी भी देश की राजनैतिक गतिविधियों का आभास नहीं हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में संपूर्ण देश पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की भावना का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा। यही कारण है कि सदियों से उपेक्षित देश के आदिवासियों की गतिविधियों का इतिहास लगभग अधवारमय है। ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों का ध्यान सभ्यता से दूर निजन वना तथा पहाड़ों की चाटियाँ पर रहने वाले आदिवासियों की ओर भी गया। उन्होंने इन्हें भी अपने राजनैतिक प्रभुत्व में लाने तथा इनसे आर्थिक लाभ उठाने के प्रयास किये। साथ ही देश में अंग्रेजी शासन की विधिवत स्थापना के उपरान्त पाश्चात्य देशों से ईसाई मिशनरियों ने भी भारतवर्ष की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना शुरू किया। यहाँ पर उन्होंने सभ्य समाजों की अपेक्षा उपेक्षित आदिवासी समुदायों को धर्म प्रचार एवं धर्म परिवर्तन के कार्य के लिये अधिक अनुकूल पाया। इसी परिस्थितियों में आदिवासियों का संपर्क सभ्य समाज के वर्गों से होने लगा। इससे पूर्व देश की राजनैतिक गतिविधियों से आदिवासी अधिकांशतः अप्रभावित रहे। परन्तु इन संपर्कों के उपरान्त ही समय समय पर उन्हें अनादिकाल से सुरक्षित अपनी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप के अनुभव होने लगे। यही कारण है कि आदिवासियों के कुछ गिने चुने आंदोलनों को छोड़कर लगभग सभी ब्रिटिश शासन काल में हुये। यदि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध को स्वतंत्रता संग्राम का मूल भावनात्मक पक्ष माना जाये तो हम यह कह सकते हैं कि देश के अन्दर

स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात 'आदिवासियों' से ही हुआ। तथापि यही महत्त्वपूर्ण तथ्य न होकर ब्रिटिश जमाने के अन्तर्गत ही हुआ कि इन आन्दोलनों का उद्देश्य वैसा विवादास्पद न होकर अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करना मात्र था।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पूर्व निर्जन अस्वास्थ्यकर एवं आवागमन के साधनों से रहित क्षेत्रों में रहने के कारण आदिवासियों का देश के अन्य लोगों से सम्पर्क लगभग नगण्य ही था। हमारे अधिकांश आदिवासी घने जंगलों एवं पर्वतीय प्रदेशों के निवासी हैं। अंग्रेजों का व्यापक देश की असमर्थ बस्तु सम्पदा एवं खनिज सम्पदा की ओर आकर्षित हुआ। इस सम्पदा का लाभ उठाने की लालसा से वे इन क्षेत्रों में बसने वाले आदिवासियों के सम्पर्क में आये तथा इस अपार सम्पदा का निरन्तर उपभोग करते रहने के लिये और अपनी श्रेष्ठता का परिचय देने के लिये उनके लिये किसी न किसी रूप में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक हो गया। यद्यपि ईसाई मिशनारियों का उद्देश्य कबल धर्म प्रचार एवं धर्म परिवर्तन ही था, किन्तु वे अंग्रेजों को कृपापात्र थे तथा उनका सहयोग उनके राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना में महत्वपूर्ण था। बिहार, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश एवं उड़ीसा के अधिकांश आदिवासी क्षत्र खनिज सम्पदा से परिपूर्ण हैं। इसका उपयोग करने के लिये अंग्रेजों को इन क्षेत्रों में जाना पड़ा और आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता हुई। इन सभी आर्थिक लाभों को साधक बनाने के लिये एवं अपना राजनैतिक प्रभुत्व बनाये रखने के लिये उन्हें इन क्षेत्रों में आवागमन के साधनों की सुविधा प्रदान करनी पड़ी। इन सुविधाओं के सुलभ होते ही अपने आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से छोटे मोटे व्यापारी कर्ज देने वाले महाजन तथा कुषको के रूप में अन्य सम्प्रदायों के लोग भी आकर इन क्षेत्रों में बसने लगे तथा आदिवासियों के सम्पर्क में आने लगे। अपना परम्परागत जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियों के आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन एवं उनकी शिक्षा का लाभ नष्टाकर इन बाह्य तत्वों ने उनका आर्थिक शोषण करना शुरू कर दिया। अंग्रेजों तथा इन बाह्य तत्वों के उद्देश्यों में समानता थी अतः ब्रिटिश प्रशासन ने उन्हें प्रोत्साहित किया और इसके बदले में अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिये इन्हें अपना साधन बना लिया। अंग्रेजी प्रशासन ने आदिवासियों की राजनैतिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया। अन्य बाह्य तत्वों ने उनका अधिक शोषण करना शुरू कर दिया। वे लोग अंग्रेजी कानून की सहायता में आदिवासियों की भूमि पर अपना आधिपत्य जमाने लगे। परिणामस्वरूप आदिवासी भूमिहीन

मजदूरों की अवस्था ने इसे सही। सभी आदिवासी बग कर, कामकी तौर पर भविष्य बनकर उन्होंने सर्वोच्च की अपने आर्थिक लाभ में साक्षीदार बनाया। ईसाइयों ने धर्मपरिवर्तन की अतिविधियों के संदर्भ में उनके सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप किये। इन सभी प्रकार के बाह्य तत्वों के सम्पर्कों से जहाँ एक ओर उनका आर्थिक जीवन होता रहा वहाँ दूसरी ओर उनमें अपने परम्परागत सांस्कृतिक जीवन के प्रति हीनता की भावना जागृत होने लगी। बाह्य तत्वों में अधिक संख्या हिन्दुओं की ही थी। हिन्दुओं का सांस्कृतिक जीवन और विशेष रूप से जातिप्रथा के रूप में उनकी सामाजिक व्यवस्था आदिवासियों का आकर्षण बन गई। इन बाह्य तत्वों की आर्थिक समृद्धि एवं श्रेष्ठता ने उनके समक्ष जीवन के नये आयाम प्रस्तुत किये। उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि सदियों से चली आ रही अभावपूर्ण अवस्था एवं उपेक्षा का एकमात्र कारण उनकी परम्परागत सत्कृति ही है। सम्पर्क में आने वाले सभी बाह्य तत्व उनके परम्परागत सांस्कृतिक जीवन को हेय समझते थे एवं उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। आदिवासी यह अनुभव करने लगे कि अपनी परम्पराओं का परित्याग करके ही वे अपनी कठिनाइयों से मुक्ति पा सकते हैं। दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार करते हुये नैतिकता के नये आदर्श उनके समक्ष प्रस्तुत किये तथा इन आदर्शों को अपना लेने पर उनके सभी कष्टों को दूर करने का प्रलोभन दिया। ये परिस्थितियाँ आदिवासियों को भ्रमित करने के लिये पर्याप्त थी। जो लोग ईसाई धर्म को अपना चुके थे उन्हें जीवन की विशेष सुविधाय सुलभ होती आ रही थी और आदिवासी समुदायों में ही वे एक नये बग के रूप में उभरकर सामने आते जा रहे थे। जिन्हें केवल अपनी परम्पराओं में ही परिचय था उनके समक्ष विकल्प प्रस्तुत हो चके थे। उनका आत्मविश्वास क्षीण होने लगा। उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों और अपने देवताओं की शक्ति एवं प्रभाविकता पर सन्देह होने लगा। हिंदू सत्कृति की ओर आकृष्ट व्यक्तियों का भी एक बग बनने लगा। धर्म की ओट में राजनैतिक तत्वों ने भी आश्रय लिया। परिणामस्वरूप समय-समय पर अराजकता एवं आंदोलनों की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रही। बाह्य तत्वों ने उनके आकर्षण, अभाव, एवं अज्ञानता का पूरा पूरा लाभ उठाने के प्रयत्न किये। कचको एवं जमींदारों ने धीरे धीरे उनकी भूमि पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया। अपने आर्थिक स्वार्थों के लिये सस्ती मजदूरी के लिये उनका प्रयोग किया। स्वेच्छा से अपनी योजना के अनुरूप स्वतंत्रता वातावरण में कार्य करने वाले आदिवासी इन बाह्य तत्वों

के तुलना करते हैं। उनकी निराली हुई आर्थिक शक्ता का लाभ महाजन्यों के जंजीर पर पड़ बपका कार्य देकर उठाना। इसके पूर्व आदिवासियों ने कभी भी यह अनुभव नहीं किया था कि जिस भूमि पर वे सदियों से कृषि करते चले आ रहे हैं तथा जिन जंगलों पर वे सदियों से निर्भर हैं, उनपर किसी अन्य का अधिकार भी हो सकता है। अपने परम्परागत आर्थिक जीवन में वे जैसे भी अपना जीवन बाँटते रहे, व्यवस्थित होते हुए भी उससे वे समुष्ट थे। आर्थिक समृद्धि का मानवण्ड स्वयं उनका अपना आर्थिक जीवन था। बाह्य तत्त्वों के सम्पर्कों ने उनके इन मानवण्डों को तोड़ दिया तथा अन्यो की ही दृष्टि ने नहीं अपितु अपनी दृष्टि ने भी वे खिंचे हो गये और इस खिंचता के प्रति उनमें असन्तोष व्याप्त होने लगा। समृद्धि के नये मानकों को प्राप्त करने की लालसा उनमें उत्कट होती गई। समय-समय पर इस असन्तोष ने उग्र रूप धारण किया तथा समृद्धि भूख दारिद्र्य से लक्ष्य हुये। विजय सर्वद्व अधिक शक्तिशाली बलों की हुई किन्तु आदिवासियों को ही उनकी विजय के परिणामों का मूल्य चुकाना पड़ा। ऐसी ही परिस्थितियों ने उनके बीच नेतृत्व को जन्म दिया। जिन नेताओं ने उनके आंदोलनों का सञ्चालन किया अग्रिमस्त वे सभी अशिक्षित थे। परन्तु उन्होंने आदिवासियों में स्वाभिमान एवं स्वातन्त्र्य प्रेम जागृत किया। इन नेताओं में अवश्य साहस था। वे इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं थे कि विदेशी शासकों की बन्तूकों के समक्ष उनके तीर कमान भाले आदि अधिक समय तक नहीं टिक सकते। उन्हें इसका भी आभास था कि विदेशी शासकों से लक्ष्य में अन्य बाह्य तत्त्व उन्हें सहयोग नहीं देंगे। परन्तु शोषण एवं अत्याचार की सीमामें इतनी दूढ़ चुकी थी कि वे अपने को अधिक समय तक शांत न रख सके।

स्व० बेरियर एलविन ने अपनी पुस्तक "A Philosophy for N E F A" (पृष्ठ 62-63) में आदिवासियों की भूमि के सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक महत्व पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'नेफा के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में वहाँ भी आदिवासी समुदायों का पतन हुआ है, वहाँ उनमें व्याप्त असन्तोष एवं उनकी मानसिक व्याथा का प्रमुख कारण उनके भू-स्वामित्व का समाप्त होना ही रहा है।' इस एक कारक के इतने घातक परिणाम हुये हैं कि अन्य सभी कारक इसके सामने तुच्छ हैं। यदि हम सत्ता के विरोध में आज तक हुये सभी आन्दोलनों का अध्ययन करें तो उनकी दृष्टभूमि में यही एक प्रमुख कारण साबित होता है। यहाँ पर एक अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य है। आदिवासी अस्तित्वों को रोक की अन्य राजनैतिक गतिविधियों एवं

साधारण जन जीवन की जन स्थिति की पृष्ठभूमि से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यद्यपि अधिकांश आदिवासी क्रान्तियों का उदभव लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद ही हुआ फिर भी देश के सम्य समानों में चल रहे राजनैतिक संघर्षों ने काफी समय पूर्व से ही इन क्रान्तियों की भूमिका तैयार करने में योगदान दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों से पीड़ित राजा-महाराजाओं एवं नवाबों से हुए संघर्षों के प्रभाव भी किसी न किसी रूप में इन सुदूर एकांतवासी आदिवासियों पर पड़ा। वास्तविकता तो यह भी कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अंगानि एवं बाकोश का वातावरण सम्पूर्ण भारत के जन जीवन का एक अंग बन चुका था। इस शताब्दी का इतिहास इतना संघर्षमय रहा है तथा इन संघर्षों के परिणाम इतने व्यापक हुए हैं कि आदिवासी गतिविधियों को उनमें अप्रभावित मानना हमारी एक भारी भूल होगी। अतः यह कह सकना अत्यंत कठिन है कि विदेशी शासकों के विरोध में प्रथम संघर्ष एवं क्रान्ति का श्रेय आदिवासियों को मिलना चाहिए अथवा देश के अन्य वर्गों को। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् 1855 में सन्ध्याल विद्रोह से सन् 1857 में हुई राष्ट्रीय क्रान्ति के नायकों ने अवश्य प्रोत्साहन प्राप्त किया होगा। यह भी सत्य है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन अन्ततोगत्वा उस लक्ष्य को प्राप्ति करने में सफल हो सका जिसकी धारणा उन्नीसवीं शताब्दी में ही बन चुकी थी। गांधीजी की सफलता की पृष्ठभूमि में असह्य देशवासियों के रक्तरेजित प्रयास सन्निहित थे। असहयोग आन्दोलन एक नवीन दर्शन एवं नवीन प्रेरणा में उत्पन्न एक नये रूप में उही प्रयासों की पराकाष्ठा थी।

### आदिवासी आन्दोलनों का वर्गीकरण

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में बसने वाले आदिवासियों के जन आन्दोलनों एवं क्रान्तियों की समीक्षा की जा सकती है। इनके अध्ययन से हम एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी आन्दोलनों किसी एक लक्ष्य के लिए अथवा किसी एक कारण से नहीं हुए। प्रत्येक आन्दोलन की पृष्ठभूमि में असन्तोष एक सामान्य अवस्था होती है। किन्तु असन्तोष आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के कारणों का परिणाम हो सकता है। स्वयं आन्तरिक कारणों के लिए प्रेरणा का स्रोत बाह्य कारकों में निहित हो सकता है। अतः सभी आन्दोलनों को एक ही दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत स्तर पर समीक्षकों के दृष्टिकोण

हैं, अन्तर होने का स्वतन्त्राधिक है। उदाहरण के लिए सन् 1857 में व्याप्त असन्तोष के फलस्वरूप हजारों देशों में जो आन्दोलन हुये उन्हें विद्रोह कहा जाने लगा स्वतन्त्रता संग्राम का प्रतीक माना गया, इस विषय पर आज भी इतिहासकारों में मतभेद नहीं है। मत इस बात पर यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि आदिवासियों के आन्दोलनों एवं क्रान्तियों के संबंध में यहाँ पर व्यक्त किये जा रहे बिचारों में हमारा अपना दृष्टिकोण निहित है। सम्भव है कि कल्पित मानव वैज्ञानिकों का हमारा इस समीक्षा में मतभेद न हो।

भारतवर्ष के सभी आदिवासी आन्दोलन देश में विद्यमान विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम थे। इस आधार पर उनकी तुलना अन्य देशों में हुए आदिवासी आन्दोलनों से नहीं की जा सकती। यद्यपि अन्य महाद्वीपों जैसे आस्ट्रेलिया अमेरिका तथा अफ्रीका आदि में भी अधिकांश क्रान्तिकारी आन्दोलन विदेशी सत्ता एवं उनके प्रशासकीय हस्तक्षेप के विरोध में ही हुए तथापि परिस्थितियों में अन्तर होने के कारण उन सभी आन्दोलनों का भारतीय आदिवासी आन्दोलनों के साथ समान स्तर पर तुलनाकन नहीं किया जा सकता। संसार के अन्य सभी क्षेत्रों में अधिकांशतः आदिवासी आन्दोलन उपनिवेशवाद के परिणाम स्वरूप हुये जबकि भारतवर्ष में अधिकांश आन्दोलन केवल विदेशियों के हस्तक्षेप के कारण ही नहीं हुये। आदिवासियों पर हिन्दुओं के व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव पड़े। अनेक स्थानों पर देश के ही अन्य तत्वों के व्यवहार एवं उनके द्वारा किये जाने वाले आर्थिक शोषण की भी प्रतिक्रियाओं हुईं। जहाँ अन्य देशों में केवल विदेशी एवं स्थानीय तत्वों के बीच समायोजन का प्रश्न था वहाँ भारतवर्ष में आदिवासियों तथा देश के अन्य समूहों के बीच भी समायोजन का प्रश्न था। विदेशी तत्वों ने इन समूहों को अपने हितों को सुरक्षित रखने का साधन बनाया तथा दूसरी ओर इन समूहों ने विदेशियों के राजनैतिक प्रभुत्व की छत्रछाया में अपने निहित स्वार्थों का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष में दो पूर्णरूप से भिन्न सस्कृतियों एवं भिन्न प्रजातियों के तत्वों के द्वंद्व की समस्या नहीं थी। इस दृष्टिकोण से अन्य देशों में हुए आदिवासी आन्दोलनों का तुलनाकन भारतीय आदिवासियों की तुलना में भिन्न स्तर पर ही किया जा सकता है।

**यसीही आन्दोलन**

भारतीय आदिवासी आन्दोलनों में एक प्रमुख श्रेणी उन तत्वों

आंदोलनों की मानी जा सकती है जिन्हें मसीही आन्दोलन (Messianic Movements) कहा गया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं सामान्यतः आदिवासी अपने परम्परागत सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन को सर्वोत्तम मानते आये हैं। अपनी परम्पराओं में विश्वास एवं निष्ठा के सहारे सैकड़ों आपत्तियों/क्षितियों/दरिद्रता एवं दैन्य से पूरा जीवन भी उनमें किसी प्रकार के असन्तोष को जन्म नहीं देता। परन्तु जब उनके सम्पर्क अपने से भिन्न वर्गों से होते हैं तो एक भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक एवं सामाजिक व्यवस्था से उनका परिचय होता है। इन लोगों का जीवन उतना कष्टमय नहीं होता तथा उनकी आर्थिक व्यवस्था अधिक उपयोगी जान पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में उनमें अपनी परम्परागत व्यवस्थाओं के प्रति अविश्वास जन्म लेने लगता है। परिणामस्वरूप नये सम्पर्कों से प्राप्त नई व्यवस्था के प्रति आकर्षण तथा अपनी परम्परागत व्यवस्था के प्रति हीनता की भावना पनपने लगती है। परन्तु सम्पर्क में आये वग अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये सभी प्रकार के उचित एवं अनुचित साधनों का प्रयोग करने लगते हैं। परिणाम स्वरूप आदिवासियों का सामान्य जीवन और भी अधिक दुष्कर हो जाता है। उनके जीवन के मूल्यों का घोर अनादर किया जाता है तथा उनका नैतिक पतन होने लगता है। उनमें एक प्रकार की व्यग्रता एवं उत्तेजना पनपने लगती है। निहित स्वार्थ यदा कदा राजनैतिक उपलब्धियों के लिये धर्म का प्रयोग करते हैं। ऐसी दशा में आदिवासियों में अपने परम्परागत जीवन के स्वर्णिम युग की चेतना आती है। नवीन एवं पुरातन, परिवर्तित एवं परम्परागत मूल्यों में संघर्ष उनके मानसिक उत्पीड़न का कारण बन जाता है। असन्तोष धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। परन्तु उनका नैतिक पतन इस स्तर तक पहुँच चुका होता है तथा बाह्य तत्वों के सांस्कृतिक प्रभाव इतने प्रबल हो चुके होते हैं कि फिर से परम्परागत जीवन व्यतीत कर सकने की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो पाती। ऐसी अवस्था में वे एक ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं जो उन्हें उनकी परम्पराओं की ओर ले जाने का आश्वासन दे सके। ऐसी ही मानसिक दृढ़ एवं नैतिक पतन की परिस्थितियों में अधिकांश आंदोलनों के सचेतक नेताओं का जन्म हुआ। कहीं-कहीं पर यह नेतृत्व कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों से प्राप्त हुआ तथा कहीं-कहीं पर कुछ सामाजिक समूहों ने नेतृत्व प्रदान किया। अतः अधिकांश मसीही आंदोलन ऐसी ही परिस्थितियों के परिणाम थे। परन्तु परम्परागत जीवन के प्रति पुनः आकर्षण एवं संपर्क में आये नवीन सांस्कृतिक तत्वों के

प्रति देव के बाधक भी इन प्रभावशाली सांस्कृतिक उत्सवों का अक्षिप्त निरन्तर होता रहता है। उनके नेता प्रगतिशील तत्वों की सांस्कृतिक ओष्ठता तथा उनकी तकनीकी क्षमताओं के लिये उनके धार्मिक विश्वासों को उत्तर-दायी बताते हैं तथा आदिवासियों की हीनबन्ना के लिये-परम्परागत धार्मिक विश्वासों एवं देवी-देवताओं की दोषी बनाने लगते हैं। अपने नेतृत्व को सफल बनाने के लिये अहाँ एक ओर आदर्श प्राचीन स्वर्णिम युग का स्वप्न संचार करने का आश्वासन देते हैं वहीं सम्पर्क में आये लोगों के कतिपय सांस्कृतिक तत्वों को अपना कर उनके सामाजिक एवं आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने की बात भी करते हैं। ये सभी नेता अधिक से अधिक संख्या में आदिवासियों का समर्पण प्राप्त करने के लिये एवं उनका सहयोग पाने के लिये अपने नेतृत्व में उनके पूर्ण विश्वास एवं निष्ठा का आवाहन करते हैं। ये सभी नेता आदिवासियों को आवश्यककित करके उनका विश्वास प्राप्त करने के लिये अपने में एक अलौकिक शक्ति होने का दावा करते हैं। संभव असंभव सभी प्रकार के कार्यों को कर सकने की क्षमता दर्शाते हैं। आदिवासियों को आध्यात्मिक भय से आतंकित करने का प्रयास करते हैं। कभी कभी कुछ आन्दोलनों के प्रणेता अपने जीवन-काल में कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सके। ऐसी अवस्था में उनके बाद उनके निष्ठावान प्रतिपादियों ने उद्बेग को सजीव रखने का प्रयास किया तथा आन्दोलन को सफल बनाया। सामान्यतः इस प्रकार का नेतृत्व आदिवासी समुदायों से ही उभर कर सामने आता है। परन्तु कहीं-कहीं पर ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व बाह्य व्यक्तियों के द्वारा भी हुआ जो कि पूर्णरूप से आदिवासी समुदायों की आकांक्षाओं से तादात्म्य रखते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में भी असंतोष के मूल कारण सांस्कृतिक एवं आर्थिक ही हुआ करते थे किन्तु इन आन्दोलनों का सूत्रपात धार्मिक आधार पर हुआ। इन आन्दोलनों के नेताओं के प्रेरणा स्रोत ईसाई धर्म अथवा हिन्दू धर्म में ही निहित थे। ये सभी नेता सामान्य आदिवासियों को आकर्षित करने के सभी उपाय करते थे और इनमें सफल नेतृत्व का सभी युष्म विषयान थे। अपने को अलौकिक शक्ति से प्रभावित घोषित करके-अपनी जाति के कल्याण के लिये अवतार अथवा मसीहा के रूप में अपने को प्रगट करते थे। इसीलिये ऐसे आन्दोलनों को मसीही आन्दोलन कहा गया।

**आर्थिक शोषण से प्रेरित आन्दोलन**

भारतवर्ष में आदिवासियों का अधिक शोषण एक प्रमुख समस्या रही



है—जिसके विरुद्ध विद्रोह के परिणाम स्वरूप अनेक आन्दोलन हुये। अधिकांशतः तीन प्रकार के तत्वों ने आदिवासियों की दयनीय अवस्था तथा सरकारी कानून से उनकी अनभिज्ञता का लाभ उठाकर उनका आर्थिक शोषण किया। एक तो अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त एबे मायता प्राप्त जमींदारों अथवा मुत्तादारों का वर्ग था। आदिवासी सामान्यतः अपनी भूमि पर कृषि करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझते थे। दूसरी ओर अपने क्षेत्र के बनो पर भी अपना अधिकार समझते थे। अंग्रेजी प्रशासन ने इन सभी क्षेत्रों पर राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के दृष्टिकोण से तथा अपनी आय में वृद्धि करने के दृष्टिकोण से जमींदारों, मुत्तादारों तथा जंगलों के ठेकेदारों को नियुक्त किया जिन्हें कृषि करने अथवा वन-सम्पत्ति का उपयोग करने के लिये आदिवासियों से कर वसूल करने के अधिकार प्राप्त थे। वन-सम्पत्ति का आर्थिक उपयोग करने के लिये वन सम्बन्धी कठोर नियम बना कर उन्हें सुरक्षित क्षेत्र घोषित करके आदिवासियों को वन सम्पत्ति के प्रयोग पर एब जंगल काटकर एब आग लगा कर की जाने वाली उनकी परम्परागत कृषि पद्धति पर रोक लगा दी गई। आदिवासी अब व्यवस्था मूलतः बनो पर ही निर्भर करती थी। इन प्रतिबन्धों के परिणाम स्वरूप उनके समक्ष अत्यंत कठिन आर्थिक समस्या उपस्थिति हो गई। जमींदारों ने मनमाना लगान वसूल करना शुरू कर दिया। लगान न दे सकने की अवस्था में नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। उनकी भूमि को अपने अधिकार में करना शुरू कर दिया तथा बेगार प्रथा को जन्म दिया। आदिवासियों को आर्थिक समस्याओं की चिंता छोड़कर केवल लगान न दे सकने के अपराध में महीनो बेगार करनी पड़ती थी तथा उनके परिवार के लोग भूखो मरते थे।

दूसरा वर्ग महाजनो एब हिन्दू कृषकों का था। सूदखोर महाजनो तथा साहूकारों ने उनकी गरीबी तथा अज्ञानता का भरपूर लाभ उठाया। काफी ऊँची दरों पर रुपये कज देकर फर्जी कागजों पर उनके अंगुष्ठों की छापों को मनमाने ढंग से कानूनी मायता दिलावाकर उनकी जमीनों को बेदखल करने का कुचक्र चलाते रहे। दूसरी ओर हिन्दू कृषक अधिक भूमि प्राप्त करने के लालच में आदिवासी क्षेत्रों के सन्निकट आकर बसने लगे। छोटे मोटे व्यापार धंधे तथा कृषि आदि के माध्यम से धीरे धीरे आदिवासियों की भूमि अपने अधिकार में करने लगे।

आदिवासियों के आर्थिक शोषण का एक तीसरा वर्ग उन छोटे मोटे सरकारी कर्मचारियों का था जो कि झूठे सरकारी आवेदनों, पुलिस जेल

आदि का भय दिखाकर आगे दिन आदिवासियों को डगमगाते रहते थे तथा अक्सर बूटपाट भी करते थे। सरकारी कर्मचारी होने के नाते एक ओर तो उन्हें स्वयं प्रशासन एवं पुलिस का संरक्षण प्राप्त होता था, दूसरी ओर अंग्रेजी प्रशासन से सहानुभूति होने के कारण जमींदार भी उन्हें सहयोग देते थे। इस प्रकार से ये तीन प्रकार के आहूत तत्त्व सर्वत्र आदिवासियों के आर्थिक शोषण के केन्द्र बिन्दु बने रहे। परिणाम स्वरूप कहीं-कहीं पर आदिवासियों की दशा इतनी दयनीय हो गई तथा असंतोष इतना बढ़ गया कि उनके समस्त विद्रोह करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह गया। आंध्र प्रदेश में सन् 1802-1803 के मध्य राम भूपति के नेतृत्व में रम्पा फियूरी नामक विद्रोह गोदावरी से पूरब में बसने वाले आदिवासियों में हुआ। ये विद्रोह मुत्तादारों के अत्याचारों के विरोध में हुआ। मुत्तादार ब्रिटिश इंडिया कम्पनी द्वारा निर्धारित छोटे मोटे सरदार हुआ करते थे जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिये आदिवासियों से भूमि पर कर वसूल करने तथा उनमें शांति बनाये रखने के लिये रखे जाते थे। इन मुत्तादारों ने गरीब कोया एवं कोडा रेडडी आदिवासियों को बहुत ही उत्पीड़ित किया जिसके परिणाम स्वरूप विद्रोह का सूत्रपात हुआ। इसी प्रकार से आंध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्र में ठेकेदारों ने आदिवासी जंगली क्षेत्र से गुजरने वाले राष्ट्रीय मार्ग के निर्माण कार्य में उनसे जबर्दस्ती मजदूरी कराना शुरू किया। यह मजदूरी उनकी इच्छा के विरुद्ध तो होती ही थी, साथ ही उनको पारिश्रमिक भी नहीं दिया जाता था। सरकारी ठेकेदारों का यह रवैया धीरे धीरे असंतोष एवं अशांति का कारण बन गया। अन्त में आंध्र प्रदेश के एजेंसी क्षेत्र में आदिवासियों में भीषण ज्वाला भस्मक उठी और फौजों को इस विद्रोह का दमन करना पड़ा। इसी प्रकार से बिहार के मुंडा तथा सथाल आदि जातियों में हुई जातियों की पृष्ठभूमि में भी अशान्तिजनक विविध स्वरूपों में आर्थिक शोषण ही मूल कारण था किन्तु-इन कारणों से जन्मित होते हुये भी असंतोष ने आन्दोलन एवं जाति का रूप आत्मिक आधार पर लिया। अतः इन आन्दोलनों का आन्तरिक स्वरूप आर्थिक-असंतोष होते हुये भी अपने बाह्य स्वरूप में वे वसीही आन्दोलन थे।

### स्वातंत्र्य आन्दोलन

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं-आदिवासी स्वभाव से ही स्वातंत्र्य प्रकृति के होते हैं। विशेषकर भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन की स्थापना से पूर्व

उनके एकांत एवं निजन क्षेत्रों में राजनैतिक हस्तक्षेप लगभग नगण्य ही रहा है। परन्तु अंग्रेजों ने सभी क्षेत्रों में धीरे-धीरे राजनैतिक प्रशासन कायम करना शुरू किया। अनेक क्षेत्रों के आदिवासियों ने अपनी परंपरागत स्वतंत्रता के राजनैतिक हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं किया और तीव्र विरोध किया। इस संबंध में असम प्रदेश के आदिवासियों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। असम के अधिकांश आदिवासी अत्यंत उग्र प्रकृति के हैं और उनमें परस्पर झगड़ होते रहते हैं। इसीलिए इस प्रदेश के आदिवासियों में सदैव अशांति व्याप्त रही है। ईसाई मिशनरी इस प्रदेश के आदिवासियों में काफी समय से क्रियाशील रहे हैं। परिणाम स्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रदेश के आदिवासियों ने देश के अन्य आदिवासियों से कहीं अधिक प्रगति की है। संभवतः ईसाई मिशनरियों के संपर्क एवं शिक्षा का ही परिणाम है कि इन आदिवासियों में राजनैतिक चेतना अत्यंत अधिक है। सदैव से ही यह प्रदेश आदिवासियों के आंतरिक विवादों एवं युद्धों का क्षेत्र रहा है। विशेषकर नागा आदिवासियों में युद्ध एवं द्वंदों को नरमुंड शिकार के सांस्कृतिक महत्व के कारण एक परंपरा का रूप प्रदान कर दिया गया। युद्ध द्वंद एवं लूटपाट की परंपरा इनकी संस्कृति का एक अंग बन चुकी है। सन 1938 में जब अंग्रेजों ने असम के आजोम राजाओं को विस्थापित करके प्रदेश पर अपना राजनैतिक आधिपत्य स्थापित किया तो उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश के आदिवासियों को उन्होंने कहीं अधिक अशांत और विद्रोही प्रकृति का पाया। इस प्रकार से ब्रिटिश शासकों के प्रति घणा की भावना असम के आदिवासियों में तीव्र होती गई। प्रारम्भ में सन 1828 में प्रथम क्रांति का लक्षण दिखाई दिया। आजोम राजा के एक युवराज गोमबर कुवर ने इस क्रांति का सूत्रपात किया तथा स्थान-स्थान पर आदिवासियों ने ब्रिटिश प्रशासकों को अपनी स्वतंत्रता में बाधक समझते हुये उनके प्रशासन में व्यवधान उपस्थित किये। निरंतर ब्रिटिश प्रशासन की सैनिक सहायता से इन विद्रोहों का दमन करना पड़ा। सन 1829 में खासी पहाड़ियों में ब्रिटिश प्रशासन के विरोध में विद्रोह हुआ। उन्हें इस बात का संदेह था कि मैदानी क्षेत्रों की भांति यह प्रशासन उन पर भी कर लगायेगा। हजारों की संख्या में खासियों ने संगठित होकर सामूहिक रूप से संधन किया। सन 1830 का वर्ष पूरे असम प्रदेश में आदिवासी क्रांतियों का वर्ष था। वर्ष के प्रारम्भ से ही खासी तथा गारो लोगों के सम्मिलित संधन चलते रहे। कुछ ही समय बाद उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश में खाम्पटी तथा सिंगपो सरदारों ने अशांति उत्पन्न कर दी। खासी लोग तीर्थ सिंग के नेतृत्व में चार वर्षों तक संधनरत रहे।

इसी वर्ष एक अन्य विद्रोह 'आन्दोल' राजाओं द्वारा भी संगठित किया गया। इन राजाओं ने पास पड़ोस के आदिवासियों का संपूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त कर लिया था। विद्रोह ने एक स्वतंत्रता सचर्य का रूप ग्रहण कर लिया जिसे सन् 1857 की राष्ट्रीय क्रांति से कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सारे देश में जहाँ जहाँ भी अंग्रेजी प्रशासन के नियम-प्रतिबंध एवं कानून आदिवासियों की परंपराओं के विरोधी साबित हुये—वहाँ वहाँ निरन्तर विद्रोह होते रहे। सामान्यतः प्रशासन द्वारा कर लगाने को ही अपनी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप तथा अपने अधिकारों पर अतिक्रमण समझा गया। अतः सर्वत्र करो के विरोध में ही सचर्य अधिक सक्रिय में हुये।

### विशुद्ध राजनैतिक आन्दोलन

अभी हाल में तीन चार वर्षों पूर्व कुछ आदिवासी क्षेत्रों में एक नये प्रकार के आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसे नक्सलबाड़ी आन्दोलन कहा जाता है। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका नेतृत्व आदिवासियों के हाथों में नहीं था। विशुद्ध राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित कुछ बाह्य तत्वों ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों का केन्द्र आदिवासियों को बना लिया तथा उन्हें बड़े कृषकों—जमींदारों आदि के विरुद्ध भड़काया। पश्चिमी बंगाल में दार्जिलिंग जिले के नक्सलबाड़ी नामक स्थान पर इस आन्दोलन का सूत्रपात होने के कारण इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को नक्सलबाड़ी आन्दोलन कहा गया। इस आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता श्री चारू मजूमदार तथा कानू सायाल थे। सन् 1968-70 के मध्य यह आन्दोलन अपनी चरम स्थिति पर रहा। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि इसका नेतृत्व अतिशिक्षित व्यक्तियों के हाथ में था। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इस आन्दोलन को कृषि-समस्या से संबद्ध किया गया, किन्तु वास्तव में यह कुछ चढ़ पड़े—लिखे क्रांतिकारियों के राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति का ही परिणाम था। संघटित रूप से सशस्त्र संघर्ष इस आन्दोलन की विशेषता थी। पश्चिमी बंगाल में दार्जिलिंग जिले के क्षेत्र तथा आंध्र प्रदेश एवं इसी प्रदेश से सलग्न उड़ीसा के कुछ भागों के ही आदिवासियों तक यह आन्दोलन सीमित रहा। इस आन्दोलन पर नियंत्रण पाने के लिये भारत सरकार को कई वर्षों तक कठिन प्रयास करने पड़े।

भारतीय आदिवासी आन्दोलनों को प्रमुख कारकों के आधार पर उपर्युक्त चार प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया है। परन्तु

वास्तव के अधिकांश आन्दोलनों का प्रारम्भ किसी एक विशेष कारण से नहीं हुआ। एक ही आन्दोलन को जहाँ एक ओर आर्थिक शोषण का परिणाम अथवा कृषक आन्दोलन माना जा सकता है वहीं सत्ता के प्रति ओर असन्तोष के कारण उसे राजनैतिक स्वतन्त्रता की भावना से ओतप्रोत भी समझा जा सकता है। इसी प्रकार से लगभग सभी मसीही आन्दोलन अथवा 'मण्डल आन्दोलन' विमुक्त रूप से आर्थिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं थे, बल्कि आर्थिक शोषण एवं सामाजिक सांस्कृतिक हस्तक्षेप के परिणाम थे, किन्तु जिन व्यक्तियों ने इन आन्दोलनों का नेतृत्व किया उन्होंने जन-साधारण को आन्दोलित एवं संघर्षरत करने के लिए प्रायः उसे आर्थिक रूप देना अधिक सुविधाजनक समझा। इस दृष्टिकोण से इन आन्दोलनों का किसी एक आधार पर विश्लेषण कर सकना कठिन हो जाता है। किन्तु अधिकांश आन्दोलनों के विश्लेषण से हम कुछ सामान्य कारणों को इंगित कर सकते हैं जो अधिकांश आन्दोलनों के लिए किसी न किसी रूप में उत्तरदायी थे। उदाहरण के लिए कृषि से सम्बन्धित समस्याएँ एवं नियम बाह्य तत्वों द्वारा आर्थिक शोषण राजनैतिक एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अतिक्रमण परम्परागत सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप आदि वे सामान्य कारण थे जिन्होंने आदिवासियों को आन्दोलित होकर विद्रोह करने एवं क्रान्तिपथ का अनुसरण करने पर विवश किया।

### कुछ प्रमुख आन्दोलन

केवल पिछले सौ वर्षों के समय को ही ध्यान में रखकर यदि देखा जाये, तो सारे देश में छोटे छोटे कुल मिलाकर इतने अधिक आन्दोलन हुये जिनका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ पर सम्भव नहीं है। हम विशेषकर विभिन्न जातियों में हुये कुछ उन आन्दोलनों के विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके परिणाम स्थायी न होकर इतने व्यापक थे कि उन्होंने एक बृहत् क्षेत्र के आदिवासी समुदायों के राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन के अधिकांश पक्षों को प्रभावित किया। इन सभी आन्दोलनों का नेतृत्व उन विशिष्ट क्षमताओं वाले व्यक्तियों के द्वारा हुआ जो कि आज तक इन आदिवासीयों में स्मरणीय हैं तथा आदिवासियों के इतिहास में उन्होंने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया।

### बिहार

बिहार प्रदेश कुछ प्रमुख आदिवासी आन्दोलनों का केन्द्र रहा है। बिहार

के अविवासी आदिवासी कृषक हैं और उनमें से काफी संख्या में आज भी जंगलों से खाद्य वस्तुएं अर्जित करके जीवन-यापन करते हैं। वनों से सम्बन्धित वैज्ञानिक विषयों से परम्परागत स्थानांतरण पद्धति से कुवि करने की प्रथा सीमित हो चुकी है और धीरे-धीरे अधिकतर आदिवासी हल से बेटी करने लगे हैं। आकाश के सम्य लोगों के क्षेत्रों में जन-संख्या वृद्धि के दबाव के कारण भूमि की माँग बढ़ती जा रही है तथा वे लोग निरन्तर अभ्यास एवं वैज्ञानिक विधियों से उनकी भूमि पर आधिपत्य स्थापित करते जा रहे हैं। समय-समय पर अकाल की स्थितियों में इस प्रदेश की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश प्रशासन ने आदिवासियों के कल्याण के लिए कभी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। जमींदारों के अविवेकपूर्ण आर्थिक शोषण के कार्यों तथा प्रशासन द्वारा उन्हें सदैव सहयोग दिये जाने के कारण ब्रिटिश प्रशासनकाल में आदिवासियों की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। ईसाई मिशनरियों की भेदभावपूर्ण नीति तथा हिन्दू सम्प्रदायों के सांस्कृतिक प्रभावों ने उनमें अपनी परम्पराओं अपने देवी-देवताओं के प्रति हीनता की भावना को जन्म दिया तथा उनकी एकता को विच्छिन्न किया। ऐसी ही परिस्थितियों ने उन्हें सदैव ऐसे व्यक्तियों की ओर आकर्षित किया जो उन्हें दरिद्रता से छुटकारा दिलाने का आश्वासन देते रहे और उन्हें अपनी भौतिक शक्तियों एवं क्षमताओं का आश्रय दिलाते रहे। हिन्दू प्रवासी एवं ईसाई मिशनरी दोनों पिछले डेढ़ सौ वर्षों से इन क्षेत्रों में किया शील रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपनी आस्थाओं में अविश्वास एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति हीनता की भावना उत्पन्न है। दोनों सम्प्रदायों ने बड़ी संख्या में इन आदिवासियों को अपनी ओर आकर्षित किया। परन्तु फिर भी जब उन्हें अपनी कठिनाइयों से मुक्ति न प्राप्त हो सकी तो कतिपय आदिवासीयों ने अपने परम्परागत मूल्यों के प्रति फिर से आकर्षण होने लगा। असन्तोष एवं अविश्वास से सन्तप्त मानसिक दशाओं में मार्गदर्शन की आवश्यकता अत्यन्त तीव्र हो उठी। ऐसी ही दशाओं में इन आदिवासियों में नेतृत्व ने जन्म लिया और जन-साधारण को आन्दोलित किया।

## भुंडा विद्रोह

भुंडा विहार के छोटा नागपुर क्षेत्र की एक बहुत्वपूर्ण आदिवासी है। परम्परा के अनुसार भुंडा लोगों ने भूमि का स्वाधिन सामुदायिक हुजा करता था। कुछ समय पश्चात् उनके सरदार अधिक अभिजात हो गये और राजा

बन गये। कुछ स्थानों पर मुंडा लोग हिन्दू राजाओं के आधीन हो गये। उनके सरदार अपने को हिन्दू राजाओं के समकक्ष प्रभावशाली दशमि के लोभ से हिन्दू संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगे। उन्होंने अपने यहाँ हिन्दू पूजास्थलों को रखना शुरू किया। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू संस्कृति के तत्व धीरे धीरे मुंडा समाज में व्याप्त होने लगे। उनके सरदार हिन्दू पुजारियों एवं राज कर्मचारियों को गाँव के गाँव तथा बड़े बड़े भूखण्ड दान में देने लगे और सामान्य आदिवासी उनके अधीनस्थ कृषकों के रूप में कार्य करने लगे और उन्हें उनकी भूमि पर कृषि के लिए लगान देना पड़ना था। परन्तु जैसे जैसे भूमि की माँग बढ़ती गई वे लगान बढ़ाते गये और लगान न अदा कर पाने की अवस्था में उनमें बेगार लेने लगे थे। आवश्यकता पड़ने पर ये आदिवासी साहूकारों से ऊँची दरों पर कर्ज लेने लगे। परिणामस्वरूप उनकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय होने लगी। सभी बाह्य तत्व किसी न किसी रूप में उनका आर्थिक शोषण कर रहे थे। इसलिए इन सभी के प्रति द्वेष की भावना मुंडा लोगों में तीव्र होती रही। यहाँ तक कि डीकू शब्द सभी बाह्य तत्वों के सम्बोधन का प्रतीक बन गया और मुंडा संस्कृति में घृणा एवं विद्वेष का प्रतीक बन गया। जब ब्रिटिश प्रशासन ने इन क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया तो हिंदुओं द्वारा चलाई जाने वाली भूमि व्यवस्था को मान्यता प्रदान की तथा अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए उन्हें पूर्ण रूप से प्रभय दिया। सन 1806 में प्रभावशाली प्रशासन की स्थापना के लिए उन्होंने जमींदारों को पुलिस अधिकार प्रदान किये—जिनका वे लोग दुरुपयोग करने लगे। प्रशासन के सभी नियम जमींदारों के अनुकूल साबित हुये—उनमें आदिवासियों की समस्याएँ एवं कठिनाइयों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। परिणाम स्वरूप ब्रिटिश प्रशासन के अंतर्गत प्रभय प्राप्त करके बाह्य तत्व इन आदिवासियों का आर्थिक शोषण करने के लिए और भी सशक्त हो चुके थे। धीरे धीरे यह शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँचने लगा तथा घृणा ने विरोध एवं विद्रोह का रूप ले लिया तथा आन्तरिक असन्तोष उग्र संघर्षों में परिवर्तित होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में मुंडा क्षेत्रों में यदा-कदा हिंसात्मक संघर्ष होने लगे थे। अपने परम्परागत अधिकारों के प्रति वे जागरूक होने लगे। सन 1811 से 1832 के मध्य में सात स्थानों पर जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष हुये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन सभी संघर्षों का दमन किया। परिणामस्वरूप उनकी दशा और भी दयनीय हो गई। सन् 1857 के लगभग बड़ी संख्या में मुंडा लोग जमनी के लुयेरियन मिशन की ओर आकर्षित हुये

और ईसाई बन गये। इन मिशनरियों ने उन्हें अस्सोच और हरिद्वारा को हूट करने के आश्वासन दिये और ईसाई बना लिया। किन्तु जर्म परिवर्तन से उनकी आर्थिक कठिनाइयों ने कोई विशेष अन्तर नहीं आ पाया। मिशनरियों के आश्वासन झूठे साबित होने लगे। स्थान स्थान पर ईसाई मुंडा लोग भी हिंसात्मक उपद्रव करने लगे, जिनमें मिशनरियों ने उन्हें सहयोग नहीं दिया। मुंडा लोग इन मिशनरियों का भी विरोध करने लगे जिन्होंने उन्हें धोखा दिया था। हजारों की संख्या में संगठित होकर उन्होंने मिशनरियों का विरोध किया। इनमें से मिशनरियों द्वारा शिक्षित व्यक्तियों के भी समूह थे जिन्होंने न्याय प्राप्त करने तथा अपनी कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए संगठित प्रयास प्रारम्भ कर दिये। शिक्षित व्यक्तियों का यह वर्ग वास्तव में क्रान्ति का प्रणेता बना। किन्तु नेतृत्व के अभाव में काफी समय तक क्रान्ति का अवसर प्राप्त न हो सका। शिक्षित वर्गों का यह आन्दोलन—सरदारी लड़ाई—के नाम से प्रसिद्ध है। इनका उद्देश्य मुंडा जाति को संगठित करके बाह्य तत्वों को निष्कासित करना तथा पूर्णरूप से मुंडा लोगों के अधिकारों को पुनः स्थापित करना था। शिक्षित होने के कारण इन लोगों ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष अपने लिखित ज्ञापन प्रस्तुत किये। किन्तु यह आन्दोलन सफल न हो सका। प्रभावशाली नेतृत्व का अभाव इसे क्रान्ति का रूप न दे सका।

सन् 1885 में जालकाद नामक गाँव का निवासी बिरसा नामक एक मुंडा इस अभाव की पूर्ति करने में सफल हुआ। उसने लुथेरियन मिशन में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी और लगभग बीस वर्ष का नवयुवक था। मिशन में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वह कुछ समय तक एक हिन्दू साधू के ससर्ग में रहा और तत्पश्चात् कुछ समय तक एक वैष्णव साधू के साथ भी रहा। उसने यह अफवाह फैला दी कि उसे ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हो चुकी है और ईसायसीह की भाँति भगवान ने उसे मुंडा जाति के उद्धार तथा डीकू से मुक्ति प्राप्त कराने के लिए नियुक्त किया है। अपने कुछ साधियों को उसने इस अफवाह का साक्षी बनाया जो कि निरंतर उसकी अलौकिक शक्ति एवं प्रतिभा का प्रसार करने लगे। सीधे ही काफी संख्या में लोग उसके अनुगामी हो गये। उसकी शिक्षाओं धर्म एवं राजनीति का सम्मिश्रण थी। एक ओर तो उसने पवित्र जीवन के हिन्दू आदर्शों को प्रतिपादित किया तथा दूसरी ओर प्रशासन एवं उसके कर्मचारियों का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया। मुंडा वर्ग के परम्परागत देवी-देवताओं की उपासना वर्जित की। केवल एक ईश्वर की उपासना पर अग्र दिये। यह धर्म मुंडा लोगों को



अनुकूल जान पड़ा क्योंकि अपने अनेक देवी-देवताओं को बलि देने के लक्ष्य के लक्ष्य से वे ऊँच चुके थे ।

इस धर्म सिद्धांत में ईश्वर की उपासना कोई विशेष सत्कारिक पद्धति नहीं थी । उसने खुशेमि मिशनरियों की भाँति प्रार्थना सभाओं संगठित करके लोगों को उपदेश देना आरम्भ किया । गुरुवार उसका जन्म दिवस था । उसी दिन को उसने सामूहिक प्रार्थनाओं के आयोजन का दिन निश्चित किया । उच्च जाति के हिन्दुओं के समान अपने अनुयायियों के लिए यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य कर दिया । लगभग सभी मुंडा लोग उच्च जाति के हिन्दुओं के समान सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिये लालायित थे । अतः इस अनिवार्यता से उसके प्रति लोगों की श्रद्धा में अभिवृद्धि हुई । लोगों के नैतिक व्यवहारों के लिये ईसाइयों के दस निर्देशों की भाँति उसने भी निर्देश जारी किये जिनमें चोरी, बेईमानी, हत्या, मद्यपान तथा एक से अधिक विवाह करने की अनैतिक घोषित किया । सुअर तथा भुर्गी पालना निषिद्ध कर दिया । धीरे धीरे अधिक से अधिक सभ्यता में लोगों का विश्वास एवं सहयोग प्राप्त करने के दृष्टिकोण से उसने अपनी शिक्षाओं को राजनैतिक मोड़ देना शुरू किया । सभी बाह्य तत्वों तथा शोषकों के प्रति घृणा की भावना को उत्तेजित करने लगा । लोगों को शोषकों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्रवाही करने के आदेश दिये । उसने लोगों को यह समझाया कि वे पुलिस की गोलियों से भयभीत न हों । उसकी दैवी शक्ति के प्रभाव से पुलिस की गोलीया पानी के समान द्रवित होकर अप्रभावशाली हो जायगी । उसने लोगों को यह कहकर भी बहकाना शुरू कर दिया कि यदि सिपाही लोग उसे बन्दी बना लेंगे तो भी उन्हें घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अपनी दैविक शक्ति के प्रताप से जेल से निकल कर फिर उनके समक्ष आ जायेगा । स्पष्ट है, बिरसा ने एक सफल नेतृत्व के सभी गुण मौजूद थे । पहले धर्म सिद्धांत एवं लोगों की इच्छा के अनुकूल नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन करके उसने उनका अटूट विश्वास अर्जित किया । जब उसे यह विश्वास हो गया कि लोग उसकी अलौकिक दैवी शक्ति में आस्था रखने लगे हैं और ऐसे लोगों की संख्या काफी बढ़ चुकी है, तब उसने अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के दृष्टिकोण से लोगों के साहस में वृद्धि करने के लिए मिथ्या तथा असंभव वादों करने शुरू किये ।

बिरसा पहाड़ी उसकी गतिविधियों का मुख्य केन्द्र स्थल था । धीरे-धीरे लगभग छह हजार मुंडा सन् 1895 में संगठित रूप से एकत्र होकर क्रांति के

पत्र पर अक्षर हो गये। उनका प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश शासन का विरोध, सभी बाह्य शक्तों का अपने क्षेत्र से निष्कासन एवं स्वतन्त्र मुँडा राज्य की स्थापना था। बिरसा तथा उसके अनुयायियों द्वारा संचित राजपूत राजा तथा जमींदार लोगों ने ब्रिटिश प्रशासन की सहयोग दिया। स्थान-स्थान पर सशस्त्र संघर्ष होने शुरू हो गये थे। नियोजित ढंग से जमींदारों, मिशनरियों तथा सभी प्रकार के बाह्य शक्तों का सफाया किया जा रहा था। जमींदारों तथा साहूकारों की सहायता से बिरसा बन्दी बना लिया गया और उसे ढाई वर्षों का कठोर कारावास देकर रांची जेल में लाया गया। उसके पन्द्रह अन्य निकट सहयोगियों को भी बन्दी बना लिया गया। परन्तु बिरसा के जेल में होते हुये भी लोगों के उत्साह में कमी नहीं आई। लोगों ने बिरसा को बिरसा भगवान कहना शुरू कर दिया था।

सन 1897 में ही बिरसा को जेल से छोड़ दिया गया। कुछ ही समय बाद वह फिर से सक्रिय हो गया। वह अधिक संख्या में लोगों से मिला, तथा अकाल पीड़ितों की सहायता की और इस प्रकार एक बार फिर उसने लोगों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित कर दी। उसकी गिरफ्तारी के अन्वेषण फिर से जारी कर दिये गये। उसने भूमिगत होकर अपना कार्य करना शुरू कर दिया। उसने तलवार चलाने तथा तीर चलाने में समर्थ प्रशिक्षित मुँडा सिपाहियों की आवश्यकता महसूस की। यह कार्य उसने अपने एक अंतरंग सहयोगी गया मुँडा को सौंप दिया। बड़ी संख्या में हथियार बनाने का कार्य भी संगठित किया गया। अपने सहयोगियों से बिरसा छिपे तीर पर मिला करता था तथा रात में घने जंगलों में अपनी संचायें किया करता था। सन् 1897 के क्रिसमस के दिन को क्रान्ति का शुभारम्भ करने का दिन निश्चित किया गया। उसी दिन प्रार्थना करते हुये लोगों पर ईसाई मिशनरी पर आक्रमण किया गया। पुलिस स्टेशनों तथा ईसाई मुँडा लोगों के घरों में जाच लगाई गई। परिणामस्वरूप रांची से सशस्त्र सेनाएँ क्रान्ति का समर्थन करने के लिये भेजी गई। काफी संख्या में मुँडा विद्रोहियों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी। किन्तु बिरसा तथा गया मुँडा छिपे तीर पर कार्य करते रहे। मुँडा विद्रोहियों को बिरसा पर सदेह हमले लगा। क्योंकि उसके आवश्यकता झूठे साबित हो रहे थे। उनके तीर बनाने तथा गोसियों के संयोजन टिका नहीं पा रहे थे। बिरसा भगवान की अवैधानिक शक्ति की शक्त झूठी पाई गई थी। उन्होंने अपने हथियार छोड़ दिये तथा जंगलों में भागने लगे। अन्त में सन् 1900 में बड़ी कठिनाई के क्या मुँडा तथा बिरसा को गिरफ्तार किया

गया। रांची जेल में जाने के कुछ ही समय बाद उसे हत्या हो गया और उसकी मृत्यु हो गई।

बिरसा की मृत्यु के समाचार पाकर मुंडा लोगो का साहस टूट गया तथा सदैव के लिए अपना राज्य स्थापित करने की उनकी आशामें समाप्त हो गई। किन्तु बिरसा द्वारा प्रतिपादित धर्म मुंडा समाज में काफी दिनों तक रहा, यहा तक कि आज भी मुंडा लोगो में बिरसा द्वारा चलाये गये धर्म के अनुयायियों का एक बग पाया जाता है। बिरसा में एक सफल नेतृत्व के सभी गुण थे। वर्षों से व्याप्त असंतोष एवं मानसिक उत्पीड़न की भूमिका में उसका सफल नेतृत्व इस क्रांति को जन्म दे सका। परन्तु उसमें मुंडा राज्य का राजा बनने की महत्वाकांक्षा थी। उसके प्रारम्भिक जीवन के अनुभव भी बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व के लिये उत्तरदायी थे। बिरसा ने अपनी शक्ति का वास्तविकता से अधिक मूल्यांकन किया था। परन्तु यह बिरसा आंदोलन छोटा नागपुर क्षेत्र के अन्य आदिवासियों का पथ प्रदर्शक बना। ओराब तथा सथाल लोगो ने भी आंदोलन से प्रेरणा प्राप्त की। ब्रिटिश प्रशासन को आदिवासियों की शक्ति का आभास हुआ। बिरसा मुंडा आदिवासियों का प्रथम नेता था जिसने छोटा नागपुर क्षेत्र में मुंडा लोगो के अस्तित्व को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अंग्रेजी सरकार ने उन परिस्थितियों को महसूस किया जिनके परिणामस्वरूप यह क्रांति हुई थी। परिणामस्वरूप सन 1903 में टेनेन्सी ऐमेडमेट ऐक्ट तथा 1908 में छोटा नागपुर टेनेन्सी ऐक्ट के अन्तर्गत भूमि व्यवस्था की याजना बनाई गई। धार्मिक-सामाजिक तथा आर्थिक स्वरूपों में बिरसा आंदोलन सरकारी आंदोलन का प्रसार मात्र ही था। दोनों आंदोलनों का सूत्रपात बाह्य तत्वों के आर्थिक शोषण एवं कृषि सम्बन्धी समस्याओं से उत्पन्न असंतोष से ही हुआ। बिरसा की क्रांति एवं उसके नेतृत्व ने इस आंदोलन को शक्ति एवं हिंसात्मक रूप प्रदान किया। इस आंदोलन के व्यापक सामाजिक प्रभाव भी मुंडा समाज में परिलक्षित हुये। बिरसा द्वारा चलाया गया धर्म हिन्दू सस्कृति एवं ईसाई धर्म का समन्वयभास था। इस नये धर्म को अपनाकर मुंडा लोगो ने अपनी परम्परागत सस्कृति के मूल्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये।

### छोटा नागपुर आन्दोलन

छोटा नागपुर क्षेत्र के ही निवासी ओराब लोग मुंडा लोगों के निकट संपर्क में ही रहते हैं। मुंडा लोगों के विपरीत ये लोग द्रविड भाषा परिवार

की एक भाषा बोलते हैं। इसकी भी सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति मुझ लोगों के ही समान है। सन् 1885 से 1900 तक का ही वह समय था जब मुझ आदिवासियों में ख्रिस्ता आंदोलन चल रहा था। इसी समय में ओरांव लोगों में एक के बाद एक कई धर्म प्रवर्तक नेता जन्मा भगत उत्पन्न हुये। इन सभी ने एक नये धर्म की ओट में अपने आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के प्रयास किये। उन्होंने ओरांव लोगों को सभी प्रकार के कष्टों से मुक्ति दिसाने के आश्वासन दिये। सभी ने जाह्य तत्त्वों के विरुद्ध जनमत तैयार करने के प्रयास किये। सभी ने उन्हें ये आश्वासन भी दिये कि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुसरण से उनका भी सामाजिक सांस्कृतिक स्तर ईसाई मिशनरियों तथा हिन्दुओं के समकक्ष हो जायेगा।

इस नये आंदोलन के सभी प्रणेता हिन्दुओं के भक्तिवाद तथा ईसाई धर्म से प्रभावित थे। उन्होंने परम्परागत आदिमजातीय देवी-देवताओं का बहिष्कार करने की शिक्षा दी और लोगों को यह समझाया कि उन देवी देवताओं में विश्वास ही उनकी हीन सामाजिक दसा एवं आर्थिक दैन्य का कारण है। सन 1914 में इसी प्रकार के एक धार्मिक प्रणेता ज्ञाना ओरांव ने ओरांव जनजीवन को आंदोलित किया। उसमें एक उच्चकोटि के धार्मिक नेतृत्व की आकांक्षा थी। उसने लोगों को धर्म से नामक ईश्वर की बात बताई जिससे उसने (कथित) प्रेरणा ग्रहण की थी। उसने सभी लोगों से मध्यपान त्यागने परम्परागत धर्म में अविश्वास करने पास न खाने तथा बैल का हल में न प्रयोग करने की शिक्षा दी क्योंकि बैल गाय के बन्धु होते हैं। शीघ्र ही उसके अनुयायियों की संख्या लगभग दो हजार हो गई और उसने यह कह कर लोगों को डरवाना शुरू किया कि जो लोग उसके धर्म में विश्वास नहीं करेंगे, वे दैविक प्रकोप के कारण मृगे हो जायेंगे। काफी संख्या में अनुयायी हो जाने के उपरांत उसने जमींदारों मिशनरियों तथा ब्रिटिश प्रशासन का विरोध करना भी शुरू किया। ज्ञाना भगत की उपासि को देखकर ओरांव समाज में इसी प्रकार के स्थानीय सुधारवादी आंदोलन होने लगे तथा ज्ञाना ओरांव की आति अनेक धार्मिक नेता क्रम से सामने आने लगे जिनके विचारों में कुछ थोड़े बहुत नाममात्र के अंतरी के अतिरिक्त लगभग समानता थी। यह भगत आंदोलन अंत तक ओरांव आदिमजाति तक ही सीमित रहा किंतु इसने पूरी आदिमजाति को काफी समय तक आंदोलित रखा।

सन् 1915 तक इन सभी स्थानीय आन्दोलनों ने लगभग एकसूत्र प्रवृत्ति की और ज्ञाना ओरांव के नेतृत्व में पूरी ओरांव आदिमजाति में व्यापक

स्तर पर एक शक्तिशाली आन्दोलन खाना भगत आन्दोलन का उद्भव हुआ।

जबकि ओरांव अपने कुछ सहयोगियों के साथ जिनमें एक स्त्री भी थी, सम्पूर्ण ओरांव प्रदेश में घूमने लगा। ये लोग देशभक्ति भावना से परिपूर्ण गीत गाते थे तथा अपनी दैनिक प्रेरणा का प्रचार करते थे। इन गीतों में बाह्य तत्वों एवं अंग्रेजी प्रशासन के प्रति घृणा की भावना निहित हुआ करती थी। मुंडा लोगों के विरसा भगवान की शिक्षाओं के अनुरूप ही इन लोगों ने भी प्रेतात्माओं में विश्वास, मांस-मछली खाने तथा मदिरापान का विरोध किया। गऊ पूजा का प्रसार किया गया। सूअर, सुर्गी तथा बकरी पालने को वर्जित माना गया। पूर्ण रूप से शाकाहारी खान-पान को प्रोत्साहन दिया गया। अपने हाथ से बुने हुए कपड़ों को पहनने पर जोर दिया गया। मूर्ति पूजा का विरोध किया। एक ईश्वर में विश्वास का प्रचार किया गया। सभी प्रकार के बलिदानों को पाप माना गया। हिन्दुओं के अनुसार दूध, घी, फल आदि अर्पण करके पूजा करने का प्रचार किया जाने लगा। इस आन्दोलन के संदेश को तानो कहा गया। तथा इस नये धर्म को मानने वाले अपने को ताना भगत कहने लगे। लोगों को विश्वास दिलाया गया कि धर्मस भगवान के आदेशानुसार शीघ्र ही उनके बीच विरसा की भाँति एक अवतार जन्म लेगा जो उनके सभी कष्टों को दूर कर देगा तथा ईसाई मिशनरियों जमींदारों तथा अंग्रेजों आदि सभी बाह्य तत्वों को ओरांव प्रदेश से बाहर निकाल देगा। तब ओरांव लोगों का अपना शासन होगा और उनका स्वर्णिम युग फिर से वापस आ जायेगा।

इन आश्वासनों से प्रभावित होकर स्थान-स्थान पर ओरांव लोगों ने खेतों का लगान देना तथा अन्य सभी प्रकार के करों का देना बन्द कर दिया। बाह्य तत्वों के प्रति घृणा की भावना इतनी उग्र हो चुकी थी कि कहीं-कहीं पर उनपर हिंसात्मक आक्रमण होने लगे थे। सन् 1921 में महात्मा गांधी के अवज्ञा आन्दोलन का भी प्रभाव इस आन्दोलन पर पड़ा जिसने इसके धार्मिक स्वरूप को रूपान्तरित करके राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया। अपने हाथ से बुना हुआ कपड़ा पहनने तथा मिल के बने कपड़ों का बहिष्कार गांधीजी के अवज्ञा आन्दोलन का ही स्पष्ट प्रभाव था। सन् 1921 में ही जाळा सगत को गिरफ्तार कर लिया गया। परिणामस्वरूप जिद्दोह एवं हिंसा की घटनाएँ तीव्र हो गईं। इस प्रकार एक त्रिशुद्ध धार्मिक एवं नैतिक सुधारवादी आन्दोलन की परिणति राजनैतिक क्रान्ति में हुई। जब हिंसात्मक आक्रमणों की घटनाओं में वृद्धि होने लगी तो प्रशासन ने सैनिक क़ायबाही से दमन

किन्तु । आन्दोलन की प्रकृति समान ही थी । किन्तु क्या कक्षा प्रभावित थी ?  
 किन्तु यही रहे यहाँ तक कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय तक रहे स्वतंत्रता  
 आन्दोलन में भी तात्कालिकता समूहों ने कांग्रेसी आतिथिकारियों को सक्रिय  
 सहयोग दिया । स्वतंत्रता संग्राम में तत्कालीन आन्दोलन के योगदान की  
 ध्यान में रखते हुए अक्टूबर सन् 1972 में लोकसभा द्वारा आन्दोलन की  
 प्रथम अटली के उद्घाटन के अवसर पर प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने  
 तात्कालिकता सम्प्रदाय के लोगों को सम्बोधित करते हुये उनकी प्रशंसा की ।

### सत्याग्रह विद्रोह

सत्याग्रह आदिवासीयों का क्षेत्र भी मुझ क्षेत्र का निकटवर्ती क्षेत्र है ।  
 वे लोग भी मुझी भाषा का प्रयोग करते हैं । सत्याग्रह परम्परा का क्षेत्र ही  
 इन लोगों का क्षेत्र है । अपनी भाषा एवं संस्कृति पर इन्हें अत्यधिक गर्व है  
 तथा इसी आधार पर इनमें सर्वोच्च राजनैतिक एकता रही है । धर्म परिवर्तन  
 का भी सांस्कृतिक प्रभाव इनकी राजनैतिक एकता को बिछिन नहीं कर सका ।

सन् 1855 में ब्रिटिश सत्याग्रह विद्रोह आदिवासी आन्दोलनों में प्रमुख  
 है । बाह्य तत्त्वों द्वारा आर्थिक लोभ आदिवासी आन्दोलनों की भाँति इस  
 आन्दोलन का भी प्रमुख कारण था । सत्याग्रह आदिवासीयों की परम्परा के  
 अनुसार कृषि भूमि तथा जंगलों पर सामुदायिक रूप से पूरे गाँव का  
 स्वामित्व होता है परन्तु 1793 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने तत्कालीन बंगाल  
 प्रदेश में स्थाई बंदोबस्त लागू करके जमींदारों के वर्ग को जन्म दिया । वे  
 जमींदार ही नये ब्रिटिश कानून के आधार पर भूमि के स्वामी माने गये ।  
 अठारवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य  
 क्षेत्रों से सत्याग्रह प्रवासी इस क्षेत्र में आकर बसने लगे थे तथा अपनी कर्मठता  
 एवं कठोर परिश्रम से इस विशाल जंगली क्षेत्र को कृषि योग्य बना दिया  
 था । तत्कालीन वाइसराय लार्ड विलियम बेंटिन ने उनके इस परिश्रम की  
 अत्यंत सराहना की । उस समय इन लोगों को सामूहिक रूप से 2000 रु०  
 वार्षिक कर के रूप में कम्पनी को देना पड़ता था, परन्तु सन् 1851 में इस  
 धनराशि को बढ़ा कर 4300 रु० कर दिया गया । कृषि योग्य भूमि के  
 लालच में धीरे-धीरे अन्य बाह्य तत्त्व भी यहाँ आकर बसने लगे । यह बढ़ी  
 हुई धनराशि उनकी आर्थिक क्षमता से कहीं अधिक थी । बाह्य तत्त्वों ने संपदा  
 को लेकर कुछ समय तक उन्हें सह्य कहुवाई, किन्तु कर्ब बढ़ा न कर पाने  
 की दशा में धीरे-धीरे उनकी जमीनें बाह्य तत्त्वों के हाथ में जाने लगीं । इस

प्रकार उनमें व्याप्त असंतोष का मुख्य कारण जमींदारों एवं महाजनों द्वारा किया जाने वाला आर्थिक शोषण ही था, जिन्हें सरकारी अफसरों का सहयोग प्राप्त था। परिणामस्वरूप महाजनो जमींदारों, व्यापारियों, सरकारी अफसरों तथा न्यायालयों के प्रति इनमें क्षोभ व्याप्त हो गया। पहले इन सभी का विरोध करने के लिये उन्होंने अन्य शांतिपूर्ण उपाय अपनाये। परन्तु उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। असंतोष दिन प्रति दिन बढ़ता गया तथा एक प्रभावशाली नेतृत्व की आवश्यकता महसूस होने लगी। कान्हु तथा सिद्धू दो भाइयों ने यह नेतृत्व प्रदान किया तथा अन्य दो भाई चाव तथा जैरव उनके सहायक हुये।

इस विद्रोह के प्रमुख रूप से चार कारण बताये गये हैं—

- 1 महाजनो एवं जमींदारों द्वारा आर्थिक शोषण
- 2 व्यक्तिगत तथा वंशगत कड़ी बंधकता
- 3 पुलिस एवं अन्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा अत्याचार तथा महाजनो एवं जमींदारों को सहयोग।
- 4 न्यायालयों के पक्षपातपूर्ण निष्पक्ष जो कि सर्वैव सचालियों के विरुद्ध होते थे।

कतिपय लेखकों ने बंधानिक अथवा अवैधानिक रूप से छीनी जा रही भूमि को ही विद्रोह का प्रमुख कारण माना है।

सन् 1855 में 30 जून को सिद्धू तथा कान्हु के नेतृत्व में लगभग 10 000 सचाल एकत्र हुये और उन्होंने शोषक जमींदारों महाजनो एवं ब्रिटिश सरकार की सत्ता से अपने को स्वतंत्र करा लेने का संकल्प किया। सरकारी कर्मचारियों जमींदारों मजिस्ट्रेटों तथा क्षेत्र में बसने वाले बंगालियों को धमकियों से भरे पत्र लिखे गये। इन पत्रों में उन्हें सचाल क्षेत्र को छोड़कर भाग जाने की चेतावनी दी गई। उन्होंने गुप्त रूप से संघर्ष की पूरी तैयारी कर ली थी। उन्होंने अपना सक्रिय संघर्ष अचानक ही नहीं शुरू किया। पहले भिन्न भिन्न सरकारी स्तरों पर प्रार्थना पत्र प्रेषित किये गये। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजनैतिक आधिपत्य के बिना उनके कष्टों का निवारण सम्भव नहीं है। विजय को सुनिश्चित करने के लिये उन्होंने अपने देवी-देवताओं की आराधना करना शुरू किया। इससे लोगों के आत्म विश्वास में वृद्धि हुई तथा उनमें ब्रिटिश सरकार की अपार शक्ति का विरोध कर सकने का साहस उत्पन्न हुआ। मुंडा शक्ति के प्रभेता बिरसा भगवान की भाँति उनके नेता सिद्धू तथा कान्हु ने भी लोगों को अपनी दैविक

इसके एक सम्प्रदायों का परिष्कार देना शुरू किया। यद्यपि विद्रोह का प्रमुख केन्द्र सन्ध्याल परमना का ही क्षेत्र रहा किन्तु उसका प्रभाव बागलपुर, बीरभूम तथा बंगाल के कुछ भागों तक पहुँचा। सन् 1855 में हिंसात्मक विद्रोह का सुझाव हुआ। सबसे पहले बाँच बहादुरों तथा एक पुलिस दरोजा की हत्या की गई। बाद में अपने विवाह तीरो, लसवारों तथा भालों से सँस हीकर हजारों की संख्या में दूर-दूर पहुँच कर बाजारों तथा व्यापारियों की लूटपाट की जाने लगी। आन्दोलन के तीव्र होते ही डाक-व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी गई। स्थान-स्थान पर पुलिस अधिकारी अपनी चौकियों को छोड़ छोड़ कर भागने लगे। प्रशासन ने फौजों को सन्ध्यालियों की समझा बुझा कर यायिक संरक्षण तथा अन्य सुविधायें प्रदान करने का आश्वासन देने के आदेश दिये। किन्तु बढ़ते हुये विद्रोह की उन्नता को देखकर कमिशनर ने सीधे ही बमाल सरकार से कठोर दमनात्मक कदम उठाने की आज्ञा माँगी। परिणाम-स्वरूप फौजों ने अपना दमन काम शुरू कर दिया। कई स्थलों पर सेना को हार खानी पड़ी। काफी संख्या में यूरोपियन स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों की हत्या की गई। सिद्धू तथा कान्दू को पकड़ने के लिये प्रशासन की ओर से 10 000 रुपये का इनाम घोषित किया गया। अन्त में पाकुर नामक एक स्थान पर 4000 सन्ध्यालियों का सेना से संघर्ष हुआ, जिसमें अन्य नेताओं सहित सिद्धू तथा कान्दू गोलियों से घायल हुये। इसके बाद सेना ने सन्ध्यालियों को आतंकित करने के उद्देश्य से अघाघाघ लूटपाट शुरू कर दी। इस समय भी लगभग 30 000 सन्ध्याली सक्रिय थे। आन्दोलन की गतिविधियाँ सम्पूर्ण सन्ध्याल प्रदेश में फैल चुकी थी। ब्रिटिश सरकार ने आन्दोलन को समाप्त करना अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। सिद्धू तथा कान्दू को गिरफ्तार कर लिया गया। सन् 1856 के अन्त तक धीरे धीरे आन्दोलन समाप्त प्राय हो गया।

इस ऐतिहासिक क्रान्ति के बावजूद भी सन्ध्याली अपनी स्वतन्त्रता न प्राप्त कर सके। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इस आन्दोलन को भविष्य के लिए एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। सन्ध्यालियों को समुष्ट करने के लिए कुछ नये प्रशासनिक कदम उठाये गये। सन्ध्याल परमना क्षेत्र के लिए विशेष कानून बनवाया गया। पुलिस नियमों में परिवर्तन करके सन्ध्यालियों के परमनाध्यक्षों को उसस्वायत्तपूर्ण अधिकार दिये गये। सन्ध्यालियों तथा सरकार के मध्य किसी भी प्रकार की मध्यस्थता को अमान्य कर दिया गया। जुर्माने वाले को अदालतों में दण्ड देने में भी सन्ध्यालियों का सहयोग लिया



आने लगा। इस प्रकार से इस क्रान्ति सन्ध्यालियों की उन्नति का कार्य प्रशस्त किया। गुरुदेव रबीन्द्रनाथ ने भी अपनी अनेक कविताओं के माध्यम से इस महाक्रान्ति के योद्धाओं की श्रद्धाजलि अर्पित की है। आन्दोलन में विनाश एवं विध्वंस के उपरान्त सन्ध्यालियों की नैतिक बल मिला। उनके नेताओं ने जिस अदम्य साहस एवं वीरता से अपना बलिदान दिया था, वह आने वाली पीढ़ियों के लिए गौरव तथा नैतिक आदर्श के उदाहरण बने। प्रत्येक क्रान्ति में विनाश, विध्वंस एवं विषाद के अन्तरतम में उज्ज्वल भविष्य की क्षीण अभिलाषा के स्रोत जन्म लते हैं। सन्ध्याल क्रान्ति इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं थी।

### मध्य प्रदेश

बिहार के समान, मध्य प्रदेश में भी आदिवासियों की संख्या अधिक है। यद्यपि बिहार के समान अधिक संख्या में आदिवासी आन्दोलन इस प्रदेश में नहीं हुये फिर भी बिहार के आदिवासियों के समान वे सभी परिस्थितियाँ मध्य प्रदेश के आदिवासियों के समक्ष भी रही जिन्होंने बिहार में समय समय पर अशांत वातावरण उत्पन्न किया। बाह्य तत्वों के द्वारा आर्थिक शोषण एवं कृषि अपहरण के कार्य बैगा लोगों में इस सीमा तक पहुँच चुके थे कि एल्बिन ने प्रशासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। हिन्दू सम्पर्कों के सांस्कृतिक प्रभावों ने मध्य प्रदेश के आदिवासियों को सर्वाधिक प्रभावित किया।

### बस्तर आन्दोलन

पूर्वी मध्य प्रदेश के लगभग 30 लाख गोड आदिवासी मध्य प्रदेश के आदिवासियों में प्रमुख हैं। इस सारे देश को गोडवाना प्रदेश कहा जाता है। बस्तर गोडवाना क्षेत्र का प्रमुख प्रशासनिक कोट है। हिन्दू कृषकों, जमींदारों एवं साहूकारों द्वारा भूमि का अतिक्रमण गोड लोगों की भी एक प्रमुख समस्या रही है। किन्तु इन समस्याओं ने कभी भी बिहार की आदिवास्तियों की भाँति उन्नत रूप नहीं धारण किया। विशेष रूप से हिन्दू संस्कृति से प्रभावित सुधारवादी मसीही आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण रहे। उनमें अभाव के प्रति असन्तोष सदैव बना रहा। आर्थिक अभाव की पूर्ति के सन्दर्भ में उनकी एक काल्पनिक अवतार की आशा को कई सुधारवादी धार्मिक नेताओं ने अपने नेतृत्व को सफल बनाने का आधार बनाया। सभी सुधारवादियों ने हिन्दू

सांस्कृतिक परम्पराओं को अकलाकर आर्थिक उन्नति करने की शिक्षा दी। उनके द्वारा प्रतिपादित हिन्दू नैतिक आदर्श परम्परागत एवं कठिनायी हिन्दू नैतिक आदर्शों के अनुरूप थे, यद्यपि उस क्षेत्र के तत्कालीन हिन्दू निवासी उन आदर्शों को समग्र रूप से स्वीकार नहीं करते थे।

गोंड आदिवासियों की कई उपजातियों में आज भी एक आदर्श गोंड संस्कृति की कल्पना साकार है तथा भिन्न-भिन्न नामों से वे एक ऐसे सांस्कृतिक प्रणेता के प्रति चिर-आमान्वित हैं, जो उनके आदर्श सांस्कृतिक जीवन को फिर से ला देगा तथा उनके आर्थिक अभाव तथा कष्टों को दूर कर देगा। यह एक ध्यान देने योग्य बात है तथा विचारणीय प्रश्न है कि जहाँ बाह्य तत्वों के रूप में हिन्दू महाजन, व्यापारी तथा कृषक आदि बिहार के आदिवासियों की दृष्टि में चूना के पास बन गये जहाँ मध्य प्रदेश में सदब उनकी संस्कृति आदिवासियों के आकर्षण का केंद्र बनी रही यद्यपि यहाँ भी इन सभी ने आदिवासियों का आर्थिक शोषण समान रूप से किया। राज गोंड— गोंड आदिवासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग है जो पूर्ण रूप से हिन्दू संस्कृति अपना चुके हैं तथा पिछले पचास वर्षों में अधिकांश सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात राजगोंडों के द्वारा ही हुआ। इन अधिकांश सुधारवादी आन्दोलनों का प्रारम्भ सन 1920 के उपरान्त ही हुआ।

एस्विन ने राजगोंड में अस्मिय सूर्यवंशी महासभा नामक इसी प्रकार के एक महत्वपूर्ण सुधारवादी संगठन की शर्चा की है। इस संगठन का सांस्कृतिक उन्नयन का कार्यक्रम पूर्ण रूप से निषेधात्मक था। इस संगठन द्वारा गोंड स्त्रियों को नृत्यों में भाग लेना भी वर्जित किया गया। इसके प्रवक्त पुरातन गोंड संस्कृति को हेय दृष्टि से देखते थे। हिन्दू देवता शिव की पूजा पर अधिक जोर दिया गया। पवित्र गऊ की सन्तति को हल में जोतना निषिद्ध किया गया। हिन्दू द्विजों की भाँति यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य किया गया। यह सुधारवादी आन्दोलन माँडला जिले में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। कुछ समय तक गोंड लोगों ने इन नये नैतिक आदर्शों का पालन बड़ी कठोरता से किया। किन्तु शीघ्र ही उन्हें यह आभास होने लगा कि इस प्रकार का जीवन उन लोगों के लिए नहीं है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्धों का विरोध होने लगा। उनका आर्थिक जीवन भी अत्यन्त कठिन हो गया, क्योंकि अब स्त्रियाँ आर्थिक कार्यों में अपना योगदान नहीं दे पाती थीं। साथ ही खान-पान पर प्रतिबन्ध भी उन्हें असह्य होने लगे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इन सबसे नैतिक आदर्शों का पालन करते हुये भी उनकी सामाजिक स्थिति में

कोई परिवर्तन न हो सका। इसी प्रकार का एक आन्दोलन उत्तरी ओडिशा के सरगुजा जिले में एक अशिक्षित गोड स्त्री राजमोहनो देवी द्वारा चलाया गया। परन्तु ये सभी आन्दोलन स्थानीय थे तथा केवल कुछ समय के लिए सीमित क्षेत्रों में इनके प्रभाव परिलक्षित हुये। फिर भी इन आन्दोलनों के व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव हुये और धीरे धीरे गोड संस्कृति में हिन्दू सांस्कृतिक तत्वों का प्रवेश होता गया।

बस्तर के हिन्दू राजा का गोड लोगों पर अत्याधिक प्रभाव रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी से लगातार बस्तर का राजा गोड लोगों का राजा माना जाता रहा। समय समय पर उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ों में राज्य कर्मचारी उत्तराधिकारियों का पक्षपात करते हुये आदिवासियों पर तरह-तरह के अत्याचार करते रहे। इन अत्याचारों के परिणाम-स्वरूप गोड लोगों में सदैव असंतोष व्याप्त रहता था। सन 1910 में बस्तर में हुई क्रांति की पृष्ठभूमि में यही एक महत्वपूर्ण कारक था। यहाँ तक कि सन 1876 में भी बस्तर राजमहल में उत्तराधिकार के झगड़े को लेकर ही आन्दोलन हुआ था। उस समय 20 000 आदिवासियों ने जगदलपुर में राजमहल को घेर लिया था। सन 1910 में हुये इसी प्रकार के आन्दोलन को शांत करने में ब्रिटिश अधिकारियों ने 37 गोड लोगों की हत्या की तथा सैकड़ों को कैद कर लिया था। यह आन्दोलन मुख्य रूप से हिन्दू प्रवासियों के गोड दल में बसने तथा जंगलों सम्बन्धी सरकारी नियमों के विरुद्ध था। तत्कालीन राजा को हटाने की राजनैतिक पृष्ठभूमि भी इसमें सम्बन्धित थी। ब्रिटिश अधिकारियों ने राजकीय कर्मचारियों के अत्याचारों की कोई सुनवाई नहीं की। विवश होकर गोड लोगों को विद्रोह करना पड़ा। इस विद्रोह में अधिकाधिक सख्या में गोड आदिवासियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए बड़े ही सुसंगठित ढंग से प्रतीक रूप में दूर दूर तक भाले तीर कमान आम के पेड़ की शाखा आदि को भेष कर क्रांति का संदेश भेजा गया।

सन 1910 से 1965 तक का समय लगभग शान्तिमय समय व्यतीत हुआ। सन 1951 से 1965 तक राष्ट्रीय सरकार की तीन पंचवर्षीय योजनाएँ पूरा हो चुकी थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद योजना के विकास कार्यक्रम श्रद्धा भाँति चल रहे थे। सन 1947 में बस्तर राज्य के अन्तिम राजा प्रवीण चन्द्र ने राज्य सभाला। वे केवल 18 वर्ष के नवयुवक थे। एक वर्ष के बाद सन् 1948 में भारत सरकार के निश्चय के अनुरूप उन्हें बस्तर राज्य को भारतीय गणराज्य में मिला देना पड़ा। प्रारम्भ से ही प्रवीण चन्द्र अपने को महाराजा

के समान समझते थे तथा सीमाओं में इस बातों का प्रचार किया करता था कि ईश्वर के बावजूद उसी की शक्ति आती है, जिससे गोंड आदिवासियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। उसने अपने को हिन्दू अवतारों राम एवं कृष्ण के समतुल्य घोषित करना शुरू कर दिया। सन् 1951 में उसने कुछ हिन्दू गुरुओं से तन्त्र विद्या की शिक्षा ग्रहण की। आदिवासियों में अपने को लोकप्रिय बनाने के लिए उसने सौ रुपये के नोट बाँटना शुरू किया। एक बार एक रिक्शे वाला जब सौ रुपये का नोट प्राप्त करने गया तो उसने उसका हाथ काट दिया। उसने बस्तर राज्य के भारतीय संघ में विलयन का विरोध करना शुरू किया। उसने यह अनुभव किया कि विलयन से उसका महाराजा का पद सीमित हो गया था और वह केवल सरकारी अधिकारियों के हाथ का एक खिलाड़नामात्र रह गया था। उसे अपने ऊपर आदिवासियों की श्रद्धा का पूर्ण भरोसा था। उसने कलेक्टर को पत्र लिखकर यह सूचित किया कि यदि उसके राजकीय अधिकार पुनः उसे न दिये गये तो आदिवासियों के विद्रोह की सम्भावना हो सकती है। मार्च 1953 में तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद जगदलपुर गये। राजा प्रवीण चन्द्र ने उनसे न मिलकर उनका अनादर किया। चूँकि वह राज्यकोष का दुरुपयोग कर रहा था इसलिए सन् 1953 में उसकी सारी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड्स के द्वारा ले ली गई। क्षुब्ध होकर वह सम्पूर्ण गोंड प्रदेश में घूम घूम कर आदिवासियों से क्रान्ति के लिए तैयार होने के लिए कहने लगा। इस कार्य के लिए मध्य प्रदेश सरकार ने उसे कई चेतावनियाँ भी दीं। फिर भी वह भारत सरकार का विरोध करता रहा आदिवासियों को आन्दोलन के लिए प्रेरित करता रहा तथा भारत सरकार के विरोध में देश के अन्य मुखराजों को समझित करने की योजना बनाई। जगदलपुर जिले का मुख्यालय था। अतः उसने अपने कल्पित गोंड राज्य का मुख्यालय अबूझनाड में बनाने का विचार किया।

31 मार्च 1961 के दिन लगभग 10,000 बस्तर के आदिवासी लोहिडि गुडा में एकत्रित हुये। पुलिस को उन्हें तितर बितर करने के लिए गोली चलानी पड़ी, जिसमें 12 आदिवासियों की मृत्यु हो गई। प्रवीण चन्द्र ने बिधान सभा के चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े करके कुछ सीटें प्राप्त कर लीं। आन्दोलन को उत्तेजित करने के लिए वह आदिवासियों को अपनी दैविक शक्ति का विश्वास दिलाता रहा। आन्दोलन में साथ न देने पर दसैबरी देवी के प्रकोप का भय दिखाया। बिसेबकर आदिवासियों पर हत भुक्ति का प्रभाव अधिक पड़ा। परिवारसम्बन्ध अक्सर बाँट हजार से दस हजार तक

आदिवासी स्त्रियों सामूहिक रूप से जगदलपुर मुख्यालय पर धरना देने लगीं। इन घटनाक्रमों के परिणामस्वरूप 10 मार्च सन् 1966 को उसके अनुसूची पुलिस से मुठभेड़ कर बैठे, जिसमें प्रवीण चन्द्र एव कई आदिवासियों की मृत्यु हुई।

बम्बुर की यह क्रांति प्रमुख रूप से प्रवीण चन्द्र के पागलपन का ही परिणाम थी तथा इसका प्रभाव क्षेत्र केवल मारिया तथा मुरिया गौड़ लोगों तक ही सीमित था। वैसे इसे किन्हीं अर्थों में राजनैतिक क्रांति कहा जा सकता है किन्तु किसी भी आधार पर बिहार एव असम के आदिवासियों में हुये आन्दोलनों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रवीण चन्द्र ने आन्दोलन के जो भी प्रयास किये वे व्यक्तिगत स्वार्थ से पूर्ण थे अतः बिरसा मुंडा सिद्ध सन्थाल तथा श्रीराम राजू आदि आदिवासी क्रांतियों के प्रणेताओं के समकक्ष उन्हें नहीं माना जा सकता।

### असम

बिहार की भाँति असम प्रदेश भी आदिवासी विद्रोहों एव क्रांतियों का प्रमुख केन्द्र रहा है। ब्रिटिश प्रशासन को असम प्रदेश में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए निरन्तर काफी समय तक आदिवासी प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। एल्बिन द्वारा सम्पादित पुस्तक Nagas in the 19th Century के अध्ययन से ही पता चलता है कि केवल नागा आदिवासियों से ही ब्रिटिश प्रशासन को पूरी शताब्दी भर सन्धरत रहना पड़ा। सन् 1852 से 57 के मध्य गारो आदिवासियों का विद्रोह हुआ। लुसाई तथा कुकी लोगों ने निरन्तर 1892 तक विद्रोह जारी रखा। असम के पर्वतीय प्रदेशों पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना के बाद से ही ईसाई मिशनरी इन क्षेत्रों में व्यवस्थित रूप से सक्रिय हो गये। जहाँ एक ओर मिशनरियों ने मुगों से उपेक्षित इन क्षेत्रों में शिक्षा एव चिकित्सकीय सुविधाओं का प्रसार किया वहीं दूसरी ओर वे उनके सांस्कृतिक जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगे। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि असम की आदिमजातीयों में स्वतन्त्र निर-कुश जीवन व्यतीत करने की भावना अत्यन्त तीव्र रही है। अतः किसी भी रूप में राजनैतिक हस्तक्षेप सत्कारणतया उनके आन्दोलनों का प्रमुख कारण रहा है। मिशनरियों की उपस्थिति के कारण शिक्षित वर्गों की वृद्धि होती गई किन्तु शिक्षा के प्रसार से उनके स्वतन्त्र राजनैतिक बुद्धिकोण में कोई परिवर्तन नहीं आया। देश के स्वतन्त्र होने के बाद कुछ विशेष अर्थ

मिशनरियों के आदिवासियों के व्यक्तिगत सम्पर्क प्रदान किया। मिशनरियों द्वारा बनाए गए मिशनरियों के व्यक्तिगत सम्पर्क प्रदान के अन्तर्गत वर्षों के अन्तराल की अवधि में आदिवासी आन्दोलन का केन्द्र बना हुआ है। इस सम्पर्क में मिशनों एवं नावा जाति आदिवासियों की आन्दोलनकारी गतिविधियाँ अधिक महत्वपूर्ण रही हैं।

## मिजो विद्रोह

लुसाई अपने निवास क्षेत्र को मिजोराम कहते हैं और मिजोराम को निवासी ही मिजो आदिवासी कहे जाते हैं। लुसाई पहाड़ियाँ दक्षिण तथा दक्षिणपूर्व में बंगला देश तथा बर्मा की सीमाओं से घिरी हुई हैं। इन पहाड़ियों में समय-समय पर चीन के उत्तर पश्चिम की ओर से प्रवासी आकर बसते गये। आज इस पर्वतीय प्रदेश के निवासियों की एक भाषा तथा संस्कृति है। सन् 1880 तक मिजो आदिवासी एक सुसंगठित समाज एवं संस्कृति में अपने वर्तमान स्वरूप में आ चुके थे। समय-समय पर मिजो क्षेत्र तत्कालीन ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत भारतीय भू-भाग पर आक्रमण किया करते थे। परन्तु कभी भी इन आक्रमणों के राजनैतिक उद्देश्य नहीं रहे। परन्तु समय-समय पर इन आक्रमणों से त्रस्त होकर ब्रिटिश सरकार ने सैनिक कार्यवाही की और सन् 1890 तक लुसाई पहाड़ियों का क्षेत्र ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत आ गया। मिजो आतंक पर नियंत्रण पाने के लिए ब्रिटिश सरकार को बर्मा सरकार का सहयोग भी लेना पड़ा था। ब्रिटिश प्रशासन की स्थापना होते ही ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ आरम्भ हो गईं। शिक्षा एवं चिकित्सकीय सुविधायें प्राप्त होने लगीं। उन्हें बहु आश्वासन दिया जाने लगा कि मिशनरियों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा प्राप्त कर लेने तथा ईसाई धर्म अपना लेने पर उन्हें सरकारी सुविधायें दी जायेंगी और इस प्रकार उन्हें सार्वजनिक श्रम से छुटकारा मिल जायगा। इस सबका परिणाम यह हुआ कि सन् 1942 में जापानी सेनाओं द्वारा असह्य पर जब आक्रमण किया गया तो लगभग 300 मिजो सशस्त्री ने ब्रिटिश सरकार को संगठित रूप से सहयोग दिया।

नावा एवं मिजो विद्रोह देश के अन्य भागों के आदिवासी विद्रोहों से सर्वथा भिन्न हैं। अन्य क्षेत्रों के विद्रोह सामान्यतः माध्यम वर्गों के रूप में आर्थिक शोषण के विरुद्ध हुए जिन्हें अंग्रेजी सरकार का प्रभय था। इसलिये उन्होंने अंग्रेजों के प्रशासन का भी विरोध किया। किन्तु मिजो समाज-आन्दोलन

आदिवासी विद्रोह विमुक्त राजनैतिक कारकों के परिणाम थे। सशस्त्रों से स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रहे इन आदिवासियों को किसी भी प्रकार का राजनैतिक हस्तक्षेप असह्य हो गया। निरन्तर सशस्त्रों की परम्पराओं में घले इन आदिवासियों में आत्म सम्मान की भावना अत्यन्त तीव्र थी। अतः किञ्चित् मात्र आत्म-सम्मान पर आघात होते ही युद्ध एव सशस्त्र इनकी संस्कृतियों की विशेषता रही है। घने जंगलो एव दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों ने इनकी युद्ध प्रवृत्तियों को और भी प्रोत्साहित किया। क्योंकि इन क्षेत्रों से चिर परिचित होने के कारण दुश्मन की सेनाओं से बचते रहना सरल हो जाता है। सन् 1947 में देश के स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त नामा तथा मिजो आदिवासियों ने राजनैतिक अशान्ति का एक प्रमुख कारण भारत के विरोधी चीन तथा तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान का सक्रिय सहयोग रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार द्वारा अत्यधिक परिमाण में कल्याणकारी कार्यक्रमों के संचालन एव आर्थिक सहायता के बावजूद भी इन्हें शांत न किया जा सका। भारत सरकार ने इन आदिवासीयों को तरह-तरह की बंधनिक सुविधायें प्रदान की प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के गठन का प्रयास किया—किन्तु इन सारे प्रयासों के बावजूद भी इनके विद्रोह चलते रहे।

प्रारम्भिक अवस्था में कुछ वर्षों तक तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान और बर्मा के निकटवर्ती क्षेत्र मिजो लोगों के सशस्त्र में सहायक रहे जहाँ आतंकवादी अराजक तत्व सरलता से शरण ले लेते थे। किन्तु भारत सरकार के सतर्कता पूर्ण व्यवहार से देश भक्त मिजो लोग इन आतंकवादियों से अपने को मुक्त अनुभव करने लगे। उन्होंने भारतीय सुरक्षा सेनाओं की सहायता करना शुरू किया। देश भक्त मिजो लोगों को घने जंगलों में स्थित स्थानों से हटाकर सड़कों के किनारे नियोजित ढंग में विशेष रूप में विकसित स्थानों में रहने की सुविधा प्रदान की गई। इन उपनिवेशों में उनकी सुरक्षा तथा देख रेख सरलता से की जा सकती थी। अपने को मिजो आदिवासियों का नेता मानने वाले (कथित प्रेसिडेंट) लाल डेंगा की आकांक्षाओं एव आशाओं के अनुरूप मिजो विद्रोह सफल न हो सका तथा उन्हें स्वयं अपनी रक्षा जंगलों में छिप कर करनी पड़ी। परिणाम-स्वरूप शिलांग, गौहाटी तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों के द्वारा जनित एक स्वतन्त्र प्रभुसत्तापूर्ण अस्तित्व वाले मिजोराम की कल्पना अधिकांश मिजो लोगों को आकर्षित न कर सकी। अधिकांश मिजो समुदायों के बड़े-बड़े परम्परागत नेता अपने अतीत के विद्रोहों एव क्रान्तियों के अनुभवों को अभी भूलें नहीं थे। अतः इस स्वप्न के

संसार होने की उन्हें किंचित भाव भी बाधा नहीं थी। प्रारम्भ में लगभग 320 मील सम्मानी में फैले 8134 वर्गमील के मिजोराम क्षेत्र में भारतीय सुरक्षा सेनाओं का कोई भी सहायक नहीं था। इस क्षेत्र के एकमात्र 196 मील लम्बे ऐजल-मुगलेह मार्ग पर निरन्तर आक्रमण होते रहते थे। यह मार्ग बने जंगलों तथा घुसावदार पहाड़ों से होकर गुजरता है। इन्हीं जंगलों में विद्रोहियों ने अपने जट्टे बना रखे थे जो कि चीम में मुस्लिम बुद्ध का प्रतिमा प्राप्त कर चुके थे। इस बुद्ध में उन्हें विद्रोही नाकाबों से भी सहायता प्राप्त होती रहती थी। विद्रोही मिजो लोगों के अध्यक्ष लाल डेंगा ने अपनी अनधिकृत मिजोराम सरकार का केन्द्र इसी क्षेत्र में बना रखा था।

भारतीय सुरक्षा सेनाओं के सतत प्रयत्नों तथा कालान्तर में देशभक्त मिजो लोगों की सहायता से विद्रोहियों का आतंक तथा उनकी शक्ति धीरे धीरे समाप्त होने लगी तथा शीघ्र ही उनके प्रभाव से ऐजल मुगलेह डेमार्गिरी आदि कई महत्वपूर्ण केन्द्रों को मुक्त करा लिया गया। सुरक्षा सेनाओं द्वारा मिजो क्षेत्र में शान्ति एवं सुरक्षा की दिशा में किये गये प्रयास अत्यन्त सराहनीय हैं। बने जंगलों में बसे छोटे छोटे गावों से लोगों को हटाकर संचार सुविधाओं से युक्त बड़ी-बड़ी बस्तियों में बसाने का कार्य अत्यन्त कठिन था, किन्तु इस कार्य के अच्छे परिणाम प्राप्त हुये। यदि ये विद्रोही चीनी अथवा पाकिस्तानियों की भाँति विदेशी शत्रु होते तो सेना का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता। इस छोटे से क्षेत्र में हमारी सुरक्षा सेनाओं को इतना अधिक समय लगा इसी से स्पष्ट हो जाता है कि सेनाओं को अपना कार्य कितनी सावधानी से करना पड़ा। अपने देश के ही नागरिकों के विरुद्ध क्रूर व्यवहार भारत सरकार की नीतियों के विरुद्ध था। अभी हाल में ही पूर्वी पाकिस्तान के स्थान पर बंगला देश की स्थापना ने हमारे कार्य को और भी सरल बना दिया है। विद्रोहियों के स्वप्न साकार होने की सम्भावना समाप्तप्राय हो चली है। आज मिजो जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप मिजोराम भारतीय गणतन्त्र के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र प्रांत है और देश के अन्य भागों की भाँति सुनियोजित विकास कार्यक्रम वहाँ भी चल रहे हैं। लगभग 105 छोटे-छोटे गाँवों को सम्पन्न करके 12 हजार परिवारों में रहने वाले लगभग 60,000 मिजों लोगों को 18 उपनिवेशों में बसाया जा चुका है, जहाँ उन्हें सम्य एवं आधुनिक जीवन की सभी सुविधाएँ प्राप्त हैं।



## नागा विद्रोह

साधारण नागा आदिवासी गरीब किन्तु गौरवशाली लोग हैं। आर्थिक दृष्टि से गरीब होते हुये भी उनका नैतिक स्तर उच्च कोटि का है। नागा पर्वतीय प्रदेश जिसे अब नागालैण्ड नाम दिया जा चुका है, बर्मा की सीमाओं से सलग्न भारत का उत्तरी-पूर्वी सीमांत प्रदेश है। आबागमन के दृश्य साधनों वाला यह प्रदेश जंगली एवं पहाड़ी प्रदेश है जहाँ अत्यधिक परिमाण में सर्षप होती है। जंगलों में शून्म कृषि ही उनका एकमात्र महत्वपूर्ण आर्थिक आधार है।

उन्नीसवीं शताब्दी में असम के उपजाऊ मैदानी क्षेत्रों से आकर्षित होकर आहोम राजाओं ने धीरे धीरे नागा क्षेत्र तथा आसपास के अन्य आदिवासी क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। पिछले सौ वर्षों के समय में तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने घोर सचर्यों के उपरांत अधिकार करने के बाद इस क्षेत्र के विकास की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया। अंग्रेजों के सरकार में ईसाई मिशनरी शिक्षा एवं चिकित्सकीय सुविधाओं का प्रसार करके धर्म परिवर्तन का कार्य करते रहे। मिशनरियों के प्रभाव के कारण ही साठे तीस लाख की जन-संख्या वाले इस प्रदेश में लगभग 14-46 प्रतिशत साक्षरता है। नरमुठ-शिकार जहाँ इनके संस्कारों का एक अंग था वही सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक भी था। निरन्तर पीड़ियों तक चलने वाली वैमनस्यता, पारस्परिक संघर्ष एवं युद्ध नागा सांस्कृतिक परम्परा के अंग बन चुके हैं। इनके सामान्य जीवन में जहाँ सौंदर्य-पूषण रुचियाँ हैं वही सदियों से युद्ध एवं संघर्ष की परम्परा ने इनका स्वभाव क्रूर बना दिया है। इनकी ग्राम परिषदें प्रशासन बधानिक एवं न्यायिक इकाइयों के रूप में कार्य करती हैं तथा परम्परायें ही उनका कानून होती है।

सन् 1885 में सर्व प्रथम ब्रिटिश सरकार ने आजो नामाओं पर अधिकार स्थापित किया। स्वतंत्रता स्वाभिमान एवं स्वेच्छाचारिता, आम नामाओं की स्वाभाविक विशेषतायें हैं। सर्वदा अग्रगण्य रहने वाले नामा किसी प्रभुता के समक्ष सिर झुकाने में अपमान एवं निरस्कार का अनुभव करते हैं। अपने से अत्यधिक शक्तिशाली विरोधी से बिना युद्ध किये द्वार बंद लेना उनके स्वभाव के प्रतिकूल है। ब्रिटिश सरकार से पूर्व अपनी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने पर मुगलों एवं आहोम राजाओं से भी इन्होंने व्यापक स्तर पर युद्ध किये। ब्रिटिश सरकार से निरन्तर सौ वर्षों तक संघर्ष होते रहे। इन

संघर्षों में अपनी परम्परागत हथियारों के साथ साथ ब्रिटिश सैनिकों की शक्ति नागाओं ने भी बहुतों का उपयोग किया। जंगलों तथा पहाड़ों की युद्ध श्रृंखला में बक्सर समझौते के बाद ब्रिटिश सेनाओं के लिये एक कठिन समस्या बन जाया करता था।

द्वितीय महायुद्ध के समय कुछ समय तक के लिये जापानी सेनाओं ने कोहिमा की घेरे लिया था। सारे नागा क्षेत्र में काफी सख्या में जापानी सैनिक फँस गये थे। इनके संघर्ष में आकर इन लोगों ने आधुनिक युद्ध प्रणाली का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा बाद में जापानी हुई जापानी सेनाओं ने अपार युद्ध सामग्री इस क्षेत्र में छोड़ दी थी। आज बिद्रोही नागाओं के रूप में क्रियाशील समूह द्वितीय महायुद्ध काल के युद्ध कला के अनुभवी नागाओं की विरासत हैं। यही कारण है कि आज वे देश के शत्रुओं से भी हथियार एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने में जरा भी नहीं हिचकते।

देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् आज भी नागालैण्ड अशांत है। मिजोराम की ही भांति नागालैण्ड में बिद्रोही तथा देशभक्त नागाओं के वर्ग हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि बिद्रोह की सहर कुछ थोड़े से ही नागाओं में व्याप्त है। अधिकांश नागा आज हमारी प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित शासन व्यवस्था में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। किन्तु कुछ थोड़े से विरोधियों का समूह भारत सरकार के समक्ष एक राजनैतिक समस्या बना हुआ है। पिछले दस वर्षों के समय में इनकी राष्ट्र विरोधी गतिविधियाँ अधिक सक्रिय हुई हैं तथा हमारे पड़ोसी शत्रुओं ने इन्हे प्रोत्साहित करने में पूरा सहयोग दिया है। अत्यंत उग्र बिद्रोही के बावजूद भी भारत सरकार ने अत्यंत सहिष्णुता एवं सहनशीलता का परिचय दिया है। उनके सशस्त्र आक्रमणों, तोड़ फोड़ तथा लूटमार की गतिविधियों के बावजूद भी भारत सरकार ने परस्पर बात चीन तथा संपर्क के आधार पर समस्या का समाधान करने के प्रयत्न किये हैं। बिद्रोही नागा नेता फीजो इस समय हंगकॉंग में रह रहे हैं और इन्हें कुछ मिशनरियों का सहयोग प्राप्त है। नागा जाति के स्वतन्त्र अस्तित्व के संबंध में फीजो के विचार अत्यंत बिस्फोटक हैं। उन्हीं के निर्देशों के आधार पर बिद्रोही नागाओं ने अपनी एक अर्धजातिक सरकार बना ली है। इस अर्धजातिक सरकार का एक मुख्यालय भी है तथा अपनी सेना भी है। विदेशियों से आर्थिक सहायता प्राप्त करके तथा देशभक्त नागाओं की लूट पाट करके वे अपनी कथित नागालैण्ड संघात्मक सरकार चला रहे हैं जिसकी अपनी संसद है, तथा प्रेसीडेंट, वाइस प्रेसिडेंट तथा सुप्रीमकोर्ट आदि हैं। यह भी सत्य है

कि नागासैड विकास योजना के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित बीस करोड़ रुपये की धनराशि का एक अंश अवैधानिक रूप से राष्ट्र विरोधी तत्वों के अभ्युदय से इनके पास पहुँच गया हो। पिछले आठ वर्षों में भारत सरकार ने इस अवैधानिक रूप से गठित तथा कथित भूमिगत सरकार से कुछ बिराम सन्धि के एक पक्षीय भावे का निर्वाह किया। इस बीच भारतीय सेनाओं की गतिविधियाँ केवल सुरक्षात्मक ही रही हैं। किन्तु सन् 1972 के मध्य में नागासैड में नई सरकार के चुनाव हो जाने के उपरान्त भूमिगत नागा विद्रोहियों की हिंसात्मक गतिविधियों में तीव्रता आ गई और यहाँ तक कि उन्होंने जब निर्वाचित मुख्यमंत्री पर घातक आक्रमण करने की भी चेष्टा की। भारत सरकार इन घटनाओं के प्रति जागरूक थी। परिणाम स्वरूप सन् 1972 के सितम्बर मास में युद्ध बिराम सन्धि को समाप्त कर दिया गया। विद्रोही नागाओं से सम्पर्क रखने वाले सभी राजनैतिक दलों को अवैधानिक घोषित किया जा चुका है तथा छिपे हुए विद्रोहियों के ठिकानों पर सैनिक कायबाही करने के आदेश दिये जा चुके हैं। इन आदेशों के अन्धे परिणाम दिखाई दिये। अबदूबर मास में भी लगभग 590 विद्रोही नागाओं ने आत्मसमर्पण किया तथा उनसे प्राप्त सूचनाओं के आधार पर नागासैड के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री टी० एन० अगामी को उक्त हिंसात्मक गतिविधियों के सन्दर्भ में गिरफ्तार कर लिया गया।

नागा समस्या एक राजनैतिक समस्या अवश्य है किन्तु इस समस्या का राजनैतिक अथवा सैनिक समाधान सम्भव नहीं है। वास्तव में सदियों से अज्ञानित असुरक्षा एवं पारस्परिक वमनस्यता के वातावरण में रहते रहते नागा आदिवासियों का जीवन दशन कुछ विचित्र सा हो गया है। इनकी समस्या के समाधान के लिए उदारतापूर्ण दृष्टिकोण होना अत्यन्त आवश्यक है। देश के स्वतन्त्र होने से पूर्व कभी किसी ने इनकी समस्याओं को समझने का प्रयास नहीं किया। इन्हें सदा उपेक्षित रखकर बर्मी शासकों, असमियों तथा ब्रिटिश प्रशासकों ने क्रम से केवल अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा की तथा कठिनाई पड़ने पर युद्धों एवं सबर्षों से उनका स्वागत किया। जब पूर्वी पाकिस्तान की स्थापना हुई तथा एशिया में एक महान शक्ति के रूप में हमारी सीमाओं से सलमन कम्युनिस्ट चीन का अभ्युदय हुआ तभी इनका राजनैतिक महत्व उभर कर सामने आया। इस समय तक उन्हें केवल ईसाई मिशनरियों की सहायुष्मति प्राप्त हो पाई थी जिनकी सुविधाओं केवल धर्म परिवर्तन एवं सांस्कृतिक बलिदान पर ही प्राप्त हो सकती थी। ईसाई मिश

नरियों का दृष्टिकोण भले ही संकुचित रहा हो, किन्तु अपने जीवन को खतरों में डालकर मानवीय दृष्टिकोण अन्वेषाते हुए इस बीहड़ क्षेत्र में रहकर वे केंद्र से बचो तब तक चैंप एव सहाय्य से कार्य करते रहे तथा मित्रा एवं चिकित्सकीय सुविधाओं प्रदान कीं उनके इस कार्य की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता। हमारे पास तथ्य नहीं हैं, किन्तु हम यह जानते हैं कि कितने ही मिशनरियों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। यद्यपि ब्राइबिल के सिद्धान्तों, मिरजापुरी की बटियों तथा मोमबस्तियों के धूमिल प्रकाश ने ज्ञान्ति की भूमिका स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा मिशनरियों के मानवीय दृष्टिकोण ने किसी सीमा तक इनकी क्रूरता का शमन करने में सहायता दी फिर भी उनके स्वभाव में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आ सके। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के उपरान्त ईसाई मिशनरियों को धर्म निरपेक्ष भारत में अपने धर्म परिवर्तन के कार्यों के चलते रहने पर सन्देह हुआ। परिणामस्वरूप कुछ मिशनरियों ने भारतीय नियंत्रण के विरुद्ध उद्देगिकता का कार्य शुरू किया। मिशनरी माइकेल स्काट की गतिविधियाँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। भारत एवं नागालैंड के भविष्य में सम्बन्धों के बारे में स्काट की यह धारणा रही है कि नागालैंड की स्थिति नेपाल एवं भूटान के समान होनी चाहिए। कुछ ही समय पूर्व नागा विशेषज्ञ हटन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि नागा समस्या का समाधान नागालैंड के स्वतन्त्र अस्तित्व में नहीं है—ऐसा राष्ट्र एक निश्चित असम्भावितता है। नागा समस्या के समाधान में भारत सरकार ने जिस उदारता का परिचय दिया है वह किसी भी राष्ट्र के इतिहास में अद्वितीय है।

वास्तव में असंतुष्ट विद्रोही नागाओं की अपनी कोई समस्या नहीं है, अतः समाधान का प्रश्न ही नहीं उठता। नागालैंड के विद्रोही नागाओं के छोटे से बग का व्यवहार भारत सरकार के लिए एक समस्या है। इन व्यवहारों के कारक आंतरिक न होकर बाह्य हैं तथा सांस्कृतिक न होकर राजनैतिक हैं। यही समस्या का महत्वपूर्ण पक्ष है। स्वतन्त्र भारत के अतर्गत नागालैंड भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। नई पीढ़ी के समक्ष जीवन का जो स्वरूप उभर कर सामने आ रहा है वह उनके जीवन दर्शन को परिवर्तित किये बिना नहीं रह सकता। यही इस समस्या का समाधान होगा।

आदिवासी विद्रोहों एवं क्रांतियों का इतिहास सामाजिक अन्याय एवं आर्थिक शोषण के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं का ही इतिहास है। भारत के

अभिमान से हमने इस तथ्य को ध्यान में रक्ते हुए उनके अधिकारों एवं सम्पत्ति के प्रति अपनी ज़म्मेदारी का परिचय दिया है। देश के अन्य भाग-दिकों की भाँति उन्हें भी न्यायिकार प्रदान करके देश के नव निर्माण में उनके प्रयोजन का अनुभव किया है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर आज भी विहित स्वार्थ अपने परिवर्तित स्वरूपों में हमारे प्रयासों को विफल कर रहे हैं। यह एक चिन्ता का विषय है। यदि अतीत के अनुभवों से हम कोई भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं तो हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

## आदिवासी कर्म

विश्वासों का जगत मनुष्य की आकांक्षाओं एवं अपूर्ण तथा अतृप्त अभिलाषाओं को पूर्तिमान करता है। मनुष्य का विकसित मानसिक क्षेत्र ही विश्वासों को जन्म देता है। हमारे आदिवासी अरस्तू एवं सुकरात की भाँति अपने ही चिंतन न कर सकते हो, किन्तु जीवन की वास्तविकताओं से विस्मय होने पर उनके मानस में भी चिंतन का जोत उमड़ता है और विश्वासों को जन्म देता है। इन्हीं विश्वासों के सहारे उनकी कल्पनाएँ साकार होती हैं। कुछ पा लेना कर्म का उद्देश्य नहीं होता है। कुछ पा लेने की आशा में अज्ञान को भुला देना ही कर्म की परम उपलब्धि है। इस अज्ञान में हम आदिवासियों के मानस के इसी चमकती विविधता करने विधे, 'आदिवासी कर्म' की प्रशंसा की जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में आदिवासी धर्म पर अपने विचार प्रकट करते हुए टाइलर ने सब प्रथम आदिम समाजों में भी धार्मिक प्रवृत्तियों की विद्यमानता स्वीकार की थी। इससे पूर्व साधारणतया धर्म को सम्यक् समाजों की ही विशेषता माना जाता था। धर्म शब्द की परिभाषा क्या हो इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। इस शब्द की विभिन्न परिभाषाओं में अन्तर धर्म के मूल तत्व के सम्बन्ध में न होकर धर्म के उद्देश्य एवं कार्य व्यापक अथवा संकुचित क्षेत्र आदि तक ही सीमित हैं। धर्म का सम्बन्ध विश्वासों के जगत से होने के कारण यह मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों का परिणाम है और प्रत्येक स्तर की सस्कृति का अभिन्न अंग है। यही तथ्य मानव जीवन से इसके अनिष्ट सम्बन्ध को स्पष्ट कर देता है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के सहारे निर्मित प्रत्यक्ष एवं दृश्य जगत मनुष्य की क्षमताओं से सीमित होता है। किन्तु विश्वासों का जगत असीम होता है। वास्तविक जीवन की सीमायें जब मनुष्य की आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं को अवरोधित करती हैं तो विश्वासों का विशाल जगत उसे संरक्षण प्रदान करता है। यह संरक्षण केवल मानसिक होता है और इसके परिणाम मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक होते हैं।

दृश्य जगत से परे किसी जगत की कल्पना तथा किसी पारलौकिक सर्वशक्तिमान चमत्कारिक शक्तियों में विश्वास प्रत्येक धर्म की आधारशिला है। वास्तविकताओं से परे कल्पनाओं का यह जगत मनुष्य के मानस की एक आदर्श व्यवस्था के रूप में कार्य करता है जिससे मनुष्य प्रेरणा लेता है। सभी धर्मों में इस आदर्श व्यवस्था तक पहुँचने का एक विधान होता है। अधि प्राकृतिक सर्वशक्तिमान शक्तियों में आस्था व्यक्त करके मनुष्य अपनी सभी अपूर्ण मनोकामनाओं की पूर्ति की आशा करता है। इन शक्तियों में विश्वास के साथ ही साथ कर्मकांडों एवं अनुष्ठानों का एक विधान भी जुड़ा होता है जिनके माध्यम से मनुष्य इन शक्तियों का आवाहन करके उनका ध्यान कर के उनको अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करता है। केवल विश्वास धर्म को एक सक्रिय एवं उपयोगितावादी रूप नहीं दे पाते। अनुष्ठानों का विधान धर्म को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। अतः अदृश्य आध्यात्मिक एवं पारलौकिक विधान ही धर्म कहलाता है।

मानव सस्कृति के एक विश्वव्यापी तत्व के रूप में धर्म सभी संस्कृतियों में पाया जाता है। जब हम सम्यक् एवं आदिम समाजों एवं संस्कृतियों के धर्म में अन्तर स्थापित करते हुए आधुनिक धर्म एवं 'आदिम धर्म' शब्दों का प्रयोग करते हैं तो यह अन्तर गुणात्मक आधार पर नहीं होता। धर्म की

अनुष्ठान व्याख्या के अनुसार सभी धर्मों में विश्वासहीन एवं उसके सम्बन्धित अनुष्ठानों के साथ समान रूप से पाये जाते हैं। विश्वास मानसिक कल्पना का परिणाम है। जैसे-जैसे हथ आदिम समुदायों में सम्य समुदायों की ओर जाते हैं ज्ञान विज्ञान, तर्क आदि बौद्धिक क्षमताओं में अन्तरों के परिणामस्वरूप उन पारलौकिक शक्तियों एवं मान्यताओं के स्वरूपों में अन्तर आते जाते हैं, जिनके प्रति लोग अपनी भावनाओं व्यक्त करते हैं। अपेक्षाकृत प्रबुद्ध लोगों की मान्यताओं में दार्शनिकता का पुट होता है। आदिम लोगों का कल्पना क्षेत्र उनके वास्तविक पर्यावरण से सीमित होता है। चिन्तन के अभाव के कारण यह क्षेत्र उतना व्यापक नहीं होता जितना प्रबुद्ध वर्ग के सम्य समुदायों में होता है। यही वर दोनों की मान्यताओं में स्वरूपात्मक अन्तर आ जाते हैं। किन्तु शुष्कात्मक आधार पर दोनों के विश्वासों का उद्भव समान मानवीय प्रवृत्तियों से ही होता है। इसके साथ ही साथ विश्वासों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का अनुष्ठानिक विधान क्या ही यह भी एक अन्तर का विषय है। यहाँ अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अधिक महत्वपूर्ण होती है। दूसरे शब्दों में आदिम एवं सम्य समाजों के धर्म धर्म की दो जातियाँ नहीं बानी जा सकती जो एक दूसरे से भिन्न हो।

आदिम समुदायों के धर्म स्वरूप की व्याख्या अनेक मानववैज्ञानिकों ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर की है। जहाँ एक ओर टाईलर ने आत्मा एवं प्रेतात्माओं के रूप में पारलौकिक शक्तियों में विश्वास को आदिम धर्म की विशेषता माना है वहीं कार्लिंगटन, मैरेट तथा एन्ड्रू लैंग आदि अनेक मानव वैज्ञानिकों ने एक निराकार सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी शक्ति में विश्वास को धर्म का आदि स्वरूप माना है। विभिन्न आदिम संस्कृतियों में पारलौकिक शक्तियों के स्वरूप में भिन्नताएँ पाई जाती हैं। स्वरूपात्मक अन्तरों के साथ ही साथ इन शक्तियों के स्वभाव भिन्न होते हैं। अतः किसी एक प्रकार के विश्वासों के आधार पर सभी आदिम धर्मों को किसी एक नाम से नामांकित अथवा किसी एक धर्म में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष में आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व तक धर्म के आधार पर आदिम संस्कृतियों को सम्य समुदायों से अलग करते हुए प्रेतात्मावादी (animist) कहा गया। उनके धर्म की इसी विशेषता के कारण पर जन-गणना प्रतिनिधियों ने उन्हें सम्य संस्कृतियों के बहुसंख्यक हिन्दुओं एवं अन्य धर्मावलम्बियों से वृक्षक रूप में वर्गीकृत किया गया। आदिमजातीय धर्म को प्रेतात्मावादी सम्बोधित करते हुये यह कहा गया कि उनके आदिम विश्वासों



में जादू का कुछ अधिक होता है। ऐसे विद्वानों में अनुष्ठान को सर्वोच्च प्रकार की प्रेतात्माओं के संसर्ग में अपना जीवन व्यतीत करना होता है और इन्हें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का निबंधक माना जाता है। इनके प्रभाव क्षेत्रों में अनेकाली विपत्तियों से मुक्ति पाने के लिए आदिमजातीय समुदायों में पूजा, चर्चन, बलिदान आदि से उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा भी की जाती है। कुछ प्रेतात्माओं को कृषि में उत्पादन के लिए उत्तरदायी माना जाता है। अतः नाना प्रकार के विघ्नो एवं बाधाओं से फसल की रक्षा के लिए उत्पादन में वृद्धि के लिए, समय समय पर इन प्रेतात्माओं की पूजा आदि की जाती है। किसी पड़ोसी आदिमजाति अथवा किसी भी अन्य समुदायों की प्रेतात्मायों जीवन में कोई व्यतिक्रम न उत्पन्न कर सकें, इसके लिए भी लोक समय समय पर सक्रिय रूप में धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। धर्म की इन्हीं सामान्य विशेषताओं पर भारतीय आदिमजातियों को प्रेतात्मावादी कहा गया है। परन्तु धर्म के आधार पर सभ्य एवं आदिम समुदायों के इस अंतर के प्रति यथसम समय पर आपत्तियाँ भी उठाई गई हैं। सन् 1891 के जनगणना आयुक्त जे० ए० बेस ने हिन्दू धर्म अपना लेने वाली आदिमजातियों एवं परम्परागत धर्म का पालन करने वाली आदिमजातियों की धार्मिक गतिविधियों में अन्तर स्थापित करना निरर्थक समझा। सन् 1901 में तत्कालीन बम्बई प्रांत के जनगणना अधीक्षक एथोवेन ने प्रेतात्मावादी कहे जाने वाले आदिम समुदायों एवं सभ्य हिन्दुओं में धर्म के आधार पर अन्तर स्थापित कर सकना कठिन एवं अव्यावहारिक माना। सर हर्बर्ट रिजले ने हिन्दू धर्म एवं प्रेतात्मावाद की अव्यावहारिक सीमा रेखा की विवेचना करते हुये कहा कि दार्शनिकता द्वारा रूपांतरित प्रेतात्मावाद ही हिन्दू धर्म है। आदिमजातीय धर्म में जादू के अतिशय महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि जब आदिम धर्म में जादू का स्थान तत्त्व ज्ञान लेने लगता है तो वह रूपांतरित हो कर हिन्दू धर्म हो जाता है। इन कथनों से यह स्पष्ट है कि आदिमजातियों एवं सभ्य समाजों समुदायों में वर्गीकृत किये जाने वाले हिन्दुओं के धर्म में गुणात्मक आधार पर स्पष्ट रूप से अन्तर स्थापित कर पाना कठिन है। वस्तुतः भारतीय आदिम जातियों में पड़ोसी बहुसंख्यक हिन्दू संस्कृति सम्पर्कों के परिणामस्वरूप सबसे पहले उनका धर्म ही संस्कृतीकरण के प्रभाव क्षेत्र में आया। इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं किन्तु एक प्रमुख कारण यह भी रहा है कि दोनों के धर्मों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। यहाँ तक कि सन् 1911 में तत्कालीन बम्बई प्रांत के जनगणना अधीक्षक सेम्बिक ने यह सुझाव दिया कि प्रेतात्मावादी

सम्य द्वारा सम्बोधित एवं वर्गीकृत किन्ने वाले वाले आदिमजातीय समुदायों को हिन्दू धर्म के सम्पर्क ही माना जावे । इन्हीं अवसरों पर सुधारों से प्रेरित होकर 1922 के जनगणना आयुक्त जे० टी० मार्टिन ने वर्ग ही कहना अधिक उचित समझा । जब 1931 के जनगणना आयुक्त जे० एच० हट्टन ने हिन्दू धर्म एवं आदिमजातीय वर्ग के अन्तर्गत पर प्रकाश डालते हुये कहा कि आदिमजातीय वर्ग उस अतिरिक्त सामग्री के समान है जिसका प्रयोग हिन्दू धर्म स्वीकार करने में नहीं किया जा सकता है ।

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्य कहे जाने वाले जन्य भारतीय समुदायों के धर्म से आदिमजातीय धर्म को विभेदित करने के लिए ही जनगणना अधिकारियों ने प्रेतात्मावाद शब्द का प्रयोग किया । वास्तव में देश के सभी भौगोलिक क्षेत्रों में स्थित आदिमजातियों में एक ऐसे वर्ग का पाया जाना, एक अत्यंत सामान्य वस्तु है, जो कि हिन्दू धर्म अपना चुका है । औरत एवं सवाल आदिमजातियों के प्रसिद्ध सुधारवादी आन्दोलन में उनके सचेतक हिन्दू धर्म की आस्थाओं से अभिप्रेरित थे । अतः परम्परागत आदिमजातीय धर्म को मानने वाले के ही आदिमजातीय धर्म हैं जो कि या तो हिन्दुओं के सम्पर्क में नहीं आ सके अथवा वे जो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित नहीं हो सके । युरोप ने इसी दृष्टिकोण को अधिक महत्व देते हुये आदिवासियों को विच्छेद हुए हिन्दू कहना अधिक उचित समझा ।

भारतीय आदिमजातीय धर्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचारों से हिन्दू धर्म एवं आदिवासी धर्म के बनिष्ठ सम्पर्क का आभास होता है । जन्य सम्य समुदायों के धर्म के प्रभाव लगभग नगण्य रहे हैं । अनेक आदिमजातीय क्षेत्रों में ईसाई मिशनरी लगभग पिछले सौ वर्षों से भी अधिक समय से सक्रिय रहे हैं । अपने धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने आदिवासियों की उपेक्षा एवं उनकी आर्थिक विपन्नता का लाभ उठाया । शिक्षा एवं चिकित्सा सेवा के प्रसार के माध्यम से उन्होंने ईसाई धर्म के विपचारों एवं व्यवहारों का प्रसार आदिवासियों में किया । परिणामस्वरूप देश के सभी भागों में विशेषकर असम विहार एवं मध्य प्रदेश में अनेक आदिमजातियों में धर्म परिवर्तित ईसाइयों की संख्या में वृद्धि हुई । आधुनिक जीवन की कुछ सुख सुविधाओं, स्वास्थ्य शिक्षा के आधार पर संघातित शिक्षण प्रणालियों एवं आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं के अनेक साधनों की संख्या में आदिवासियों के एक वर्गीय वैयक्तिकता, नये प्रकार के विचारों एवं जीवन के अधिकारियों के रूप में एक नये पुरोहित

धर्म से परिचय प्राप्त किया। लगभग समय पर व्यक्त किये गये विभिन्न मानववैज्ञानिकों के विचारों से हमें विदित है कि आदिवासियों के सांस्कृतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में इस धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया के कितने व्यापक परिणाम हुए। किन्तु हिंदू धर्म की तुलना में यह ऐसा धर्म था जो कि आदिवासी धार्मिक तत्त्वों से सर्वथा भिन्न था। इन दो धर्मों के अतिरिक्त भारतीय आदिमजातियों के धार्मिक जीवन पर अन्य समाज के किसी अन्य धर्म का प्रभाव लगभग नगण्य ही रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रशासन के प्रसार के साथ ही मिशनरियों की गतिविधियां प्रारम्भ हुईं, जब कि हिन्दू धर्म से सम्पर्क की प्रतिक्रिया बहुत पहले से ही चलती रही है तथा ब्रिटिश प्रशासन काल में इन क्षेत्रों में आवागमन के साधनों की सुविधाओं के प्रसार के साथ ही साथ यह प्रक्रिया और भी तीव्र हुई।

आदिवासियों में मिशनरियों की गतिविधियों के परिणामों की अक्सर तीव्र आलोचना की गई। वहाँ तक कि प्रारम्भ में एलबिन को भी एक मिशनरी कह कर ही आदिवासियों में उनके निवास एवं सेवा कार्य की आलोचना की गई। इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए एलबिन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि जब वे सर्वप्रथम मध्य प्रदेश में करजिया में गोड लोगों के मध्य रहने के लिए गये थे तो उनका व्यक्तिगत जीवन निश्चित रूप से एक आदर्श ईसाई का जीवन था किंतु कभी भी उनमें अपने धर्म के प्रचार की अभिलाषा नहीं रही। उन्हें सभी धर्मों में समान रूप से आस्था थी। अपने जीवन के अंतिम काल में असम एवं नेपाल क्षेत्र में कुछ समय तक जीवन व्यतीत करने के उपरांत वे बौद्ध धर्म के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हुये। किसी अन्य रूप में भी सम्य सँस्कृतियों द्वारा परम्परागत आदिवासी संस्कृतियों के अतिक्रमण के वे कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि उन्होंने लिखा है कि सीधे सादे परम्परागत जीवन व्यतीत करते हुये आदिवासियों को धर्म परिवर्तन के लिए विवश करना एक भ्रमपूर्ण बात बँठी हुई चिड़िया को गोली मारने के समान है।

आदिवासियों के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन एवं उनके धार्मिक विश्वासों पर ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों के जो भी परिणाम हुये उनकी विवेचना आवश्यक है। आदिवासियों में अपने धर्म के प्रति निष्ठा के प्रमाण इसी तथ्य से मिल जाते हैं कि लगभग सभी आदिवासी आंदोलनों में सभ्यता के प्रतीक जमींदारों, ठेकेदारों, सरकारी एवं अर्द्धसरकारी कर्मचारियों के शोषण एवं अत्याचारों के विरुद्ध उनके नेतृत्व के अग्रमत की उभारने

में उनकी धार्मिक भावनाओं की ही संतुष्टि किता। संस्कृत के प्रसार एवं प्रसार के विरोध में उन्होंने अधिकारीगत अपने धर्म की सुरक्षित रखने के प्रयास किये। जहाँ कहीं हिन्दू धर्म के व्यापक प्रभावों के परिणामस्वरूप उनके सांसायिक सांस्कृतिक जीवन में आप्रान परिवर्तन आ चुके हैं वहाँ धर्म के क्षेत्र में दोनों धर्मों का एक विविध सम्मेलन हुआ है जिससे उनके अपने परम्परागत धर्म की मौलिकता प्राम् अधिकृत हो रही है। इस परिस्थिति के कारण हिन्दू धर्मों के परिणामस्वरूप उनका नैतिक पतन नहीं होने पाया। वही नहीं बल्कि एक श्रेष्ठ संस्कृति के संपर्क ने आकर अपने देवी देवताओं एवं धार्मिक रीति रिवाजों को अपनाते हुये हिन्दू देवी देवताओं को भी अपनाकर उनमें अपने देवी देवताओं को अपमानित करने की भावना ने जन्म नहीं लिया।

प्रत्येक धर्म की अपनी एक नैतिकता होती है। जहाँ धर्म परिवर्तन द्वारा एक नये धर्म एवं नई नैतिकता के आदेशों के माध्यम से एक संस्कृति दूसरी संस्कृति पर हावी होने लगती है वहाँ पुरातन एवं नवीन नैतिकता एवं आदेशों का संघर्ष मानसिक विकृतियों को जन्म देता है। मिशनरियों द्वारा संचालित पाठशात्य शिक्षा पद्धति चिकित्सा सेवा एवं ईसाई धर्म के माध्यम से लाये गये नवीन मापदण्डों ने उनके परंपरागत धार्मिक विश्वासों को दुर्बल बनाया तथा उन्हें अपने देवी देवता अपमानित होते जान पड़ने लगे। यद्यपि आदिवासियों के धार्मिक हितों की रक्षा के उद्देश्य से ब्रिटिश प्रशासन ने बाह्य तत्वों का आदिवासी क्षेत्रों में पहुँचना वर्जित कर दिया था फिर भी ईसाई मिशनरियों को इस ऐक्ट की अनुसंधानों से अप्रभावित रखा गया। मिशनरियों का धर्म प्रचार का कार्य सदैव राजनीति से ओतप्रोत रहा है। सुदूर जंगलों में बसे यह ब्रिटिश राजतंत्र को प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हुआ। असम में किन्हीं किन्हीं आदिवासीतियों में 95 से 98 प्रतिशत तक आदिवासी धर्म परिवर्तित करके ईसाई हो गये। आदिवासियों की दयनीय अवस्था और उनके अभावों धार्मिक का जन्म उठाते हुये धर्म परिवर्तन के द्वारा मिशनरियों ने उन्हें सम्पन्नता का प्रलोभन दिया जिसे वे कभी पूरा नहीं कर सके। इसके विपरीत उन्होंने आदिवासियों में ऐसी नयी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की जन्म दिया जिन्हें पूरा करने की धार्मिक क्षमता उनमें नहीं थी। स्वर्णिम भविष्य की आशाओं में नवीन आस्थाओं को अपना लेने से ही वे अपनी सदियों पुरानी परंपराओं से अपने को एकदम अलग भी नहीं कर सके। प्रत्येक आदिवासीत में धर्म परिवर्तित एवं संस्कृतगत धर्मोन्मूलनों के दो ऐसे वर्ग जन

नये जो कल तक एक सा ही जीवन व्यतीत करते थे। जैसे धार्मिक विश्वासों के सृष्टि मैतिकता के नये आवरणों ने अपने परंपरागत आवरणों के अति उपरों वृणा से उत्पन्न कर दी किंतु नये आवरणों को वे ठीक प्रकार के अन्धकार से के। जैसे जीवन की भावनाओं ने दोनों वर्गों में निरन्तर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी। सन् 1947 से आज तक अन्धविश्वासियों के अन्धक परिवर्तन के बाद भी भारत के उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश के अधिकांशस्थितों ने धार्मिक स्थिरता नहीं आ सकी। इस स्थिति का बहुत कुछ उत्तरदायित्व निम्नलिखितों के सदियों से किये जाने वाले कार्यों कलाओं पर ही है। सर्व प्रथम के नाम पर निरीह आदिवासियों की संस्कृति में हस्तक्षेप के परिणामस्वरूप सम्पत्ता का जो रूप उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है उससे उनमें पारस्परिक वृणा एवं द्वेष भाव को ही आश्रय मिला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सबके साथ उठने आदिवासियों की जो सेवायें की हैं वे सराहनीय हैं। किंतु मानवतावादी एवं सेवा भाव के दृष्टिकोण की भाव में जो कुछ भी किया गया वह अवाञ्छनीय हस्तक्षेप की दृष्टि भावना से ही किया गया।

जैसा कि हम कह चुके हैं आदिवासी धर्म एक ही प्रकार के विश्वासों एवं विचारों का एक वर्ग नहीं है। जैसे सम्म समुदायों में अनेक प्रकार के विश्वासों एवं व्यवहारों के आधार पर हम विभिन्न धर्मों की वर्णन करते हैं वैसे ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों के निवासी आदिवासियों ने भी एक समान विश्वास एवं उनसे सम्बंधित व्यवहार नहीं पाये जाते। जन्म मृत्यु देवी देवताओं के स्वरूप उनके निवास स्थानों आदि को लेकर अनेक विषयमात्रों पाई जाती हैं। फिर भी एक ही प्रकार के कुछ विश्वासों को ध्यान में रखते हुए कुछ विशेष प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियों की वर्णन व्यवस्था की जा सकती है। धर्म का आदि स्वरूप क्या रहा होगा इस सम्बन्ध में विभिन्न मानव वैज्ञानिकों ने अपने निरीक्षणों एवं अनुभवों के आधार पर भिन्न भिन्न सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं और आदिवासियों के धार्मिक व्यवहारों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आदिवासी धर्म को उस स्थिति के अधिक निकट दर्शाने के प्रयास भी किये हैं। यहाँ पर हम उन सिद्धांतों की व्याख्या न करके यह कहना अधिक उचित है कि भारतीय आदिवासियों में किन किन क्षेत्रों में कौन सी धार्मिक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों ने अंतरों एवं समानताओं का आधार अधिप्राकृतिक शक्तियों के से विभिन्न स्वरूप ही हैं जिनमें आदिवासी विश्वास करते हैं। इस दृष्टिकोण से भारतीय आदिवासियों में दो प्रकार की अनेक



विश्वास छोटा बाल्यभर से ही आदिमजाति के अतिरिक्त मूढ़ तथा अज्ञान-पाश की अन्य आदिमजातियों में भी कुछ थोड़े बहुत मन्त्रों के साथ पढ़े जाते हैं। मुँहा लोगों का सम्पूर्ण जनजीवन एक प्रकार के बोंगाबाद से परिपूर्ण है। ओरीस आदिमजाति के लोग अपने पड़ोसी लोगों की बोंगा शक्ति के प्रभावों से अचम्भी रहकर एक विशेष सस्कार से करते हैं जिसे 'सरहुल' कहते हैं। इस सस्कार का आयोजन प्रत्येक गाँव में किया जाता है। कोई ओरीस लड़की जब किसी ऐसे गाँव में ब्याही जाती है जहाँ इस सस्कार का आयोजन न किया गया हो तो उसे अनिष्टकारी बोंगा से प्रभावित माना जाता है। इसीलिए जब वह लौट कर फिर अपने पिता के गाँव में आती है तो सरहुल सस्कार के बाद ही उसे अपने घर में प्रवेश करने दिया जाता है।

दूसरी प्रकार की एक अन्य धार्मिक प्रवृत्ति में जिसके प्रमाण अनेक आदिवासियों में मिलते हैं मानव जीवन का संचालन व्यक्तिगत शरीरी एवं अलौकिक शक्तियों के माध्यम से माना जाता है। जिन्हें आत्मा एवं प्रेतात्माओं के रूप में मानते हैं। यह आध्यात्मिक शक्तियाँ शरीरी मानी जाती हैं जिनकी कुछ निश्चित क्षमताएँ होती हैं और वे अदृश्य होती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास है कि वे किसी अदृश्य काल्पनिक जगत् में निवास करती हैं तथा अक्सर मनुष्य के बीच उपस्थिति होकर उसके कार्य-कलापों को प्रभावित करती हैं। कुछ विशेष भ्रष्टाचारी एवं सञ्चरित धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले लोगों को उनके दर्शन भी होते हैं। वे निरन्तर मानव जीवन में हस्तक्षेप करती रहती हैं। इन वैयक्तिक मान्यताओं में कुछ को अन्यो की अपेक्षा अधिक अथवा कम क्षमता वाली शक्तियाँ माना जाता है। मनुष्य समय समय पर इन शक्तियों की कृपादृष्टि तथा अपनी सुख समृद्धि एवं शान्ति से जीवन भापन की कामना से इन शक्तियों की आराधना पूजा अर्चना आदि करता रहता है। इस प्रकार के विश्वासों में मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति की आत्मा प्रेतात्मा में परिणित हो जाती है। ये प्रेतात्मार्थ काल्पनिक स्थानों में रहती हुई मनुष्य के सामान्य जीवन को प्रभावित करती हैं। अन्ध मृत्यु गर्भधारण, विवाह, कृषि आदि सामान्य जीवन के सभी क्षेत्रों में इन वैयक्तिक शक्तियों का हस्तक्षेप माना जाता है। जीवन में सभी प्रकार की असफलताओं, निराशाओं, बीमारियों आदि को प्रकृति के नियमानुसार न मानकर अनिष्टकारी आध्यात्मिक शक्तियों के हस्तक्षेप का परिणाम माना जाता है। श्रीलंका की वेड्डा आदिमजाति के लोग ऐसी ही शक्तियों के कुप्रभाव के कारण ही उस क्षेत्र की को त्याग देते हैं जिसमें किसी की मृत्यु हो गयी है। राजस्थान एवं गुजरात

के बीच जोड़ विस्तृत क्षेत्रों में फैले हुए जंगलों में रहते हैं और अक्सर किसी भी मृत्यु हो जाने पर उस क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र रहने लगते हैं। इन जनजातों की विशेषता पूजा आदि करते रहने पर वे अपने को सुरक्षित समझने लगते हैं।

जैसा कि उपरर में मत व्यक्त किया था, आत्मा की विश्रामाया का मान्य आदिवासीयों की लक्ष्यों, कामों एवं जीव आदि से उत्पन्न आन्तिकों से हुआ होता। मृत्यु के उपरान्त वह आत्मा जब शरीर को छोड़ कर आत्मा जगत में आ जाती है तो वह प्रेतात्मा हो जाती है और उसमें अत्यन्त शक्ति एवं समताओं आ जाती हैं। सम्भवत इसी विश्राम के कारण पूर्वजों की पूजा आदि का विज्ञान अधिकतर आदिवासीयों में पाया जाता है। भारतीय में कोई भी आदिवासी ऐसी नहीं है जिसमें मृत्यु के उपरान्त आत्मा के ऐसी आध्यात्मिक शक्ति के रूप में परिचित हो जाने से सम्बन्धित विश्राम न पाये जाते हो। ऐसा विश्राम है कि इन प्रेतात्माओं का सम्पर्क अपने निकट सम्बन्धियों से सदैव बना रहता है। इसीलिए किसी सम्बन्धित व्यक्ति के मन से वे पूर्वजों की प्रेतात्माओं की पूजा करते हैं। कुछ मानववैज्ञानिकों का भी यहाँ तक कथन है कि मानव संस्कृति के इतिहास में पूर्वज पूजा ही जर्म का प्रारम्भिक स्वरूप रहा होगा तथा समाधिर्मा ही मनुष्य के सर्वप्रथम मंदिर रहे होंगे। भारतीय आदिवासीयों में दक्षिण भारत के टोंडा तथा छोटेनामपुर के हो लोग आज भी दो प्रकार की अन्त्येष्टि क्रियाएँ इसी मान्यता से प्रेरित होकर करते हैं। मानववैज्ञानिकों ने प्रथम को कन्वी अन्त्येष्टि तथा द्वितीय को पक्की अन्त्येष्टि कहा है। छोटेनामपुर की हो आदिवासीयों में द्वितीय अन्त्येष्टि को 'बगटोपा' कहा जाता है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद लोगों को यह सन्देश बना रहता है कि सम्भवत शरीर से आत्मा का विश्रामाया शक्ति ही है। मत इस भाषा से कि आत्मा पुन शरीर में प्रवेश कर जायेगी, वे मृतक के शरीर की कुछ सामान्य संस्कारों के उपरान्त सदैव के निकट ही कुछ समय तक रखा रहने सेते हैं। किन्तु कुछ समय के बाद जब उन्हें पूर्व विश्राम हो जाता है कि आत्मा का बहिर्गमन स्पर्श रूप से हो चुका है तब वे यह मान सेते हैं कि उसकी आत्मा कुछ आध्यात्मिक शक्ति में लीन हो चुकी है, मत गाँव से दूर से आकर द्वितीय अन्त्येष्टि किया का समापन कर सेते हैं। नीलगिरि की टोंडा आदिवासीयों में द्वितीय अन्त्येष्टि के उपरान्त लोटों समक से लोग रास्ते में कटि बिछाते हुये आते हैं जिससे मृतक की प्रेतात्मा गाँव तक वापस न आ सके। अनेक आदिवासीयों में प्रेतात्माओं के सदैव



में परिवर्तित होकर उनके पुर्नजन्म में भी विश्वास पाये जाते हैं। निर्विघ्न पक्षार्थ में किसी प्रकार की अशुभा की विद्यमानता स्वीकार नहीं की जाती। ऐक-वैद्यों को सजीव मानते हुए उनकी पूजा की जाती है। उन्हें उन्मत्त का प्रतीक माना जाता है।

समाज सभी आदिमजातियों में मृत्यु को जीवन का प्राकृतिक अन्त न मानकर, मृत्यु के उपरान्त किसी न किसी रूप में उसकी विद्यमानता में आस्था पायी जाती है। आत्माओं एवं प्रेतात्माओं में विश्वासों के आधार पर ही आदिम अनुष्ठान के मानसिक दृष्टिकोण में इस आस्था को तर्कसिद्ध करने के प्रयास किये जाते हैं। मृतकों की जसरीरी विद्यमानता के परिणामस्वरूप प्रेतात्माओं एवं पूर्वजों की पूजा के प्रमाण पाये जाते हैं। छोटानागपुर की बौरांग आदिमजाति में ऐसा विश्वास किया जाता है कि पूर्वजों की प्रेतात्माओं कीमाली अर्द्ध में उनके पास आकर अन्य अनिष्टकारी प्रेतात्माओं से उनकी रक्षा करती हैं। जब किसी व्यक्ति को बीमारी की वृत्ता में कोई सुधार नहीं होता तो पूर्वजों की प्रेतात्माओं का आवाहन किया जाता है। मृत पूर्वजों को जीवित सदस्यों की ही भाँति परिवार अथवा धन का सदस्य माना जाता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि सपनों में दर्शन के माध्यम से वे परिवार के सदस्यों से अपनी इच्छा भी व्यक्त करते हैं तथा प्रभावित सदस्य की सुरक्षा के उपाय भी बताते हैं। छतीसगढ़ की आदिमजातियों में यहाँ तक विश्वास पाया जाता है कि वे लोग विशेष पूजन आदि के आयोजन के द्वारा अपनी इच्छानुसार समय समय पर अपने पूर्वजों की प्रेतात्माओं को अपने बीच बुला भी सकते हैं। ये प्रेतात्माएँ एक विशेष चबूतरे पर अथवा मिट्टी के बने हुए एक विशेष बतन में प्रवेश करती हैं जो कि उनके जाने के निश्चित स्थान होते हैं। इसके सम्बन्धित संस्कार को 'जीवपानी' संस्कार कहा जाता है। पुवे ने कुमार आदिमजाति के वृत्तान्त में इस संस्कार का वर्णन प्रस्तुत किया है। आदिमजातियों में ऐसे संस्कारों के भी प्रमाण मिलते हैं जिनके द्वारा पूर्वजों की आत्माएँ पुनः उसी परिवार में जन्म लेने वाले सदस्यों में आ जाती हैं। बिहार के सुन्दास, उड़ीसा के मडबा एवं अन्य अनेक आदिमजातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कारों का आयोजन इसी उद्देश्य से किया जाता है।

जसरीरी आध्यात्मिक शक्तियों की ओर भी कुछ अन्य प्रकार के विश्वासों की भी वर्णना की जा सकती है जिनमें ऐसी शक्तियों में 'व्यक्ति' की तुलना में शक्ति का कुछ अधिक माना जाता है। ऐसे विश्वासों को पोटिष्म (Potishism) कहा जाता है। जब किसी वस्तु में किसी प्रकार

की आध्यात्मिक शक्ति के उद्देश्य के निमित्त रहती हुए उस वस्तु की पूर्ण इस वाक्य से भी जाती है कि इनके शरीरों का अत्यन्त जीवन प्रभावित होता है तो ऐसे धार्मिक विश्वासों एवं प्रक्रियाओं को वस्तु पूजा कहा जाता है। आध्यात्मिकता के अभावित वस्तु की आहु के सम्प्रतिष्ठ विश्वासों का एक ही नाम देते हैं। वस्तु में वह आध्यात्मिक शक्ति किसी ऐसी प्रेरणा के संघर्ष के उत्पन्न जानी जाती है जिस पर आहुत्यों का विस्तार होता है। आहुत्यों के प्रवास से वस्तु में निहित आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। आहुतय उस वस्तु की अक्षय प्रेरणा के प्रतीक रूप में प्रयोग करते हुए उसे अपने शरीरों आदि से इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाध्य करता है। यह एक ऐसी धार्मिक प्रक्रिया है जिसमें आहु और धर्म निहित रूप में पड़े जाते हैं।

वस्तु पूजा के प्रमाण अनेक भारतीय आदिवासियों में अनेक रूपों में मिले जाते हैं। उड़ीसा के बोंबे आदिवासी एक विशेष तलवार की पूजा इसी रूप में करते हैं। उनका विश्वास है कि इस तलवार के बाध्यता से उनका सम्पूर्ण श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न राजपूत योद्धाओं से हो जाता है। इस तलवार को राजपूत प्रेतात्माओं की शक्ति से सम्पन्न माना जाता है। एक विशेष वर्ष के अवसर पर आदिमजाति के लोग एक बरगड के पेड़ के पास एकत्रित होते हैं जिस पर यह तलवार छिपा कर रख दी जाती है। कुछ प्राथमिक पूजा आदि के उपरान्त उनका पुरोहित सिसा पेड़ पर चढ़कर तलवार ढूँढ लाता है और अपने दाहिने हाथ में लेकर नीचे उतर आता है। फिर इसी तलवार से एक भुईं एवं एक बकरी का बलिदान करके उनके रक्त से तलवार को स्नान कराया जाता है। एकत्रित जनसमुदाय के सभी लोग तलवार से छुपते हुए रक्त की एक झूब प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यह इस कारण से किया जाता है कि तलवार के ससर्प में जाकर रक्त में ही प्रेरणा शक्ति का कुछ अंश आ जाता है। इस रक्त को लेकर वे अपने प्राचे पर लगा लेते हैं। उपरान्त पुरोहित मल्लोष्कारण के माध्यम से प्रेरणा शक्ति को प्रभावशाली रूप में कार्य करने को बाध्य करता है। इसके बाद तलवार फिर उसी पेड़ पर छिपा कर रख दी जाती है।

बस्तर के मुड़िया आदिवासी कुछ देवों की पूजा इसी प्रकार के विश्वासों के आधार पर करते हैं। अत्यन्त ही कम एक बहुदातावर डोल उनके प्रमुख देवता 'विजयेन' का प्रतीक माना जाता है। प्रत्येक विजय आदि के पूर्व इस डोल की पूजा की जाती है। डोल में देवता का निवास माना जाता है। अतः वस्तु-

पूजावाद' शब्द का प्रयोग ऐसे विश्वासों के लिए किया जाता है जिनमें कुछ विशेष वस्तुओं में अतिशक्ति वाले देवी देवताओं की आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश मानते हुए उनकी पूजा की जाती है। विशेषकर मध्य भारत की आदिमजातियों में ऐसे विश्वास प्रचुरता से पाये जाते हैं। किन्तु एक विशेषता यह है कि ऐसी वस्तुओं की पूजा में उनमें विहित आध्यात्मिक शक्ति को सक्रिय बनाने में सर्वत्र जादूगरो का सहारा लिया जाता है।

अनेक आदिवासियों में पशुओं, पक्षियों, पेड़ पौधों एवं भौतिक वस्तुओं आदि से कभी कभी एक विशेष प्रकार के रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं जिसे 'टोटमवाद' कहा गया है। ये रहस्यमय सम्बन्ध आत्मा एवं प्रेतात्मा वाद की सीमाओं से अधिक विस्तृत और व्यापक माने जाते हैं। भारत के आदिवासियों में, विशेषकर मध्य क्षेत्र के आदिवासियों में ऐसे विश्वास अधिक प्रचलित हैं। जैसे सर्वप्रथम अमेरिका के कुछ रेड इण्डियन आदिवासियों में इन विश्वासों का पता चला था जिनका उल्लेख मेकलेनन् ने अपने बृतान्तों में किया है। बाद में दुर्खोम ने आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में ऐसे विश्वासों को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में पाया। इन आदिवासियों में इन विश्वासों का अध्ययन करने के उपरान्त वे यहाँ तक प्रभावित हुये कि उन्होंने वह भी स्वीकार किया कि सम्भवतः मानवजाति के सांस्कृतिक विकास में टोटमवाद से सम्बन्धित विश्वास ही धर्म का अतिप्राचीन एवं प्रारम्भिक स्वरूप रहा होगा।

अधिकांश टोटमी आदिवासियों की आर्थिक व्यवस्था में पशुओं एवं पेड़ पौधों को महत्वपूर्ण पाया जाता है क्योंकि वे संकलन एवं अत्यन्त पिछड़े हुए तरीकों से पेड़ों को काट कर एवं जला कर खेती करते हैं। शिकार आदि पर भी उनकी पर्याप्त निर्भरता होती है। इन विश्वासों के अनुसार बहुधा वे किसी विशेष पेड़ पौधे अथवा पशु की जाति को अपना टोटम मान लेते हैं। वे समय समय पर उस पेड़-पौधे अथवा पशु को पूजा आदि का आयोजन करते हैं तथा कभी उसे क्षति नहीं पहुँचाते हैं। इनका खाद्य रूप में प्रयोग भी वर्जित मानते हैं। किन्हीं आदिमजातियों में कुछ विशेष अवसरों पर ही पूजा आदि के उपरान्त प्रसाद रूप में ही उसका आहार करते हैं। अपने टोटम के कलात्मक चित्रों से घरों की दीवारों को सजाते हैं तथा शरीर पर बिना बिना स्थलों पर उसके चित्र को मुद्रा लेते हैं। एक ही टोटम के मानने वाले सभी सदस्य एक दूसरे को रक्त सम्बन्धी मानते हैं और उनमें परस्पर विवाह एवं यौन सम्बन्ध वर्जित माने जाते हैं। टोटम को आदि पूर्वज का प्रतीक भी मानते हैं। प्रत्येक

आदिमजातियों विभिन्न गणों के अपने टोटम होते हैं और टोटम गणों की विशेषता यह होती है। एक टोटम वाले गण के सदस्य अपनी विशिष्टता अपने टोटम से निर्धारित करने लगते हैं। किन्हीं-किन्हीं आदिमजातियों में पूरे पशु, पेड़ पौधे आदि को टोटम न मान कर उसके किसी अंग को ही टोटम मान लिया जाता है। छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासियों में बहु-प्रथा अधिक प्रचलित है। सम्भवतः एक गण के आकार में अत्यधिक वृद्धि के उपरान्त पूरे पशु अथवा वृक्ष के भिन्न भिन्न अंगों को टोटम रूप में मानते हुये एक गण के सदस्य अनेक गणों में विभक्त हो जाते हैं। परन्तु सभी टोटमी आदिमजातियों में अन्य सभी देवी देवताओं, आत्मा, प्रेतात्मा आदि ने विश्वास भी करते रहते हैं। छोटा नागपुर क्षेत्र के ही सम्बल सोणों में पशुओं, पौधों एवं भौतिक पदार्थों के नाम पर उनके एक ली से अधिक गणों के नाम हैं। इसी प्रकार से भील, कतकरी, खडिया आदि आदिमजातियाँ भी टोटम को मानती हैं।

टोटमवाद आदिवासी धर्म का ही एक स्वरूप मात्र है, यह कथन किन्हीं अंशों तक बिबादास्पद माना जाता है यद्यपि दुर्धीस ने आदिम मानव की प्रकृति पर निर्भरता एवं उसके जीवन पर प्रकृति के नियंत्रण आदि तथ्यों पर विशेष ध्यान देते हुये टोटम को समूह का प्रतीक मान कर उसकी पूजा करना धर्म का आदि स्वरूप माना है। दुर्धीस के अनुसार समूह एवं समूहन का आदि मानव के जीवन में महत्त्व एवं पशुओं पेड़ पौधों आदि पर उसकी निर्भरता ये दो ऐसे प्रमुख कारक रहे होंगे जिन्होंने आदि मानव को समूहन एवं अपने समूह के प्रतीक के रूप में इनकी पूजा करने पर विवश किया। कुछ मानवज्ञानिकों ने विद्वुद आर्थिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार पर ऐसे विश्वासों एवं व्यवहारों की विवेचना की है। इन विश्वासों की उत्पत्ति क्यों कर हुई यह एक जटिल प्रश्न है। अतीत के भूक रहने वाले प्रमाण इसका उत्तर नहीं दे पाते और कल्पना एवं तर्क के माध्यम से ही हम कोई तक सगत युक्ति देने का प्रयास कर पाते हैं। इससे अधिक सार्थक प्रश्न यह है कि टोटमवाद आदि धर्म का ही एक स्वरूप है अथवा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि टोटम शब्द का प्रयोग किसका व्यापक अथवा संकीर्ण है। यदि पेड़ पौधों, पशुओं एवं पक्षियों के प्रति अहंता एवं सम्मान की भावना को ही हम टोटमवाद मान लें तो इसे केवल आदिवासी धर्म तक ही सीमित रखना एक बड़ी भूल होगी क्योंकि ऐसी भावनाएँ अनेक सभ्य धर्मों में भी पाई जाती हैं। यदि हम टोटमवाद को संसन् सामाजिक प्रतिकर्षण-आदि की ओर भी ध्यान देते हैं तो ऐसा प्रतीत

होता है कि टोटम की सम्बन्धता केवल कुछ सामाजिक प्रतिस्पर्धियों के लिए आधार भाग है। यहाँ भी टोटमी आदिमजाति ऐसी नहीं है जहाँ धर्म के रूप के टोटम सम्बन्धों विकासोत्पत्ति एवं व्यवहारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विवादात्मक पक्ष आते हों। किन्हीं समाजों में इन समाजों में पशुओं, पेड़-पौधों आदि के महत्व को ध्यान में रखी हुए इनके धार्मिक संस्कारों से संबद्ध कर दिया गया है। हिन्दू धर्म में भी गऊ को पवित्र ही नहीं बरन भोजन का साधन तक मान लिया गया है। जना यमुना आदि नदियाँ हिन्दू धार्मिक संस्कारों का अंग हैं। किन्तु हिन्दुओं को सामान्यतः टोटमी नहीं माना जाता। दूसरी ओर टोटम से सम्बन्धित व्यवहारों में विभिन्न जातों के आदिवासियों में इतनी विविधताएँ हैं कि किसी एक प्रकार के व्यवहार को ही टोटमी व्यवहार नहीं माना जा सकता। फिर भी भारतवर्ष एवं संसार के कुछ अन्य भौगोलिक क्षेत्रों में जैसे उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में टोटम से सम्बन्धित व्यवहारों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी आदिवासियों में टोटम एवं उससे सम्बन्धित व्यवहार उनकी धार्मिक प्रक्रिया का अंग बन चुके हैं। उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में इन व्यवहारों की प्रभावितता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

भारतीय आदिवासियों में समूह पर आधारित अर्थव्यवस्था पर आधारित आदिमजातियों में हिन्दू धर्म के प्रभाव सबसे कम दृष्टिगत होते हैं। आज भी दक्षिण भारत में कादार चेंबू मालपतरम आदि ऐसी कुछ आदिमजातियाँ हैं जो ऐसी ही अर्थव्यवस्था में आती हैं। ये आदिमजातियाँ एक ऐसे सर्व-व्यक्तिमान् देवता में विश्वास करती हैं जिसे वे परमेश्वर परमेश्वर आदि हिन्दू धर्म में प्रचलित देवी देवताओं के नाम से सम्बोधित करते हैं। इन सभी आदिमजातियों में प्रचलित एक सर्वव्यक्तिमान् देवता की कल्पना बहुत कुछ हिन्दू देवता शिव के समान ही है। साधारणतया इनके ये देवता पर्वतों पर निवास करने वाले तथा मोटे अथवा हाथी के बाहन पर सवार होकर प्रेतात्माओं से संघर्ष करते हुये दृश्य आते हैं। इसे वे लोग शिकार का देवता मानते हैं। किसी एक प्रस्तर शिला को दैविक शक्ति से युक्त मानते हुए उस शिला की पूजा की जाती है। पूजा किये जाने वाले देवता की प्रशंसा में गीत गाते हैं। अक्सर गाने वालों में से कोई एक व्यक्ति दैविक शक्ति से उत्प्रेरित हो उठता है। ऐसी अवस्था में अन्य व्यक्ति उससे प्रश्न पूछते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति जो भी उत्तर देता है वह दिव्य-वाणी ही होती है। इस आर्थिक संघर्ष की आदिमजातियों में पूर्वजों की पूजा

का भी प्रयत्न है। कभी-कभी परम शक्तिशाली देवता को वे अपना भाई पूर्वज भी मान लेते हैं और इसीलिए बलिदान आदि देकर उस देवता की पूजा करते हैं। इन पर भदिरा, अजीम, तम्बाकू आदि चढ़ाई जाती है। किसी मुर्बे, बकड़े, भेड़ आदि का बलिदान करके डोल एवं तुरही आदि से देवता का आवाहन किया जाता है। देवियों की कल्पना भी पाई जाती है जिन्हें काली महाकाली, भद्रकाली आदि हिन्दू देवियों के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

अपने जंगलों को काट कर एक जलमय कर रिक्त किये गये स्थलों पर अत्यन्त अविकसित रूप में होती करने वाले आदिवासियों ने भी एक सर्व शक्तिमान देवता में विश्वास पाया जाता है। हिन्दुओं के समान वे आदिम-जातियाँ भी अपने इस देवता को जगवान अथवा ईश्वर आदि शब्दों से सम्बोधित करती हैं। देवता के लिए किसी प्रकार के मन्दिर आदि की व्यवस्था नहीं की जाती है। बलिदान के द्वारा देवता को प्रसन्न करने के प्रयास किये जाते हैं। इस सर्वशक्तिमान महान देवता के अतिरिक्त ये लोग पर्वतों के देवता में भी विश्वास करते हैं जिसका स्थान पर्वतों पर ही बताया जाता है। दक्षिण भारत की पुलिन्द आदिमजाति के लोग अपने पर्वतों को ही दैविक शक्ति में परिपूर्ण मानते हैं। अपने जंगलों के एक भाग को प्रेतात्माओं के निवास के लिये सुरक्षित छोड़ देते हैं। जब कभी भी ये लोग अच्छी फसल की कामना से कोई बलिदान करते हैं तो पहले पूर्वजों की पूजा करके उनकी प्रेतात्माओं का आवाहन करते हैं। जंगलों से सम्बन्धित कुछ प्रेतात्माओं में भी विश्वास पाया जाता है। समय-समय पर उनकी पूजा करके भेंट चढ़ाने के पश्चात् जंगली पशुओं के उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहना।

कतिपय आदिमजातियों ने सूर्य एवं चन्द्रमा की पूजा भी की जाती है। उदाहरण के लिए कश्मिरक लोगो का विश्वास है कि सूर्य सृष्टिकर्ता है। बुकवार के दिन सूर्य की पूजा करते हैं। सूर्य को स्त्री एवं चन्द्रमा को पुरुष मानते हैं। दक्षिण भारत की उरासी आदिमजाति के लोग सूर्य को सम्पूर्ण सृष्टि का पिता एवं चन्द्रमा को माता मानते हैं। मातृवादीय लोगो का विश्वास है कि सूर्य एवं चन्द्र एक ही स्त्री के शिशु हैं। इन सभी आदिमजातियों में अग्निष्टकारी प्रेतात्माओं का अब सबैक बना रहता है। उसमें सभी प्रकार के दोषों से युक्ति प्रिया करने की क्षमता मानी जाती है।

इस एक बैल का प्रयोग करते हुये विकसित कृषि पर निर्भर करने वाली

आदिमजातियों में भी एक सम्बन्धितमान देवता की मान्यता पाई जाती है। वे लोग भी इस देवता को हिन्दुओं के देवताओं के नामों से सम्बोधित करते हैं। शिव, ईश्वर देवता भगवान आदि नाम अधिक प्रचलित हैं। अन्य पिछड़े हुये कृषकों के समान इन लोगों का भी विश्वास है कि इस देवता का निवास एक प्रस्तर शिला में है। किसी वृक्ष के नीचे स्थापित इस प्रस्तर शिला के समक्ष ये लोग भी मुर्गों भेड़ों बकरो आदि का बलिदान करते हैं। हिन्दू देवियों के समान इन लोगों में भी काली भगवती आदि देवियों की मान्यता पाई जाती है। किन्हीं कि ही आदिमजातियों में सम्बन्धितमान देवता को भी स्त्रीलिंग मानते हुये देवी के रूप में ही माना जाता है जिसे वे सम्पूर्ण आदिमजाति की आदि जननी के रूप में मानते हैं। अकालमृत्यु भेषक, हैजा आदि महामारी के रोगों से सम्बन्धित देवियों की कल्पना भी पाई जाती है और इन रोगों से मुक्ति पाने के लिए वे आदिमजातियाँ समय समय पर उनकी पूजा आदि करती हैं तथा बलिदान चढ़ाती हैं। इन कृषकों में ग्राम्य देवता की मान्यता इनके धर्म की एक विशेषता है। इनमें अपने देवी देवताओं के लिए मन्दिर बनाने की प्रथा पाई जाती है। इन मन्दिरों में पूजा करने वाले पुरोहित सब पुरुष ही होते हैं। लगभग इन सभी आदिमजातियों में पूँवजों की पूजा की जाती है। जादू अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। विशेष कर कृषि उत्पादन एवं रोग निवारण हेतु जादू का प्रयोग अधिक किया जाता है।

मध्य भारत की लगभग सभी आदिमजातियों में एक सर्वशक्तिमान देवता तथा अनेक छोटे छोटे एवं विशिष्ट क्षेत्रों से सम्बन्धित देवताओं में विश्वास तथा जादू एवं प्रेतात्मावाद महत्वपूर्ण हैं। सर्वशक्तिमान देवता को ठाकुर देव बूढ़ा देव बड़ा देव भगवान परमजीव, नारायण देव परमेश्वर परमात्मा आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। केवल मुडारी भाषा का प्रयोग करने वाली जैसे मुडा, हो भूमिज बिरहोर असुर आदि आदिम जातियों में इस देवता को सिंगबोमा कहा जाता है। सिंग' शब्द का प्रयोग सम्भवतः सूर्य के लिए किया जाता है। सूर्योदय के समय ही इस परम शक्तिशाली देवता की आराधना की जाती है। सार्वजनिक बलिदान के अवसरों पर भी सर्वप्रथम इसी देवता की आराधना की जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बलिदान में इस देवता को सबसे वर्ष का ही पशु अधिक रुचिकर होता है। बलिदान करते समय पशु का बंध करने वाला व्यक्ति पूर्व दिशा के ओर टी मुख करके बलिदान करता है। नृतक संस्कारों में इस

देवता की जीवन् एवं मरण का विभाजित माना जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सम्बन्धित सभी क्षेत्रों के देवता कई प्रकार के माने जाते हैं। पर्वतों एवं वनों से सम्बन्धित देवता इसी क्षेत्रों के होते हैं। प्रत्येक गाँव में किसी वृक्ष की छाया में रखे एक प्रस्तर जिसका ऊपर के रूप में इस देवता की पूजा की जाती है। विशेषकर फसल कटने के बाद बड़े ही आनन्द प्रमोद से इस देवता की पूजा की जाती है।

एक तीखरी क्षेत्री देवियों की भी पूजा जाती है। इनमें घुम्मी मता की पूजा अत्यंत महत्वपूर्ण है। जीषी क्षेत्री में परिवार एवं कुल से सम्बन्धित देवता माने जा सकते हैं। मृतकों की प्रेतात्माओं को ही कुल देवता माना जाता है। अपने मृतक सम्बन्धियों एवं पारिवारिक सदस्यों के लिये वे लोग पत्थर जयदा लकड़ी के स्मारक स्तम्भ खड़े करते हैं। इन देवताओं को भी प्रसन्न रखने के लिए बलिदान किये जाते हैं। इस क्षेत्र की अधिकांश आदिमजातियाँ टोटमी हैं यद्यपि टोटम पूजा से सम्बन्धित संस्कार उतने व्यापक नहीं हैं जितना कि ससार के अन्य क्षेत्रों की टोटमी आदिमजातियों में पाये जाते हैं। फिर भी ओरांव आदिमजाति में स्थान स्थान पर टोटम स्थलों के प्रतीक रूप में लकड़ी के स्तम्भ खड़े किये जाते हैं। समय-समय पर वहाँ पूजा की जाती है एवं उपहार आदि चढ़ाये जाते हैं।

मध्य क्षेत्र की आदिमजातियों में यह एक सामान्य विश्वास है कि व्यक्ति की अनेक आत्माएँ होती हैं। आत्माओं के पुनर्जन्म में भी विश्वास किया जाता है। जिन प्रेतात्माओं के लिए विविध मृतक संस्कार नहीं किये जाते हैं उन्हें शांति नहीं मिलती और वे लोगों के लिए विभिन्न प्रकार की व्याधियों का कारण बन जाती हैं। ये आदिमजातियाँ कुछ ऐसी अशुभ प्रेतात्माओं में भी विश्वास करती हैं जो कभी भी मानव रूप में नहीं हो। गमय समय पर उन्हें प्रसन्न रखने के लिए विविध संस्कारों का आयोजन किया जाता है। जाहूगर उनके स्वभाव से परिचित माने जाते हैं।

ऊपर वर्णित आदिमजातियों के विपरीत असम की आदिमजातियों में सर्वशक्तिमान देवता के स्थान पर निम्न क्षेत्री के देवी देवताओं को अधिक महत्व दिया जाता है। दिन प्रतिदिन के जीवन में उनकी प्रभावशक्ति अधिक मानी जाती है। यह एक सामान्य धारणा है कि परमशक्तिमान देवता किसी का अनिष्ट नहीं करता जब कि निम्न क्षेत्री के देवता अनिष्टकारी हो सकते हैं। इसीलिये इन मधुस्तरीय देवताओं की प्रसन्न रखने के लिए अवसर बलिदान आदि के आयोजन किये जाते हैं। फिर भी वे एक परम शक्तिमान



देवता में अपनी आत्मा व्यक्त करते हैं और उसे लघुस्तरीय देवताओं की तुलना में श्रेष्ठ मानते हैं। जाओ नागाओं का विश्वास है कि परमशक्ति सम्पन्न देवता का निवास आकाश में है इसीलिये वे उसे सम्बोधित करने के लिए अपनी भाषा के एक ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ वायुमंडल की प्रेतात्मा होता है। इस देवता की पूजा में कभी किसी प्रकार की जेंट नहीं चढ़ाई जाती। इस देवता को अपनी भाषा में लुग की-जिबाबा कहते हैं। उनका विश्वास है कि पृथ्वी की उत्पत्ति इसी परमशक्तिमान देवता से हुई है। इस देवता के सम्बन्ध में लोहटा नागा लोगो के बिचार कुछ स्पष्ट नहीं हैं। किंतु मनीपुर के नागा भी पृथ्वी की उत्पत्ति इसी देवता से मानते हैं। वे भूचाल आदि के लिए भी इसी देवता को उत्तरदायी मानते हैं। कुकी आदिम जाति के लोग भी इस देवता को आकाश का देवता मानते हैं।

अरुणाचल प्रदेश की आदिमजातियों के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में अत्यंत न्यून सूचनायें प्राप्त हैं किन्तु उनमें भी किसी न किसी रूप में एक परम शक्तिमान आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए डाफला आदिमजाति में इस सत्ता को देवी के रूप में माना जाता है। इस देवता के अतिरिक्त असम की आदिमजातियों में अनेक ऐसे लघुस्तरीय देवी देवताओं में भी विश्वास पाये जाते हैं जिनके प्रति लोगो में भय की भावना रहती है और इसीलिये वे लोग सदैव प्रार्थना एवं बलिदान के माध्यम से उन्हें प्रसन्न रखने के लिए विविध प्रकार के अनुष्ठान चलाते हैं।

असम की आदिमजातियों में मरणोपरांत व्यक्ति की आत्मा कहाँ जाती है इस सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट प्रकार के विश्वास पाये जाते हैं। कुछ आदिम जातियों में स्वर्ग की कल्पना भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए आजो नागा लोगो का विश्वास है कि सदाचारी व्यक्तियों की आत्मायें मृत्यु के पश्चात् पूर्व दिशा की ओर जाती है तथा दुराचारियों की आत्मायें पश्चिम की ओर जाती है। अगामी नागाओं का विश्वास है कि केवल उही व्यक्तियों की आत्मायें स्वर्ग में जाती हैं जिन्होंने अपने जीवनकाल में कुछ विशेष भोजों का आयोजन किया है तथा अपवित्र भोज का आहार नहीं किया है। अन्य व्यक्तियों की आत्मायें स्वर्ग तक नहीं पहुँच पातीं और उन्हें फिर से सात बार जन्म लेना पड़ता है। लम्बन सभी नागा आदिमजातियों में मनुष्यों से कीड़े मकोड़ों के रूप में आत्माओं के प्रत्यावर्तन के विश्वास पाये जाते हैं। यह भी एक सामान्य धारणा पाई जाती है कि स्वर्ग तक पहुँचने के लिए आत्मा को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है तथा उसके जीवित सम्बन्धी

सौम्य ही उसे इन कठिनाईयों का सामना कर सकने में सहायक हो सकते हैं। सम्भवतः इसी कारणों के परिणामस्वरूप ही माया लोग मृतक की समाधि में एक जाला भी रखा देते हैं। हाफला लोगों का विश्वास है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा एक सम्बन्धकारी जीवन व्यतीत करने के लिए समृद्धि एवं सम्पन्नता के अवसर में पहुँच जाती है।

विश्वासों की विविधताओं एवं विषयताओं ने आदिम धर्म के विवरणों को अत्यन्त जटिल बना दिया है। धर्म के साथ साथ जादू का अत्यधिक महत्व आदिम धर्म की विशेषता है। जादू एवं धर्म आदिवासियों में आध्यात्मिकता के दो ऐसे स्वरूप पाये जाते हैं जिन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से दोनों एक दूसरे से भिन्न मान्यताओं पर आधारित होते हैं। धर्म एवं जादू दोनों का सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत में स्थित काल्पनिक शक्तियों से होता है किन्तु इन शक्तियों के प्रति सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण ही उन्हें जादू अथवा धर्म की श्रेणी में ला देता है। विश्वासों पर आधारित आध्यात्मिक मनुष्य जब स्वयं को इन शक्तियों के आधीन समझते हुये चिन्तता एवं समर्पण की भावना से अपने व्यवहार प्रदर्शित करता है तो उसके वे व्यवहार धर्म को जन्म देते हैं। किन्तु जब वह स्वयं को इन शक्तियों से अधिक सक्रम समझते हुये अपने स्वार्थों के अनुकूल उनका संचालन, निर्देशन एवं नियन्त्रण करने का प्रयास करता है तो उसके वे व्यवहार जादू की श्रेणी में आते हैं। उपासना, आराधना आदि मनुष्य के द्वारा निस्वार्थ भावना से किये गये ऐसे व्यवहार होते हैं जो कि सर्वशक्तिमान आध्यात्मिक शक्तियों के प्रति उसका समर्पण परिलक्षित करते हैं। इस समर्पण की पृष्ठभूमि में इच्छित लक्ष्यों की पूर्ति की आशा एवं आराध्य शक्तियों में विश्वास ही उसके इन व्यवहारों को सार्थक बनाते हैं। किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत जब मनुष्य अपने को आध्यात्मिक शक्तियों का नियन्त्रक एवं निर्देशक मानते हुये तन्त्र के सहारे उन्हें अपने उद्देश्य पूर्ति का साधन बना लेता है तो उसके ये व्यवहार जादू को जन्म देते हैं। ये शक्तियाँ अक्षरीय होती हैं तथा यन्त्रबत कार्य करती हैं। व्यक्तिगत विहीन एवं यन्त्रात्मक होने के कारण इनके प्रभाव शुभ एवं अशुभ, कल्याणकारी एवं विनाशकारी दोनों ही प्रकार के होते हैं। इन्हें मनुष्य विविध अनुष्ठानों एवं कुछ जंत्रों के सहारे अपनी इच्छानुसार निर्देशित कर सकता है। जादू के क्षेत्र में मनुष्य की आत्मिक प्रवृत्ति 'सबल होती' है तथा आध्यात्मिक जगत के समस्त ब्रह्म अपने को एक सक्रम निर्देशक के रूप में प्रस्तुत करता है जहाँ सफलता की उसे आशा ही नहीं होती बल्कि उसे वह सुनिश्चित मानकर

चलता है। आदिवासियों के आध्यात्मिक जीवन में इन दोनों प्रकार के व्यवहारों का तत्काल ही उनकी आध्यात्मिकता की विशेषता है।

जादू सदैव उद्देश्यपूर्ण व्यवहारों का परिणाम होता है, अतः उद्देश्यों के स्वभाव पर ही जादू का प्रकारान्तर किया जा सकता है। अनेक आदिवासी जातियों में फसल बोने के पूर्व कुछ क्रियाएँ की जाती हैं। संझो एवं इन क्रियाओं के माध्यम से उन शक्तियों का आवाहन किया जाता है जिन्हें अधिक उपज से सम्बन्धित मानते हैं। ऐसे जादू उत्पादन बुद्धि से सम्बन्धित होने के कारण उत्पादक जादू कहे जाते हैं। कृषि कार्य मछली पकड़ने का कार्य और शिकार आदि में एक प्रकार की अनिश्चितता की भावना सदैव बनी रहती है तथा सफलता के लिए संघर्ष करना पड़ता है अतः शिकार जबवा मत्स्य अधिमान पर जाने से पूर्व किसी प्रकार के जादू का आयोजन आदिवासियों में एक सामान्य सी बात पाई जाती है। इसी प्रकार जीवन के विविध संघर्षों में सुरक्षा का प्रश्न भी उनकी जीवन परिस्थितियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। वे अपने पड़ोसियों से सम्पर्क स्थापित करने में इसलिए हिचकते हैं कि कहीं उनका जादू उन्हें सकटग्रस्त परिस्थितियों में न डाल दे। अतः इस आशंका के निवारण के लिए वे जादू का सहारा लेते हैं। बीमारी से छुटकारा पाने के लिए भी वे जादू का ही प्रयोग करते हैं। यद्यपि अपने जंगलों में प्राप्त जड़ी बूटियों आदि की उपयोगिता की जानकारी इन्हें कहीं अधिक है फिर भी विश्वासों का जगत वास्तविक अनुभव से कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली माना जाता है। किसी भी प्रकार की सुरक्षा के उद्देश्य से किये गये सभी जादू सुरक्षात्मक जादू के क्षेत्र में आते हैं। उत्तर प्रदेश के उत्तर में तराई क्षेत्र के निवासी थारू लोगो में भी जादू उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। थारू स्त्रियाँ जादू में प्रवीण एवं सिद्धहस्त समझी जाती हैं। जादू टोने आदि में उनकी कयाति इतनी अधिक है कि उनके पास पड़ोस के लोग थारू स्त्रियों के सम्पर्क में आते हिचकते हैं। जहाँ एक ओर कोरबा लोग अथवा लोगो से अपने को दूर रखने का प्रयत्न करते हैं वही थारू लोगो से अथवा लोग स्वयं दूर भागते हैं—यह एक अत्यन्त रोचक तथ्य है।

आदिम समाजों में अपने पड़ोसियों एवं सभी प्रकार के डीकू (बाह्य तत्त्वों), नाना प्रकार के विषय बाधाओं एवं भविष्य की आशंकाओं आदि से अपने को सुरक्षित रखने में जादू ही एक मात्र आश्रय होता है। छत्तीसगढ़ के खडिया बाहर से आये हुये किसी व्यक्ति को बलिदान किये हुये भुयों के रक्त की एक बूंद को पत्ते पर रख कर चाटे बिना घर में नहीं घुसने देते।

उन्हें यह आशाएँ बनी रहती हैं कि बाहरी लोगों के सम्पर्क में आकर वे अपवित्रता एवं अर्थों के जादू के प्रभाव अपने साथ लाते हैं अतः घर में कुत्ते से पहले इस प्रकार किये गये जादू से धुंधल हो जाने के उपरान्त यह आशका समाप्त हो जाती है। इसी आधार पर अविकसित आदिवासी बाहरी व्यक्तियों से सम्पर्क निषेधित करती हैं। इस प्रकार जादू का सहारा लेकर आदिवासी समुदाय असुरक्षा के सभी सम्भावित स्रोतों को प्रभावहीन करके सुरक्षित एवं निर्विघ्न जीवन व्यतीत करने की मनोकामना एवं आत्मविश्वास लेकर जीवन के असीम सघर्षों से बूझने के लिए प्रस्तुत रहता है। विपदायें, अकाल, अति वर्षण, महामारी आदि सभी प्रकार की बाधाएँ आती जाती रहती हैं किन्तु उनका आत्मविश्वास एवं आने वाले कल के प्रति आशाएँ बनी रहती हैं जो उनसे जीवन के प्रति मोह एवं सघर्ष के लिए साहस प्रदान करती रहती हैं।

आदिम समुदायों की तार्किक क्षमता का परिचय कुछ अन्य प्रकार के जादू दोनों से भी मिलता है। छोटा नागपुर के ओराँव एवं मुडा में बिजली की कड़कडाहट की आवाज को वर्षा का प्रतीक एवं कारण माना जाता है। अतः अवर्षण से आने वाले अकाल की विभीषिका से डरे हुये मुडा लोग पहाड़ियों पर चढ़ कर पत्थर लुढ़काने लगते हैं। विधिवत एक मुर्गी अथवा सुअर का बलिदान करने के बाद यह कार्य प्रारम्भ करते हैं। उनका विश्वास है कि पत्थर लुढ़काने से बिजली की कड़कडाहट के समान ही आवाज उत्पन्न होने के कारण वर्षा होगी। इसी प्रकार छोटा नागपुर की ही हो आदिमजाति के लोग अवर्षण के समय चारों ओर बास फूस, लकड़ी पत्तों आदि को सुलगा कर धूम्रपान उत्पन्न कर देते हैं जो कि ऊपर उठकर बादलों की भाँति आकाश में फैल जाता है। वे आशा करते हैं कि वर्षा के समय इसी प्रकार से आकाश मेघाच्छादित होता है अतः वर्षा होगी। समान परिस्थितियाँ और समान कारक समान परिणामों को जन्म देते हैं यही वह तार्किक आधार है जिस पर उनके ये व्यवहार आधारित होते हैं।

व्यक्तियों को प्रभावित करने के लिए उनके सम्पर्क में आई वस्तुओं आदि पर ही जादू की किया करके उन्हें प्रभावित किया जा सकता है। पहनने के कपड़े, केस, नाखून आदि सभी जादू की किया के द्वारा प्रभावित किये जा सकते हैं और यह मान लिया जाता है कि ये प्रभाव उनके संसर्ग में आये व्यक्ति को प्रभावित करेंगे। आदिम तार्किक बुद्धि यह मान कर चलती है कि एक बार व्यक्ति को संसर्ग में आने के उपरान्त उससे अलग होने पर भी वस्तुओं को सम्पर्कविहीन नहीं संभला जा सकता। एक बार सम्पर्क स्थापित

हो जाने पर परोक्ष रूप से यह सम्पर्क सदैव बना रहता है। फेजर के अनुसार इन्हीं निराधार तर्कों पर आधारित मान्यतायें इस प्रकार के जादू को जन्म देती हैं। प्रथम प्रकार के तर्क पर आधारित जादू को फेजर ने होमियोपैथिक अथवा अनुकरणात्मक जादू कहा है तथा दूसरे प्रकार के तर्क पर आधारित जादू को स्पर्श या ससर्ज से सम्बन्धित होने के कारण सन्ध्यात्मक जादू कहा है। इन दोनों प्रकार के जादूओं को फेजर ने सम्मिलित रूप से सहानुभूति जादू कहा है।

मैलिनोस्की ने जादू के उद्देश्य के आधार पर दो प्रमुख प्रकार के जादू अर्थात् सफेद एवं काला जादू की चर्चा की है। कल्याणकारी एवं सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किये गये सभी जादू सफेद जादू की श्रेणी में आते हैं जबकि विनाशकारी सदिश एवं असामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये गये जादू को काला जादू कहा जाता है। काले जादू का प्रयोग बहुधा शत्रुता एवं बदला लाने की भावना से किया जाता है। मैलिनोस्की ने टोना टोटका तथा भूत प्रेतों की सिद्धि आदि को भी काल जादू में ही सम्मिलित किया है।

सभ्य समाजों में प्रचलित धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों के सन्दर्भ में आदिम धर्म का मूल्यांकन करना ही उसे समझने में सबसे बड़ी कठिनाई है। प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में धर्म का स्वरूप उन परिस्थितियों से निर्धारित होता है जिन परिस्थितियों में वे लोग रहते हैं। धर्म मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं की उपज है तथा इसे कल्पना एवं वास्तविक अनुभवों की अंतरक्रिया का परिणाम माना जा सकता है। आदिवासियों के पर्यावरण एवं उनके अनुभवों के सीमित दायरे उनके विश्वासों के स्वरूप एवं अनुष्ठानों के विधान निर्धारित करते हैं। हम सभ्य संस्कृतियों के लोग उन दायरों को तोड़ चुके हैं तथा हमारे अनुभवों का क्षेत्र अधिक व्यापक एवं कल्पनायें अधिक विस्तृत हो चुकी हैं। यही वे सन्दर्भ हैं जो कि आदिवासियों के धर्म को एक विशिष्ट श्रेणी प्रदान करते हैं। तार्किक बुद्धि के विकास एवं दार्शनिकता के प्रभाव ने सभ्य समाजों के धर्मों को जादू के जगल से मुक्त किया। आदिवासी धर्म जादू एवं धर्म के मिश्रित रूप में एक विशिष्ट प्रकार के विश्वासों का जगत प्रस्तुत करता है जहाँ व्यक्ति एक ओर आध्यात्मिक शक्तियों की आराधना करता है, स्वयं को उनके आधीन मानता है तथा दूसरी ओर कुछ अन्य आध्यात्मिक शक्तियों को नियन्त्रित करके उन्हें अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। धर्म और जादू का एक दूसरे से अलग विपरीत प्रकार की प्रवृत्तियों के रूप में विश्लेषण सभ्य समाजों में प्रचलित धर्म में ही सम्भव है।

आधुनिक राज्य संस्कृतियों में अनिष्ट की कल्पना आध्यात्मिक मान्य-  
ताओं से जुड़ी हुई नहीं पाई जाती। आध्यात्मिकता कुछ एवं कल्पनाकारी ही  
मानी जाती है। कुछ का अभाव ही अनिष्टकर हो सकता है। परन्तु आदिम  
धर्म में आध्यात्मिक मान्यताओं के बोधरे स्वल्प पाये जाते हैं। शुभ एवं अशुभ  
आध्यात्मिकता के दो पक्ष भगने जाते हैं। शुभ का आवाहन एवं अनिष्ट से  
मुक्ति ही आदिम धार्मिकता का आधार है। आध्यात्मिकता के इन दोहों  
स्वल्पों का तालमेल आदिम धर्म की एक प्रमुख विशेषता है। भारतीय आदि  
वासियों में सबियों से हिन्दुओं के सम्पर्क के प्रभावों ने उनके धर्म को एक  
निश्चित दिशा प्रदान की है यद्यपि उनके धर्म का व्यावहारिक पक्ष उतना  
प्रभावित नहीं हो सका तथापि विचारों एवं निष्ठाओं के क्षेत्र में ये प्रभाव  
अधिक सक्रिय हुये हैं। उनके ज्ञान पान एवं नीतिकता के आदर्शों पर हिन्दु  
विचारधारा के व्यापक प्रभाव पड़े हैं फिर भी अधिकतर आदिवासी संस्कृतियों  
ने उनकी धार्मिक विशिष्टताएँ आज भी बिज्जमान हैं।

## आदिवासी समस्याएँ एवं कल्याण

प्रत्येक स्तर के जीवन की अपनी कुछ समस्याएँ होती हैं। आधुनिक सम्य मानव ने जहाँ एक ओर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा से निरंतर तकनीकी प्रगति करते हुये अपनी अनेक समस्याओं का समाधान किया है वही अपने इन्हीं प्रयासों से उसने अनेक समस्याओं को भी जन्म दिया है। स्वतः जनित समस्याओं का कुछ ही मुख्यतः आज के सम्य जीवन का अभिशाप बनता जा रहा है। इसके साथ ही साथ आदिवासियों की अधिकांश समस्याएँ भी सम्य समाजों की ही देन हैं। इस अध्याय में हमने भारतीय आदिवासी जीवन की प्रमुख समस्याओं की चर्चा करते हुये इस सन्दर्भ में समय समय पर किये गये कल्याणकारी कार्यों की समीक्षा भी की है।

मिथुने जगन्नाथ में आदिवासी आंदोलनों एवं क्रान्तियों के संदर्भ में हमने उनकी दृष्टिकोण में विहित कारणों की चर्चा की है। हमारा यह दृष्टिकोण रहा है कि किसी भी आंदोलन अथवा क्रान्ति की प्रकृति में कुछ ऐसे बल कारण होते हैं जो असंतोष को जन्म देते हैं। सर्व्वे किसी न किसी रूप में व्याप्त असंतोष ने ही आदिवासी जनजीवन को आदीकृत किया। वास्तव में आदिवासियों का जीवन दर्शन अपने के एक विशिष्ट कोटि का जीवन दर्शन है जिसमें असंतोष का कोई स्थान नहीं होता। अत्यन्त अभावग्रस्त अवस्थाएँ तथा कठोरतम सचर्चा उनके जीवन का एक अंग बन जाते हैं जिनसे अपने सामाजिक मूल्यों, आस्थाओं एवं विश्वासों के सहारे समायोजन करना उनके जीवन का एक दृष्टिकोण बन जाता है। आदिवासियों की भी आकांक्षाएँ होती हैं, उनमें भी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं मानव स्वभाव जनित सभी प्रकार के संवेग होते हैं जो समय समय पर वैमनस्य, सचर्चा आदि को जन्म देते हैं। परन्तु इन सबके होते हुए भी जीवन के प्रति उपेक्षा अथवा उदास होने वाला मानसिक उत्पीड़न का स्तर नहीं जाने पाता जो कि आधुनिक सम्य समाजों के जीवन का एक अंग बन चुका है। आज हमारे देश में गरीबी संपूर्ण देश के जन-जीवन की एक प्रमुख समस्या है। परन्तु जिस गरीबी से हम सम्य समाज के लोग परिचित हैं उससे कहीं अधिक निम्नकोटि का जीवन स्तर असह्य आदिवासियों का सामान्य जीवन है। किंतु आर्थिक रूप से सम्य समाजों से विलग होने के कारण तथा आर्थिक रूप से अपनी संकुचित विश्व दृष्टि के तथा परंपराओं पर आश्रित होने के कारण वे अधिकांशतः अपने अतीत के प्रसंगों से जड़ित होते हैं। परिणामस्वरूप उनकी संस्कृतियों का एक विशिष्ट व्यक्तित्व उभर कर सामने आ जाता है और अक्सर उनमें व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से अन्य संस्कृतियों से भिन्न मान्यताएँ मनोवृत्तियाँ एवं प्रेरणाएँ जन्म लेती हैं। यही विशिष्टताएँ साधारणतया उनके समक्ष सामाजिक, आर्थिक एवं सामान्य सांस्कृतिक समायोजन सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं।

आदिवासी सदियों से निम्नतम स्तर का जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं और सामान्यतः उन्हें अपने इस जीवन से उपेक्षा नहीं होती। परन्तु जब उनका परिचय एवं संपर्क ऐसी व्यवस्थाओं से होता है जहाँ जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुविधापूर्ण हो, तब उनमें अपने जीवन के प्रति असंतोष व्याप्त होने लगता है। अथवा एक गरीब किंतु अपरिचित जीवन परिपाटी से परिचय होने पर उन्हें अपना अभावपूर्ण जीवन असह्य हो उठता है। नये विश्वासों



से परिचय होने पर उनके अपने परम्परागत विश्वास एवं आस्थाएँ विचल नहीं आती हैं। यही पर उनकी अनेक समस्याओं का जन्म होता है। इससे पूर्व की स्थिति में जो उनका सामाजिक जीवन था जिससे उन्हें संतोष था वही जीवन अबीन सदर्थों में असह्य हो उठता है तथा असंतोष एवं मानसिक उत्पीड़न को जन्म देता है।

अतः इसमें कोई सदेह नहीं कि हमारे देश के आदिवासियों के समक्ष अनेक समस्याएँ हैं परन्तु यह भी सत्य है कि उनकी अधिकांश समस्याओं के लिये हम सम्यक् समाज के लोग हो उत्तरदायी हैं। परम्पराओं ने उन्हें अभाव एवं प्रकृति से संघर्षों के मध्य जीना सिखाया है। भौतिक समृद्धि उनके जीवन का आकर्षण कभी भी नहीं रही है। अपनी सस्कृतियों पर उन्हें गर्व है। उनकी सस्कृतियों का अपना व्यक्तित्व होता है तथा प्रत्येक आदिवासी सस्कृति परिस्थितियों एवं जीवन की समस्याओं के मध्य एक विशिष्ट कोटि का अनुकूलन है। परिवर्तन प्रत्येक सस्कृति का एक स्वाभाविक लक्षण होता है, आदिवासी सस्कृतियाँ भी परिवर्तन के प्रति उदासीन नहीं होती। उनमें गत्यात्मकता है जिसके परिणामस्वरूप परिवर्तित परिवेशों में सतत रूप से परिवर्तित समस्याओं का समाधान करने में वे सक्षम होती हैं। फिर भी आदिवासियों की कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनके स्रोत उनके सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की परिधि से बाहर हैं। बाह्य सदर्थों से प्राप्त इन समस्याओं के समाधान करने में प्रायः उनकी सस्कृतियाँ असफल होती हैं। बाह्य सदर्थों में उत्पन्न कारक उनके सांस्कृतिक सन्तुलन को भंग कर देते हैं।

हमारे देश के आदिवासियों के निवास क्षेत्रों भौगोलिक पर्यावरण एवं सस्कृतियों में विभिन्नताओं के अनुरूप ही उनकी समस्याओं के भी विभिन्न स्वरूप हैं। सभी आदिवासियों की समस्याएँ एक समान नहीं हैं। धीरेन्द्र नाथ मजुमदार ने इसी दृष्टिकोण से आदिवासियों को तीन वर्गों की वर्गीकरण की है। एक तो वे आदिवासी जो कि अपने मूल निवास क्षेत्रों में अपेक्षाकृत एकातर रूप से रह रहे हैं तथा जिन पर सपकों के प्रभाव न्यूनतम हुये हैं। ऐसे आदिवासियों की संख्या अब बहुत कम रह गई है। विशेषकर दक्षिण भारत के घने जंगलों में बसने वाले कुछ आदिवासी तथा अडमान तथा निकोबार द्वीप समूह के कतिपय आदिवासी इस वर्ग में महत्वपूर्ण हैं।

दूसरे वर्ग में वे समुदाय आते हैं जिनका अथवा समुदायों से अत्यधिक संपर्क हुआ है और परिणामस्वरूप उनका सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ है। आवागमन के साधनों के प्रसार, औद्योगिकरण

एवं अन्य विभिन्न त्तरणों से अन्य विभिन्न समुदायों से उनके सम्पर्क हुये हैं और उनका जीवन प्रभावित हुआ है। परिणामस्वरूप उनके जीवन में कुछ विशिष्ट समस्याओं ने जन्म लिया है। प्रमुख रूप से बिहार एवं मध्य प्रदेश के आदिवासी समुदाय इस वर्ग में आते हैं। जिनके संघर्ष के कारण बिहार का औद्योगीकरण की दृष्टि पर है। आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना होती जा रही है। आदिवासी अधिक ही इन कुछ औद्योगिक संस्थानों के मेरुस्थल हैं। इन संस्थानों में सक्रिय व्यक्ति समूहों से राजनैतिक स्तर पर उन्हें संयुक्त किया है। आज बिहार के आदिवासियों की समस्याएँ प्रदेश की बहु-राजनीति का एक अंग बनती जा रही हैं। जहाँ इससे पूर्व वर्ग-द्वारों एवं महाजनो द्वारा भूमि अधहरण तथा मिशनरियों द्वारा सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप उनकी प्रमुख समस्याएँ थीं, जिन्होंने इस अतापी के पूर्वार्ध में आंदोलनों एवं क्रान्तियों को प्रेरित किया, वहाँ आज बढ़ते हुये औद्योगीकरण के तदर्थ में उनकी समस्याओं ने केवल एक नया रूप ही नहीं ग्रहण किया अपितु उनमें वृद्धि भी हुई है। इस प्रकार विभिन्न आचारों पर बाह्य तत्वों से संपर्क एवं उनके द्वारा आर्थिक शोषण ही इस वर्ग में सम्मिलित किये जाने वाले आदिवासियों की प्रमुख समस्याएँ हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न राजनैतिक तत्वों ने इन परिस्थितियों का लाभ भी उठाया है। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये इन तत्वों ने उनमें परस्पर बैधन्यता को जन्म दिया है।

तीसरे वर्ग में वे आदिवासी समुदाय आते हैं जो कि औद्योगिक क्षेत्रों के समीप उभरते नगरों एवं उपनगरों में प्रवासित हो चुके हैं। औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण उनके क्षेत्रों में परिवहन एवं संचार सुविधाओं में वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनों के मध्य में अपनी परम्पराओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं और उनका जीवन नवीन एवं पुरातन के संघर्ष में अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है।

समस्याओं के दृष्टिकोण से देश के उत्तर पूर्व एवं उत्तर पूर्वी सीमांत प्रदेश के आदिवासी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अन्य आदिवासी वर्गों की तुलना में यह वर्ग राजनैतिक अज्ञाति का केंद्र रहा है। ब्रिटिश प्रशासन के दीर्घकाल में यह क्षेत्र ईसाई मिशनरियों का प्रमुख क्षेत्र रहा है। मिशनरियों के सहायनीय सेवा कार्यों ने इस क्षेत्र के आदिवासियों में शिक्षा का अत्यधिक प्रसार किया। परन्तु अखिर में प्रशिक्षित एवं अपने संस्था-

यह सांस्कृतिक आधारों से विमुख इन आदिवासियों में वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता की बेतथा अर्थशिक क्राई जाती है। किसी भी रूप में वाह्य हस्तक्षेप इन्हें असह्य हो जाता है। परिणामस्वरूप निरन्तर पार-स्परिक द्वन्द्व एवं संघर्ष उनके जीवन की साधारण स्थिति बन चुकी है। यही इनकी समस्या है और इसी समस्या अर्थात् अपने स्वतन्त्र राजनैतिक अस्तित्व के लिये वे आज भी संघर्षरत हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनकी इस समस्या का उद्गम उनकी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति में है जिसके निर्माण में मिशनरियों का ही योगदान अधिक रहा है। देश के उत्तरी पूर्वी सीमाओं के निवासी होने के कारण अन्य आदिवासियों की तुलना में इनका राजनैतिक महत्व अधिक हो जाता है और इस संपूर्ण क्षेत्र में विदेशी मिशनरी इस महत्व को ध्यान में रखते हुये सक्रिय रहे हैं। अपने प्रभाव में आये हुये आदिवासियों में इस दूषित मनोबल का प्रसार उन्हीं के निरन्तर प्रयासों का परिणाम है। यह मनोबल जहाँ एक ओर आदिवासियों के लिये एक समस्या बन गई है वहीं देश की सरकार के लिये भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा ही इन आदिवासियों की एक प्रमुख समस्या है।

### आदिवासी समस्याओं के विभिन्न रूप

उपर्युक्त विवरण में हमने आदिवासियों की समस्याओं के ऐतिहासिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुये समस्याओं के विभिन्न दृष्टिकोणों की चर्चा की है। विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासियों की अनेक व्यक्तिगत समस्याएँ भी हैं जिन्हें किसी सामान्य विवेचना की सीमाओं में नहीं समाया जा सकता। फिर भी यदि हम देश के आदिवासी समुदायों पर अन्य सम्य कहे जाने वाले समुदायों से अलग विचार करें तो इन समुदायों की कुछ सामान्य समस्याएँ हमारे सामने आती हैं जिनकी विवेचना तथा जिनका वैज्ञानिक अध्ययन उनके समाधान के प्रयासों की किसी योजना के लिये महत्वपूर्ण है। मानववैज्ञानिकों ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के आधार पर इन समस्याओं को सामान्य वर्गों में वर्गीकृत करने की चेष्टा की है। अधिकांश मानववैज्ञानिकों के अनुसार हम इन समस्याओं के तीन प्रमुख वर्गों की चर्चा कर सकते हैं। एक तो वे समस्याएँ जो केवल आदिवासी समुदायों की ही समस्याएँ हैं तथा अन्य समुदायों के अन्दर नहीं पाई जाती। दूसरी वे समस्याएँ जिनका जन्म आदिवासी समुदायों में ब्रिटिश प्रशासन की कानून एवं

भूमि व्यवस्थाओं के परिवर्तन सम्भव हुआ। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा आरोपित कानून एवं भूमि व्यवस्था स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी अमरब रही, यद्यपि वे समस्याएँ जल्द ही किसी सीमा तक कमजोर होती स्वरूप में विकसित हुई। तीसरे वर्ग में वे जटिलताय समस्याएँ आती हैं जो राज्य संपर्कों के प्रभावों से उत्पन्न हुई हैं। इन संपर्कों के परिणामस्वरूप वहाँ एक ओर कुछ आदिमजातियों में नई प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ जिनके कुप्रभावों से वे पीड़ित हैं, वहीं दूसरी ओर उनके सांस्कृतिक जीवन का पतन भी हुआ है। वहाँ तक कि कहीं कहीं उनके आदिमजातीय सामाजिक स्वरूप से आधुन परिवर्तन हो चुके हैं और उनका सामाजिक समूह एक नवीन पद्धति पर संघटित हो चुका है।

एक अन्य दृष्टिकोण से कुछ मानववैज्ञानिकों ने आदिवासी समस्याओं का वर्गीकरण इस प्रकार से किया है—

- 1—व्यक्तिगत समस्याएँ
- 2—राष्ट्र संपर्क से उत्पन्न समस्याएँ
- 3—औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याएँ
- 4—मिसनरी गतिविधियों से उत्पन्न समस्याएँ

इन दोनों वर्गीकरणों पर विचार करने पर हम एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं जिसके आधार पर ये समस्याएँ निम्नलिखित हो सकती हैं—

1—समायोजन की समस्याएँ—जिनका जन्म (अ) राष्ट्र संपर्कों, (ब) मिसनरी गतिविधियों के परिणामस्वरूप तथा (स) औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप हुआ है।

2—सांस्कृतिक-व्यक्तित्व से सम्बन्धित समस्याएँ जिनका जन्म प्रधानतः (अ) परस्परसांस्कृतिकता की विभिन्न अवस्थाओं (ब) राजकीय कल्याणकारी कार्यक्रमों एवं सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रसार तथा (स) राजनीतिक कारणों से हुआ।

### समायोजन की समस्याएँ

राष्ट्र संपर्कों के प्रभावों के कारण जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ब्रिटिश सरकार के समय में आदिवासी क्षेत्रों में भी राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना के उद्देश्य से आबासजन के साधनों का विकास हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप धीरे धीरे राष्ट्र संस्कृतियों के बीच अपने-अपने स्थायी तन्त्र पूर्ति के लिए इन

खेतों में जाकर बसने लगे । ब्रिटिश शासन काल के पूर्व भी किन्हीं खेतों में आदिवासियों के सम्पर्क अन्य संस्कृतियों के लोगों से होते रहे किन्तु वे सम्पर्क अधिकांशतः अल्पकालिक थे तथा उनके सांवायिक सांस्कृतिक जीवन पर इन सम्पर्कों के कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़े । इन संस्कृतियों के प्रभावों से आदिवासियों में कुछ व्यक्तिगत समस्याओं का जन्म भी हुआ । उदाहरण के लिये अधिकांश आदिवासी बहुत ही कम वस्त्रों का प्रयोग करते थे । सम्म समाज के वस्त्रों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अधिक परिमाण में वस्त्रों का प्रयोग करके पूरे शरीर को वस्त्रों से ढकना शुरू कर दिया । किन्तु वस्त्रों के प्रयोग से सम्बन्धित स्वच्छता की आवश्यकताओं की पूर्ति वे नहीं कर सकते थे । सीमित साधन एवं अज्ञानता दोनों ही कारण बाधक थे । परिणामस्वरूप जैसे कुर्बिले वस्त्रों का निरन्तर प्रयोग करते रहने से वे नाना प्रकार के चर्म रोगों से रोग ग्रस्त होने लगे । कहीं कहीं इस समस्या ने भीषण रूप भी धारण कर लिया । इस अपरिचित रोगों का कोई निदान भी उनके पास नहीं था । इसी प्रकार से अधिकांश आदिवासी जंगलों पर सदैव अपना एकाधिकार समझते रहे हैं । उनके आर्थिक जीवन का आधार उनके जंगल ही थे । इन्हीं जंगलों को काट कर एवं जलाकर परंपरागत विधि से खेती करते थे । किन्तु ब्रिटिश प्रशासन ने वन सम्पदा से आर्थिक लाभ उठाने के दृष्टिकोण से अधिकांश वनों के विस्तृत क्षेत्रों को आरक्षित घोषित कर दिया तथा इन क्षेत्रों में आदिवासियों का प्रवेश निषेधित कर दिया । उनके परम्परागत रूप से खेती करने पर रोक लगा दी । इसमें सन्देह नहीं कि उनकी खेती करने की यह विधि अत्यन्त अलामकारी थी तथा अन्य अनेक दृष्टिकोणों में हानिकारक थी परन्तु इन प्रतिबंधों को लगाने के साथ उन्हें कोई विकल्प नहीं प्रदान किया गया तथा उन्हें विषम आर्थिक कठिनाइयों से संचार करने के लिये छोड़ दिया गया । मिर्जापुर तथा बिहार के कोरवा तथा कुछ अन्य आदिवासियों में परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई तथा तीव्रगति से उनकी सख्या कम होने लगी । साथ ही वन विभाग के नियमों का उलघन करने की दशा में दण्ड का भी विधान था । अतः जिस जीवन पद्धति से वे सदियों से रहते चले आ रहे थे वही जीवन पद्धति उनके लिए दण्ड का कारण बनने लगी थी । साथ ही वन सम्पदा के एकत्रित करने का कार्य ठेकेदारों को सौंपा गया । इन ठेकेदारों ने सस्ते मूल्य पर तथा आवश्यकता पड़ने पर जबर्दस्ती उनके वन का प्रयोग किया और अनेक प्रकार से उनका आर्थिक शोषण किया । यह क्रम निरन्तर चलता रहा तथा ब्रिटिश सरकार ने कभी भी उनकी इन समस्याओं के निवारण की ओर ध्यान

नहीं दिया। एलबिम ने सैना आदिवासी पर अपनी कुस्तक के माध्यम से प्रसारण का प्रयत्न उनकी आर्थिक कठिनाइयों तथा बाह्य तत्त्वों के द्वारा उनके जीवन को प्रभावित करने की ओर आकर्षित किया, किन्तु उसका कोई विशेष लाभ न हो सका।

सम्पर्कों के परिणामस्वरूप भाषा की समस्या एक अन्य व्यक्तिगत समस्या थी, जिसने आदिवासियों के समक्ष अनेक कठिनाइयों की जन्म दिया। सभी आदिवासियों की अपनी एक भाषा होती है, जो कि सम्पर्क से आने वाले सम्य समुदायों की भाषाओं से भिन्न है। किन्तु दैनिक जीवन के व्यवहारों की आवश्यकताओं के कारण उन्हें सम्पर्क से आने इन सम्य वर्गों की भाषाओं की भी सीखना पड़ा। ईसाई मिशनरियों ने अपने धार्मिक विचारों के प्रचार की सुविधा की दृष्टि से आदिवासियों की ही भाषा को रोमन लिपि से व्यक्त करके उसे प्रचार का माध्यम बनाया। अतः मिशनरियों के सम्पर्कों से उनमें रोमन लिपि का भी प्रसार हुआ। साथ ही अन्य लोगों के सम्पर्कों को कायम रखने के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग भी आवश्यक हो गया। इनके कारण आदिवासियों पर एक प्रकार का अनावश्यक भार पड़ा। साथ ही आदिवासियों में शिक्षा प्रसार के कार्यक्रमों में भी बाधा उत्पन्न हुई। शिक्षा में भाषा एवं लिपि दोनों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। लिपिहीन भाषा की सीमाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय एकता के दृष्टिकोण से भी लिपि का चयन एक महत्वपूर्ण पक्ष है। सम्पर्कों के प्रभाव से जाकर भाषाओं की विचमता ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय एकता को अवरोधित किया है वहाँ दूसरी ओर आदिवासियों ने शिक्षा प्रसार के कार्य में बाधा उत्पन्न की है। किन्हीं आदिवासीयों ने तो सम्पर्कों के प्रभाव से अपनी मूल भाषा ही खो दी है और जब वे पूर्णरूप से अपने पड़ोसी सम्य समूहों की भाषा अपना चुके हैं।

ब्रिटिश प्रशासन द्वारा लादी गई प्रशासनिक व्यवस्था भी आदिवासियों की एक प्रमुख समस्या रही है। प्रशासन तन्त्र के आधार पुलिस न्यायालय एवं अन्य विभागों से सम्बन्धित अधिकारी वगैरे ने उसके प्रति सर्वत्र, अमानवीय दृष्टिकोण ही अपनाया तथा अनेक प्रकार से उसका शोषण किया। आदिवासियों की अपनी राजनैतिक व्यवस्था का अवमूल्यन हुआ तथा नये कानूनों के अन्तर्गत एवं उनसे अव्यक्तक अनुसूचन न कर देने के कारण उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मृदा तथा सम्पत्ति आदिवासियों ने हुई महत्त्व जनकामित्वों की पृष्ठभूमि से अनेक कारणों के साथ साथ यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रशासनिक

संस्कृतियों में अन्तर्गत अवस्था माना है फिर भी हमारी प्रज्ञासन प्रणाली अप्रत्यक्ष विधिमान प्रज्ञासन प्रणाली के ही अनुरूप होने के कारण आदिवासियों की अधिकतर समस्याएँ आज भी वैसी की वैसी ही बनी हुई हैं। आदिवासी क्षेत्रों के प्रज्ञासन में उनके परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना करने के कारण प्रज्ञासन कल्याणकारी भावना के विपरीत रहा है। साथ ही इस विषमता के कारण आदिवासियों का अपना सामाजिक नियंत्रण खीन हुआ है। समय समय पर कतिपय क्षेत्रों में प्रज्ञासनिक अमानुषिकता के विरुद्ध विद्रोह भी हुए हैं। अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के पिछले पच्चीस वर्षों में यद्यपि ऐसे बहुत से प्रज्ञासनिक नियंत्रण लगाये गये हैं, जिनसे सम्पन्न वर्गों द्वारा आदिवासियों का शोषण समाप्त किया जा सके, तथापि प्रज्ञासनिक नियंत्रणों के परिणामस्वरूप शोषण के अन्य माध्यमों का जन्म हुआ है। यहाँ तक कि आज यह समस्या केवल आदिवासियों तथा अन्य वर्गों के बीच की ही नहीं रह गई है बल्कि एक क्षेत्र की छोटी आदिमजातियों के शोषण उसी क्षेत्र की प्रभावशाली आदिमजातियों द्वारा किया जाने लगा है।

### आदिवासियों पर हिन्दू संस्कृति के प्रभाव

राष्ट्र सम्पर्कों के प्रभावों में आदिवासियों पर हिन्दू संस्कृति के प्रभावों का महत्वपूर्ण स्थान है। आदिवासियों के चारों ओर बसे हुए अन्य वर्गों में हिन्दू लोग ही बहुसंख्यक थे। अतः अन्य वर्गों के सम्पर्क में आने पर हिन्दुओं का सांस्कृतिक जीवन उनकी दृष्टि में सर्वाधिक प्रतिष्ठापूर्ण रहा है। इसीलिए हिन्दुओं के सांस्कृतिक मूल्य तथा उनके नैतिक मानदण्ड आदिवासियों के आदर्श बन गये। सम्पर्कों के परिणामस्वरूप आदिमजातीय समाजों एवं हिन्दू समाजों के मध्य अन्तरक्रिया के विभिन्न प्रभाव हुए हैं। कभी कभी इस अन्तरक्रिया के परिणामस्वरूप दोनों वर्गों में समायोजन में बढ़ि हुई तथा दोनों की सांस्कृतिक विषमताओं में कमी हुई। इस प्रकार का सांस्कृतिक समन्वयीकरण प्रायः एक दोहरी प्रक्रिया का परिणाम रहा है जिसमें एक ओर तो आदिमजातीय सांस्कृतिक जीवन का हिन्दूकरण हुआ तथा दूसरी ओर स्थायी हिन्दू समाजों में आदिवासी जीवन संस्कृति की छाप पड़ी। इस प्रकार के परसंस्कृतीकरण में 'स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था' के स्तरों की श्रृंखला एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है, क्योंकि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का ढांचा जाति-व्यवस्था के रूप में एक स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करता रहा है। किन्तु सांस्कृतिक समन्वयीकरण की प्रक्रिया में अवरोध या

ये सांस्कृतिक अछूतता के कारण होती हैं जबकि प्रभावकारी वर्गों के द्वारा इसके अन्वेषण पर आदिवासियों के कारण होता है। कुछ सांस्कृतिक विद्वानों के मत हो जाने के कारण ही ऐसा सम्भव है कि सम्बन्धित आदिवासियों को अपने पड़ोसी हिन्दुओं की जाति व्यवस्था में कोई स्थान न भी मिले। सांस्कृतिक आधार पर प्रतिष्ठा की भावना से प्रेरित होकर आदिवासी अपने को हिन्दू सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के निकट जाने का प्रयास करते हैं और अपने इस प्रयासों में हिन्दू जाति व्यवस्था में लिप्ततम स्थान भी पा लेने पर अपने उद्देश्य की पूर्ति समझते हैं। हिन्दू सांस्कृतिक जीवन को अपना कर, बहुसंख्यक समुदाय में प्रविष्ट होने की इच्छा उनमें सदैव बनी रही। इस प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए उन्होंने अपनी उन सभी सांस्कृतिक परम्पराओं को त्यागना शुरू किया जो हिन्दू नैतिक आदर्शों के प्रतिकूल थी। उदाहरण के लिए मद्यपान, मांसाहार, मुर्गी तथा सुअर पालने आदि की परम्पराओं को त्यागना शुरू किया। परीक्षा रूप से उन्होंने हिन्दू विश्वासों, देवी-देवताओं की पूजा एवं उनके पर्वों में अपनी भावना रखना शुरू किया। कुछ क्षेत्रों में आदिवासियों ने हिन्दू जाति व्यवस्था से मिलता-जुलता एक सामाजिक स्तरीकरण भी विकसित कर लिया। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर दोनों की सांस्कृतिक दूरी में कमी आई वहीं आदिवासियों के लिए हिन्दू जाति व्यवस्था में प्रवेश भी एक सरल कार्य बन गया। यहाँ तक कि किन्हीं क्षेत्रों में आदिवासी समुदायों का पूर्णरूप से हिन्दू समाज में विलयन हो गया। चुरवे ने सप्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करते हुए यहाँ तक कहा है कि हिन्दू संस्कृति के प्रभाव में कुछ आदिवासीयों का निजी सामाजिक सांस्कृतिक अस्तित्व ही समाप्त हो चुका है। किन्तु क्षेत्रों में यह प्रभाव किस सीमा तक पड़ा है यह बहुत कुछ उस क्षेत्र में सम्बन्धित आदिवासीयों की प्रतिष्ठा तथा उनकी क्षमताओं पर निर्भर रहा है। सम्बन्धित क्षेत्रों में पिछले दशक में (1964) मुंडा तथा ओराँव आदिवासीयों पर हिन्दू प्रभावों की विवेचना करते हुये बताया है कि दोषे आदिवासीयों में 'भगत-इधर उधर झूठे वाले सत्यासियों-एवं जमींदारों के प्रभावों से हिन्दू देवी-देवताओं एवं धार्मिक विश्वासों का प्रवेश हुआ। रामनवमी तथा जगन्नाथपुरी के पर्वों पर बड़ी संख्या में आदिवासी एकत्रित होकर भंडा से नाच मते हैं। इन दोनों आदिवासीयों में 'ताना भगत' तथा बिष्णु भगत सम्प्रदाय के लोगों में हिन्दू धार्मिक व्यवहारों एवं नैतिकता के आदर्शों का अनुकरण करने में अतिशयोक्ति कर दी।

चुरवे ने भारतवर्ष में ऐसे आदिवासियों के एक बहुत बड़े वर्ग की



वर्चा की है, जिन पर आर्थिक रूप से हिन्दू संस्कृति के प्रभाव पड़े हैं और वे हिन्दुओं के सम्पर्क में आये हैं। समायोजन की समस्या के दृष्टिकोण से बड़ी वर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एलविन ने इस वर्ग के आदिवासियों पर अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है कि इन्हीं आदिवासियों पर ही हिन्दू संपर्कों के दुष्प्रभाव सर्वाधिक हुये हैं। जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म एवं नैतिकता के आदर्शों के प्रभाव के परिणामस्वरूप अपने विश्वासों आदि के प्रति उनकी आस्था में कमी आई तथा उनका मानसिक एवं नैतिक पतन हुआ वहीं दूसरी ओर बहुसंख्यक हिन्दुओं ने अत्यन्त श्रम एवं सघर्ष से प्राप्त उनकी कृषि योग्य भूमि पर धीरे धीरे अधिकार करके उनके समस्त आर्थिक कठिनाइयों उत्पन्न कर दी। आदिवासियों का खान पान, उनकी आर्थिक क्रियाएँ आदि चारों ओर के वातावरण में प्राप्त साधनों पर ही निर्भर करती हैं। हिन्दू आदर्शों के प्रभाव में आकर मासाहार मदिरापान सुअर एवं मुर्गी आदि पालने का कार्य समाप्त कर देने से तथा साथ ही साथ हिन्दुओं के द्वारा उनकी कृषि योग्य भूमि छीन ली जाने से इस वर्ग की अधिकांश आदिमजातियों के समक्ष एक विकट आर्थिक संकट उठ खड़ा हुआ। एलविन के मतानुसार इन परिणामों ने आदिवासियों में एक विचित्र प्रकार की परिस्थिति को जन्म दिया जिससे उनके मनोबल आत्मविश्वास और साहस में कमी आई। उन्होंने इस परिस्थिति को *Loss of nerve* से सम्बोधित किया है। एलविन के अनुसार आदिवासियों के हिन्दुओं से संपर्क के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज से उनके एकीकरण की दो प्रकार की अवस्थायें प्रायः दिखाई पड़ती हैं। एक प्रकार की अवस्था को उन्होंने वास्तविक एवं दूसरी प्रकार की अवस्था को आभासी कहा है। उनके मतानुसार अधिकांशतः यह एकीकरण आभासी ही होता है। कहीं कहीं पर जब वास्तविक एकीकरण हुआ है तो उसके परिणाम अच्छे हुये हैं। उससे आदिवासियों की आर्थिक प्रगति के साथ साथ उनका नैतिक उन्नयन भी हुआ है। किन्तु अधिकांशतः आदिवासियों एवं हिन्दुओं के संपर्कों से दोनों के मध्य सांस्कृतिक निकटता के द्वारा जो एक प्रकार का आभासी एकीकरण होता रहा है वहीं वास्तव में अनेक समस्याओं का कारण रहा है और उसी के परिणामस्वरूप उपर्युक्त वर्णित *Loss of nerve* की परिस्थिति उत्पन्न हुई। रायबहादुर शरत्चन्द्र राय ने मुंडा एवं ओराँव आदिवासियों में हिन्दू धर्म के प्रभावों की वर्णना करते हुये यह बताया है कि ऐसे संपर्कों के परिणाम सदैव अच्छे ही हुये हैं। विशेष रूप से मछलियों से मुक्ति का उल्लेख करते हुये उन्होंने इसे हिन्दू सांस्कृतिक प्रभावों का

उत्प्रेक्षणीय परिवर्तन असाध्य है। साथ ही साथ हिन्दू संपर्कों के परिवर्तनस्वरूप केवल आदिवासियों के समुन्नत वर्गों को ही लाभ नहीं हुआ, बल्कि अत्यन्त गरीब तथा निम्नवर्गों में भी जीवन की दशाओं एवं आर्थिक उन्नति की प्रकृति उत्पन्न हुई। सामाजिक स्तर पर हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में स्थान पाने का आकर्षण इस प्रकृति के लिये उत्तरदायी रहा है। हिन्दू संपर्कों के इस आभावादी पक्ष की अकहेजना नहीं की जा सकती। अग्रिकाण्ड आदिवासियों में उन्नतिशील हग से होती करने का प्रारम्भ आस पास के हिन्दुओं के अनुकरण से ही हुआ। इसी आधार पर कुछ विचारशील प्रशासकों ने समय समय पर यह मत व्यक्त किया कि आदिवासियों के आर्थिक पिछड़ेपन तथा उनके उन्नतिशील जीवन से सम्बन्धित उनकी समस्याओं के समाधान हिन्दू समाज में उनके विलयन से ही संभव है। सचाल आदिवासियों का उदाहरण उक्त कथन की पुष्टि करता है। यद्यपि हिन्दुओं से उनके सम्बन्ध सदैव घात एवं सुखिपूर्ण नहीं रहे हैं फिर भी अपने संपर्कों में हिन्दू संस्कृति से ही अधिकतर प्रभावित हुये हैं और इसके परिणामस्वरूप होती बाड़ी के क्षेत्र में उन्होंने अभूतपूर्ण उन्नति की।

हिन्दुओं से आदिवासियों के संपर्कों का इतिहास अत्यन्त रोचक रहा है। एक दृष्टि से हम हिन्दू संपर्कों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। एक श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जिनके हिन्दुओं से सम्बन्ध ब्रिटिश प्रशासन के पूर्व अच्छे नहीं रहे तथा बैमनस्यतापूर्ण थे। दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं जिनके मुखिया स्वयं हिन्दू संस्कृति, आचार विचारों एवं व्यवहारों से प्रभावित हुये तथा प्रारम्भ से हिन्दुओं के प्रति उनमें किसी प्रकार की बैमनस्यता की भावना नहीं रही। किन्तु कालांतर में ब्रिटिश प्रशासन की स्थापना के बाद नये नये प्रकार के अधिकारी, प्रशासक, जमींदार आदि वर्गों के बसने के बाद हिन्दुओं एवं आदिवासियों के स्थायों में विरोध उत्पन्न होने लगा, तथा कहीं कहीं पर यह विरोध अत्यन्त उग्र होकर क्रांति में परिणत हो गया। इन वर्गों ने उनके बीच बाँकर अपने स्वार्थों की प्रति हेतु उनके समक्ष अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न कर दी। उनकी भूमि पर से उनके अधिकार छिन जाने से आर्थिक कठिनाइयों के साथ ही साथ उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रभावित हुई और उनकी हैसियत क्षमिकों के समान हो गई। किन्तु इस परिस्थिति के बावजूद भी हिन्दू संस्कृति के प्रति उनका आकर्षण सम्बन्ध नहीं हुआ। सन् 1931 की जनगणना के अनुसार ओराँज आदिवासियों में 41 प्रतिशत को हिन्दू तथा 20 प्रतिशत को ईसाई बताया गया है। इसी

प्रकार सन् 1911 की जनगणना में 45 प्रतिशत खोंड आदिवासियों को हिन्दू कहा गया है। सन् 1931 की ही जनगणना में उत्तर प्रदेश, बिहार एवं उड़ीसा में स्थित अधिकांश गोड आदिवासियों को हिन्दू बताया गया है। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि हिन्दुओं से आदिवासियों के संपर्क से उन पर (आदिवासियों पर) बुरे प्रभाव पड़े हैं तथा अनेक आर्थिक एवं अन्य समस्याएँ उनके समक्ष आयी हैं फिर भी हिन्दू संस्कृति अधिकांशतः उनके आकर्षण का केन्द्र बनी रही। बुरे ने अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते हुये बताया है कि हिन्दुओं से संपर्कों के परिणामस्वरूप अधिकांशतः आदिवासियों की दशा में सुधार हुआ है। उनमें नये धर्म एक नये सांस्कृतिक जीवन शिक्षा आदि के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू जाति व्यवस्था में उच्च स्थान प्राप्त करने के प्रयासों में तथा कुछ अर्वाञ्छनीय तत्वों के स्वार्थपूर्ण व्यवहारों के कारण उनके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हैं किन्तु जीवन के प्रति एक नये दृष्टिकोण का जन्म अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस प्रकार से हिन्दू संपर्कों के परिणामस्वरूप परिस्थिति उतनी शोचनीय एवं निराशाजनक नहीं रही है जसकि एलविन ने अपने लेखों में व्यक्त किया है। वास्तव में भूमि अपहरण से सम्बन्धित आर्थिक कठिनाइयाँ ब्रिटिश भूमि व्यवस्था एवं राजस्व प्रणाली का परिणाम थी। इन कठिनाइयों को हिन्दू संपर्कों का परिणाम मानना उचित नहीं है। भूमि व्यवस्था एवं राजस्व की यह दोषपूर्ण प्रणाली कुछ इने गिने प्रशासकों की सन्तुष्टि पर लागू की गई थी। यद्यपि इस प्रणाली के दुष्परिणामों के प्रतिवेदन ब्रिटिश सरकार के समक्ष किये जाते रहे किन्तु क्रांति एवं विद्रोह के बिना ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियों की कठिनाइयों की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया।

ओ मैली ने आदिवासियों के हिन्दू संपर्कों के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि आदिवासियों का हिन्दुओं से संपर्क वास्तव में एक सभ्य एवं सौम्य जीवन व्यतीत करने की दिशा में पहला कदम था। परन्तु साथ ही साथ उन्होंने इन संपर्कों के कुछ दुष्परिणामों की भी चर्चा करते हुये कहा है कि संपर्कों के परिणामस्वरूप आदिवासियों की आदिमजातीय एकता विच्छिन्न हुई है। उनके समाज में प्रचलित नीतिकता से सम्बन्धित आगबडों का हनन हुआ है तथा आदिवासियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं स्वतन्त्रता क्षीण हुई है। हिन्दू संपर्कों से रहित आदिवासियों में अपनी परम्पराओं एवं संस्कृति के प्रति हीनता की भावना नहीं आ पाती है और वे अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस करते हैं। परन्तु संपर्कों के होते ही एक अच्छे संस्कृति की कल्पना उनकी

स्वतन्त्रता एवं उनके स्वाभिमान को प्रभावित कर देती है। हिन्दू सांस्कृतिक स्तर की जाति व्यवस्था में प्रवेश के साथ ही सुबासूत की भावना का जन्म होता है। बाल विवाह की कुप्रथा प्रवेश करती है। साथ ही साथ हिन्दू नैतिकता के आदर्शों के परिणामस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आती है। आदिवासियों में स्त्रियों का पुरुषों के साथ बराबरी के स्तर पर जायिक किवालों में योगदान देना, उनके साथ सांस्कृतिक अवसरों पर स्वतन्त्रतापूर्वक नृत्य एवं गान आदि में भाग लेना एक सामान्य स्थिति होती है। परन्तु हिन्दू संस्कृति में स्त्रियों की यह स्वतन्त्रता हेय दृष्टि से देखी जाती है। परिणामस्वरूप संपर्कों के पश्चात् आदिवासियों में स्त्रियों का जीवन अत्यंत नियंत्रित होने लगता है जिसकी वे अभ्यस्त नहीं होती और उनमें एक प्रकार का मानसिक उत्पीड़न व्याप्त होने लगता है। हिन्दू संपर्कों से प्रभावित होकर गोड महासभा ने सामुदायिक नृत्यों में पुरुषों के साथ स्त्रियों का नृत्य करना निषेधित कर दिया। एलबिन एवं भवूमदार ने स्पष्ट शब्दों में इस परिस्थिति की विवेचना करते हुए कहा है कि इन निषेधों ने आदिवासियों में स्त्रियों के जीवन को दुःखमय बनाया तथा पुरुषों की तुलना में उनकी सामाजिक स्थिति में क्षीणता आई है। इसी प्रकार से बाल विवाह की प्रथा भी हिन्दू संपर्कों का ही परिणाम रही है। आदिवासियों में विवाह की अवधारणा यौन संबंधों की नैतिकता के विचारों से मुक्त होती है। इसी कारण विवाह से पूर्व एवं विवाह के उपरांत वैवाहिक सम्बन्धों के अतिरिक्त यौन संपर्कों में स्वतन्त्रता होती है। परन्तु बाल विवाह की प्रथा के प्रवेश के साथ ही साथ यौन संपर्कों सम्बन्धी स्वतन्त्रतामें हिन्दू नैतिक आदर्शों का शिकार हो जाती हैं और विवाह की अवधारणा में ही आमूल परिवर्तन हो जाता है। यौन संपर्कों में स्वतन्त्रता आदिवासियों के विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का आधार होती है। इन पर प्रतिबन्ध उनके व्यक्तित्व के विकास को एक नया मोड़ दे देते हैं जो कि उनकी सांस्कृतिक अपेक्षाओं के प्रतिकूल होता है। आदिवासियों में विवाह उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन का समारम्भ होता है तथा विवाह में व्यक्तिगत रुचियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। बाल विवाह की प्रथा अपना लेने पर ये सभी बातें गौण हो जाती हैं।

### आर्थिक समस्याएँ

बाल संपर्कों के परिणामस्वरूप संभाव्यताओं की समस्याओं के संदर्भ में संपर्कों के आर्थिक परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। आदिवासी क्षेत्रों में

आवागमन के साधनों के विकास होने के साथ ही साथ बाह्य समुदायों का प्रवेश होता है। एक नये व्यावसायिक क्षेत्र में अधिक लाभ की अभिलाषा से व्यापारियों एवं साहूकारों का वर्ग सक्रिय हो जाता है। आदिवासियों की शिक्षा उनका सरल स्वभाव एवं दरिद्रता इन वर्गों के लाभ में सहायक होती है। जहाँ एक ओर वे आदिवासियों की भूमि हड़पने की चेष्टा में रहते हैं वहाँ भूमिहीन हो जाने की स्थिति में उनकी आर्थिक भिन्नता से लाभ उठाने के लिये साहूकार तथा व्यवसायी ऊँची दरों पर उन्हें सरसता से कर्ज देते हैं। कर्ज में लिया गया धन अन्ततोगत्वा उनके लिये अभिशाप बन जाता है और निरन्तर कई पीढ़ियों तक बन्धक श्रमिकों के रूप में कर्ब करते रहने पर भी वे ऋणमुक्त नहीं हो पाते। शिक्षा के कारण वे इन साहूकारों की कुचेष्टाओं को समझने में असमर्थ होते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक राजकीय नियमों के द्वारा इन गतिविधियों को प्रतिबन्धित करने के प्रयास किये गये हैं तथा सहकारी बैंकों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों एवं बाजारों में उचित दरों पर ऋण की व्यवस्था की गई है। परन्तु निहित स्वार्थों के कुचक्र के कारण इन सुविधाओं का भी अपेक्षित लाभ उन्हें नहीं हो पा रहा है। यद्यपि आर्थिक शोषकों के रूप में ब्रिटिशकालीन जमींदारों का वर्ग समाप्त हो चुका है फिर भी मध्यस्थ वर्ग की सक्रियता में बढि हुई है और कानून की सीमाओं का अतिक्रमण करके वे आज भी परिवर्तित परिवेशों में जमींदारों एवं साहूकारों की ही भूमिका अदा कर रहे हैं। जैसे जैसे आदिवासियों के सम्पर्क बढ़ते जा रहे हैं उनके जीवन में नई प्रकार की आवश्यकताएँ भी बढ़ती जा रही हैं। परन्तु आवश्यकताओं के अनुरूप उनके साधनों में बढि नहीं हो रही है। यह अंतर उनमें सदैव ऋण लेने की प्रवृत्ति को जीवित रखता है।

जहाँ एक ओर सभ्य समुदायों से संपर्कों एवं अवांछनीय तत्वों की सक्रियता ने आदिवासियों के समक्ष आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न की हैं, वही निज न स्थानों में सम्पर्कविहीन विलगता भी कुछ आदिवासियों में उनकी आर्थिक समस्याओं का मूल कारण रही है। ऐसी अधिकांश आदिमजातियों में आर्थिक पिछड़ापन उनकी प्रगति को अवरोधित करता रहा है तथा उनके निम्नतम जीवन स्तर का एक प्रमुख कारण रहा है।

### धार्मिक प्रभाव एवं समस्याएँ

किसी भी समुदाय के विश्वासों का जगत उसकी अपनी क्षेत्रीय व्यवस्थाओं से समायोजन के प्रयासों का एक सहत्वपूर्ण अंग होता है। आदिम

राष्ट्रीय धार्मिक विस्थापन एवं उनकी धार्मिक व्यवस्थाओं अपनी स्थानीय क्षेत्रीय परिस्थितियों से अनुकूलनीय योजनाओं का मुख्य आधार रही हैं। हिन्दू एवं ईसाई धर्म के प्रभावों ने जो धार्मिकता उनको प्रदान की वह उनके धार्मिक विकास की सीमाओं से परे थी तथा उनके जीवन की वास्तविकताओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। आदिवासी धर्म उनकी सामाजिक व्यवस्थाओं में एक सार्थक भूमिका अदा करते हैं, परन्तु सम्पर्कों के परिणामस्वरूप नवीन व्यवस्थाओं के विकास में उनकी परम्परागत मान्यताओं का हनन हुआ है, तथा साथ ही परम्परागत सामाजिक सांस्कृतिक आदर्शों का अक्षय्य नष्ट हुआ है। नये धार्मिक विस्थापनों ने आदिवासीय सामाजिक विघटन को तो उत्प्रेरित किया किन्तु वे किसी नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देने में असफल रहे हैं। नये विस्थापनों और नई व्यवस्थाओं को उन्होंने ऐसे सदर्शों से प्राप्त किया जिनका इन समाजों में सर्वथा अभाव था।

धार्मिक प्रभावों के दृष्टिकोण से आदिवासियों पर ईसाई एवं हिन्दू धर्म के प्रभावों ने ही अधिकांश समस्याओं को जन्म दिया। ब्रिटिश प्रशासन के नियंत्रण में आने के उपरान्त ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार के कार्य में राजनैतिक प्रथम प्राप्ति होने लगा। ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में अपने धर्म प्रचार के कार्य को अधिक सुविधाजनक समझा। इसके कई कारण थे। इनमें प्रमुख कारण था आदिवासियों का धार्मिक पिछड़ापन। उन्नत जीवन तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं के लोभ को आधार बना कर मिशनरियों को आदिवासियों में धर्म परिवर्तन कार्य में सुविधा हुई। शिक्षा एवं चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान कर एवं आर्थिक प्रलोभन देकर उन्होंने अपने धार्मिक विस्थापनों का प्रचार करना शुरू किया। आदिवासियों के परम्परागत देवी देवताओं, उनके विस्थापनों एवं धार्मिक व्यवहारों की जड़हलना की तथा अपने धर्म की नैतिकता के नवीन आदर्शों को स्वयं अपने द्वारा चलाई जा रही शिक्षा के माध्यम से उनके समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रकार से धर्म प्रचार एवं धर्म परिवर्तन की ओर वे ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया सेवा कार्य आदिवासियों के लिये अधिकांशतः अभिशप्य ही सिद्ध हुआ। नवीन धर्म के साथ ज्ञानपान, रहस्य सहन, पहनने जोड़ने के तीव्र तरीके की अभ्यास होने लगे। उन्होंने आदिवासियों को अपने दृष्टिकोण से सम्बन्ध बनाने के प्रयास किये। इसी प्रकार से हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर हिन्दू धार्मिक विस्थापनों, देवी देवताओं एवं नैतिक आदर्शों का प्रभाव आदिवासियों पर पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप विशेषकर विहार एवं मध्य प्रदेश के आदि-

वासियों में भवत आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी आन्दोलन सुधारवादी आन्दोलन थे तथा इस भावना का अभावित थे कि आदिवासियों के परम्परागत धार्मिक विश्वास, देवी देवता तथा उनके नैतिक व्यवहार दोषपूर्ण हैं और उनकी शरीरी एवं आर्थिक पिछड़ेपन का मुख्य कारण हैं। माँस खाना, मदिरापान, देवी देवताओं की पूजा आदि में बलिदान करना हिंसा मुर्गीप्राशन आदि का भयंकर बर्णन ने विरोध किया। परिणामस्वरूप परम्परागत धार्मिक सांस्कृतिक ढाँचे में एक अपरिचित किन्तु नवीन जीवन दर्शन का आरोपण हुआ। ऐसी परिस्थितियों के समायोजन की समस्याओं एवं सामाजिक विघटनात्मक परिस्थितियों का जन्म हुआ। दूसरी ओर मिशनरियों की गतिविधियों ने भी ऐसी ही समस्याओं को जन्म दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उद्देश्य भले ही कुछ भी रहा हो किन्तु ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया सेवा कार्य अत्यंत सराहनीय था। आदिवासियों में शिक्षा प्रसार एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध कराने के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। किन्तु पाश्चात्य आदमियों पर आधारित एवं धर्म परिवर्तन की भावना से जोतप्रोत सेवाकार्य वास्तव में समस्यामूलक ही रहा। धर्म परिवर्तित ईसाइयों एवं परम्परागत जीवन व्यतीत करने वाले आदिवासियों के बर्ण एक दूसरे से भिन्न स्तरों के दो वर्ग बन गये जिससे पारस्परिक व्यवहारों में यह सामाजिक विषमता कटुता उत्पन्न करने लगी। धर्म परिवर्तन एवं मिशनरी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने के साथ साथ उनमें अपने जीवन स्तर एवं अपनी परम्पराओं के प्रति अरुचि एवं असंतोष का जन्म तो हुआ किन्तु इस असंतोष को दूर करने की सामर्थ्य एवं साधनों का जन्म नहीं हो सका। परिवर्धित आकांक्षाओं एवं सीमित साधनों के इस अन्तर ने उनमें एक विशिष्ट मानसिक तनाव को जन्म दिया जिसके परिणाम असम की आदिम जातियों में व्याप्त राजनैतिक असंतोष के रूप में दृष्टिगोचर होते रहे हैं।

किसी भी संस्कृति के धार्मिक विश्वास तथा लोगों की आस्थाओं उस संस्कृति की परम्पराओं का केन्द्र होती हैं। भारतीय आदिवासियों में हिन्दू एवं ईसाई धर्मों के प्रभाव धर्म परिवर्तन के दो स्वरूप हैं। दोनों ही स्वरूपों को क्रमशः हिन्दू एवं ईसाई सभ्यताओं का परिणाम माना जा सकता है। ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों को अपने धर्म प्रचार का एक उपयुक्त माध्यम बनाया। सुखमय जीवन व्यतीत करने के आश्वासन तथा लाली प्रकीर्ण के प्रलोभनों के आधार पर उन्होंने अधिक संख्या में आदिवासियों का धर्म परिवर्तन किया और परिणामस्वरूप उन्हें उनकी परम्पराओं से विमुख करके

एक समाजपूर्ण स्थिति में जीवमार्गों के लोगों के लिये छोड़ दिया। जहाँ विदेशी शिक्षा एवं प्रवर्तकों से उत्प्रेरित आदिवासीयों का 'जाहूँ' ही था, किन्तु उनकी प्रति के साधनों का अभाव था। इस अर्थ परम्परागत आदिवासीय संदर्भों में परिवर्तन के नवीन साधनों ने उनका जीवन अधिक कष्टमय बना दिया।

दूसरी ओर अनेक आदिवासी हिन्दू धर्म से प्रभावित हुए, वह अधिकांश उपर्युक्त प्रक्रिया से विपरीत रही है। आदिवासी स्वयं अपने पड़ोसी लोगों में नये हिन्दू समुदायों की संस्कृति से प्रभावित हुए और उस संस्कृति में उन्हें एक श्रेष्ठ जीवन की आकांक्षा दिखालाई दी। इस आकर्षण के परिणामस्वरूप अन्य सांस्कृतिक तत्वों के साथ ही साथ धार्मिक विश्वासों एवं नैतिकता के आदर्शों का भी अतिक्रमण हुआ। जाति व्यवस्था के आदर्श से आकर्षित होकर उनमें हिन्दू समाज में प्रवेश पाने की आकांक्षा ने जन्म लिया और इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये उन्होंने स्वयंसेव हिन्दू-देवी देवताओं एवं धार्मिक व्यवहारों को अपनाने तथा अपने देवी देवताओं एवं नैतिक आदर्शों के परिष्कार को साधन बनाया।

ये दोनों प्रकार की धर्म परिवर्तन की प्रक्रियाएँ यद्यपि एक दूसरे से भिन्न थीं तथापि उनके परिणाम लगभग एक ही हुए। दोनों के परिणाम-स्वरूप आदिवासीय व्यवस्थाओं की टूटने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा नवीन सदस्यों में अनुकूलन के अभाव में समायोजन की समस्याओं ने जन्म लिया। यदि सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो आदिवासियों ने धर्म परिवर्तन को किसी भी रूप में अनैतिक अथवा अवांछनीय नहीं कहा जा सकता यदि इसके परिणामस्वरूप विघटनात्मक प्रवृत्तियों का जन्म न हो और यदि नवीन समस्याओं के नये समाधान प्राप्त हो सकें। परन्तु वास्तव में आदिवासियों पर धार्मिक प्रभावों में इन दोनों बातों का अभाव रहा है, जिससे उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

### औद्योगीकरण के प्रभाव

हमारे देश के अधिकांश आदिवासी क्षेत्र अनेक समस्या से परिपूर्ण हैं। विशेष कर असम, बिहार, मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में अत्यधिक परिमाण में धार्मिक वृद्धि उपलब्ध है। इस से आदिवासी क्षेत्र धीरे धीरे औद्योगिक गतिविधियों के केन्द्र बनते जा रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ उपर्युक्त परिमाण में धार्मिक आदर्शों की उपलब्धि के कारण इन क्षेत्रों में धर्म के



औद्योगिक संस्थानों की स्थापना हुई है तथा देश के औद्योगीकरण की तीव्र गति के साथ साथ और भी औद्योगिक इकाइयाँ तीव्रता से इन क्षेत्रों में स्थापित होती जा रही हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले से भी बनन काय मे अधिको के रूप मे तथा जमशेदपुर मे स्थित टाटा के इस्पात कारखाने मे आदिवासी अधिक संख्या मे काम करते रहे हैं। असम के चाय बानान भी आदिवासी अधिको का आकर्षण रहे हैं। सन् 1950-60 के मध्य से लेकर अभी तक आदिवासी अंचलो मे स्थापित औद्योगिक संस्थानो ने आर्थिक स्तर पर उनके जीवन को प्रभावित किया है तथा इसके साथ ही साथ सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन भी तेजी से होते जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों मे मानववैज्ञानिको का ध्यान इस ओर गया है तथा औद्योगीकरण के प्रभावो से संबंधित कई अध्ययन भी किये गये है। इन प्रभावो की गंभीरता को ध्यान मे रखते हुये ही सन 1960 मे डेवर कमीशन की रिपोर्ट मे इस प्रकार के अध्ययनो की आवश्यकता एव उपादेयता पर बल दिया गया।

औद्योगीकरण जहाँ एक ओर आधुनिक अव्यवस्था का प्रमुख आधार है, वहीं सभी देशो मे सभी वय इसके सामाजिक सांस्कृतिक प्रभावो से पीडित हुये हैं। आदिवासी क्षेत्रो मे बहुद् औद्योगिक संस्थापनो की स्थापनामात्र से ही लोगो की गतिशीलता तीव्र हुई है तथा काम के अवसरों का लाभ उठाने एव अपनी आर्थिक विपन्नता से छुटकारा पाने के लिये अधिकाधिक संख्या मे आदिवासी अपने स्वतंत्र स्वच्छ एव शांत वातावरण को छोड़कर औद्योगिक संस्थानो के इव गिद बसे नगरो मे आकर बसने लगे। इन औद्योगिक संस्थानो मे काम करने वाले आदिवासी एक नई आर्थिक प्रणाली के अंग बन जाने के बाद जब अपने मूल क्षत्रो मे वापस जाते हैं तो सहज ही में वे एक भिन्न श्रमो के लोग बन जाते है तथा अन्य लोगो से उनके व्यवहारी मे अन्तर आ जाते हैं। साथ ही इन व्यक्तियो के जीवन स्तर मे आये परिवर्तन अन्य सदस्यो मे भी औद्योगिक संस्थानो की ओर आकर्षण उत्पन्न कर दते हैं और परिणामस्वरूप प्रवासियो की संख्या मे वृद्धि होती जा रही है और आदिमजातीय समुदायो के टूटने की प्रक्रिया को प्रवर्धन मिल रहा है। परंपरागत रूप से आदिवासियो का जो जीवन होता है उनकी जो सीमित आवश्यकतायें एव प्रत्याशाएँ होती हैं उनमे एकाएक परिवर्तन आ जाता है तथा नई औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिदिन निश्चित समय तक निश्चित नियंत्रण मे काम करने का क्रम उनके स्वच्छंद जीवन के विरुद्ध

विपरीत होता है। जहाँ अपने जीवन में समीप, दूरगं आदि से, कठिन परिश्रम करने के उपरान्त आदिवासी अपने अनोखे जीवन करते हैं, वहाँ इन औद्योगिक नगरो के जीवन से अत्यधिक अद्विरासन एवं वैश्वाभूति आदि ही सामान्यतः उनके अनोखे जीवन के एकमात्र साधन बन जाते हैं। औद्योगिक संस्करणों में अन्य अनेक प्रकार के लोगों के साथ कार्य करते हुये जाय, वे ऐसी आदतों एवं आवश्यकताओं को अपना लेते हैं जिनका परम्परागत जीवन से अभाव होता है। जीवन की दो भिन्न एवं विपरीत अर्थव्यवस्थाओं के बीच सहज ही में वे एक विशिष्ट तनावपूर्ण जीवन के लिकार हो जाते हैं। कहीं कहीं पर आदिवासी लोगों ने औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट समस्याओं ने जन्म लिया है। इस दृष्टिकोण से मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले का उदाहरण महत्वपूर्ण है। इस जिले में भिलाई इस्पात कारखाने की स्थापना के उपरान्त औद्योगिक कार्यों से संबंधित लोगों के लोग काफी संख्या में आकर बसने लगे। दूसरी ओर श्रमिकों के रूप में काम करने के लिये सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ के आदिवासी अंचलो से आदिवासी परिवार भी आकर बसने लगे। बाहर से आकर बसे हुये व्यक्तियों को घरेलू काम काज की सेवाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति आदिवासी परिवारों की लड़कियों के द्वारा हुई जिन्हें अपनी आर्थिक आय में वृद्धि का एक और साधन प्राप्त हो गया। आदिवासियों में स्त्रियों में स्वाभाविक स्वच्छता से इन बाहरी व्यक्तियों ने अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। कुछ ही समय में ऐसी आदिवासी स्त्रियों की संख्या हजारों में पहुँच गई जिनके विवाह नहीं हुये थे और वे गम्भीरी हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति आदिवासी सामाजिक सन्दर्भों में एक विषम परिस्थिति बन गई जबकि उन स्त्रियों को अपने समाज में स्वीकार नहीं किया गया तथा तिरस्कृत होना पड़ा।

औद्योगीकरण का एक पक्ष और है—मुद्रा अर्थप्रणाली का विस्तार। आदिवासियों का आर्थिक संगठन प्रायः साधारणतः पारस्परिकता एवं सहयोग के आदर्शों पर आधारित होता है। क्रय विक्रय के आधार—मुद्रा—के अभाव में उनके आपसी लेन देन परंपरागत मान्यताओं के आधार पर चलते रहते हैं जहाँ उत्पादन एवं वपन में एक विशिष्ट सम्बन्ध होता है बाह्य साधनों पर निर्भरता कम होती है तथा मूल्यों के उतार चढ़ाव की समस्या नहीं होती। किन्तु औद्योगीकरण के प्रसार के साथ ही साथ आदिवासी, मुद्रा प्रणाली पर आधारित अर्थव्यवस्था के अंग बनते जा रहे हैं तथा आधुनिकता के आकर्षण को मुद्रा व्यवस्था प्रशय देती जा रही है। आदिवासी लोगों के बाजार अंग

उक्त-संस्था संस्थानों के मध्य विभक्त के केन्द्र बने हुये हैं, जिनकी आज तक उनके जीवन में कोई आवश्यकता नहीं थी। औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण का बलिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के प्रत्यक्ष रूप परम्परागत मान्यताओं एवं मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं तथा नवीनता के परिपूर्ण परिवर्तित सांस्कृतिक सन्देश कष्टपूर्ण होते हुये भी उन्हें अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में आदिवासी सामाजिक विकटन एवं संस्कृतीकरण में तीव्रता आई है।

औद्योगीकरण का ही एक तीसरा एवं अनिवार्य परिणाम नगरीकरण हुआ है। औद्योगिक संस्थानों के साथ साथ ही नगरों की स्थापना होती है, जिनका समीपवर्ती आदिवासी क्षेत्रों पर आर्थिक दबाव पड़ता है। राखी से हिन्दुस्तान मशीन टूल्स' औद्योगिक संस्थान की स्थापना के उपरांत काफी दूर दूर तक समीपवर्ती आदिवासी क्षेत्र उस बढ़ते हुये नगर की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन बने तथा इन क्षेत्रों में बसे हुये आदिवासियों ने नगर निवासियों की आवश्यकता के अनुरूप अपनी आर्थिक गतिविधियों को परिवर्तित किया। इन नगरों में बसने वाले आदिवासी समुदाय एक मिश्रित संस्कृति के अंग बनने लगे हैं और अपनी परम्पराओं से उनका सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है। इन नगरों की श्रमिक वस्तियों का घुटन से भरा हुआ जीवन उनके अपने स्वच्छन्द वातावरण से बिल्कुल भिन्न होता है जिसके कि वे आदी नहीं होते और परिणामस्वरूप क्षीघ्र ही अनेक नवीन अपरिचित समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता है जिनके समाधान उनके लिये कठिन हो जाते हैं।

पिछले कुछ दशकों में पर्वतीय एवं सीमान्त क्षेत्रों में भी कुछ नगरीय केन्द्रों की स्थापना हुई है, जिन्होंने समीपवर्ती क्षेत्रों के आदिवासियों को विभिन्न स्वरूपों में प्रभावित किया है। कुछ छोटे छोटे नगरों को छोड़कर अन्य सभी नगरों की स्थापना समीपवर्ती आदिवासी समुदायों के विकास के परिणामस्वरूप न होकर प्रशासकीय अथवा अन्य आवश्यकताओं की दृष्टि से हुई है। उदाहरण के लिये शिलांग अथवा कोहिमा या मनीपुर में चूरचंदपुर आदि नगर समीपवर्ती आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं, किन्तु परेला रूप से इनकी स्थापना के कुछ विनिष्ट प्रभाव भी पड़ रहे हैं जिन्होंने कुछ समस्याओं को जन्म दिया है। इन अधिकांश नगरों में आदिवासी अन्य वर्ग के लोगों के साथ रहने लगे हैं किन्तु अन्य वर्गों के साथ उनका समुचित ताल मेल नहीं

हो सका है। अन्य लोगों से उनके पारस्परिक संघर्ष के बाधों कायदा सीमित हैं। परिणामस्वरूप इन लोगों में आदिवासी एवं अन्य वर्गों मिलकर सामान्य नगरीय जीवन के साक्षीदार नहीं बन पाते और जो विशिष्ट वर्ग एक दूसरे से भिन्न स्तर पर उभर कर सामने जाते हैं, जिनके आपसी सम्बन्ध केंद्र-कामी-कटुतापूर्ण भी हो जाते हैं। वे अपने व्यापक हितों की रक्षा करने के लिये जबर-ऐसे व्यवहारों के लिये विवश हो जाते हैं, जो उनकी परम्पराओं के प्रतिकूल होते हैं। परन्तु जब ऐसे ही व्यवहार वे स्वयं अपने वर्ग के लोगों से भी करने लगते हैं, तो उन्हें तिरस्कृत होना पड़ता है। आदिवासी क्षेत्रों में नगरीय जीवन का विकास यदि अन्तर्जनित विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हो तो सम्भव ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न हो। किन्तु केवलमात्र प्रशासकीय सुविधाओं के लिये स्थापित किये गये नगर समस्यामूलक सिद्ध हो रहे हैं यद्यपि वे नगर शिक्षा एवं कल्याणकारी कार्यों के केन्द्रों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा कर रहे हैं। यद्यपि उत्तर पूर्वी क्षेत्र में शिलांग, कोहिमा, ऐज़म आदि नगर आदिवासियों की राजनैतिक गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र बनते जा रहे हैं किन्तु आर्थिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप इन नगरों का विकास नहीं हुआ है और इसीलिये आदिवासी जीवन से ये अती अति सम्बद्ध नहीं है।

### सांस्कृतिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित समस्याय

जब दो भिन्न संस्कृतियों वाले समुदाय एक दूसरे के अत्यंत निकट संपर्क में आते हैं और उनमें से एक संस्कृति के लोग दूसरी संस्कृति को श्रेष्ठ समझते हैं तो निकट सम्पर्कों के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक आदान प्रदान अथवा परस्परस्वीकरण के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट समस्याएँ जन्म लेने लगती हैं। प्रायः श्रेष्ठ संस्कृति की श्रेष्ठता अधिक जनसंख्या, अपेक्षाकृत उत्कृष्ट तकनीकी क्षमता एवं योग्यता आदि कारकों पर आधारित होती है। ऐसी परिस्थिति में श्रेष्ठ संस्कृति एक प्रभावी एवं प्रबल संस्कृति के रूप में सम्पर्क में आयी अपेक्षाकृत निर्बल संस्कृति को प्रभावित करने लगती है। आदिवासी सन्तानों में प्रायः इस प्रकार के सांस्कृतिक सम्पर्कों का प्रभाव तीव्र एवं आकस्मिक होता है। उनमें प्रभावी संस्कृति के आक्रमक प्रभावों के प्रति एक प्रकार की असुरक्षा की भावना व्याप्त हो जाती है तथा निर्बल संस्कृति की अस्तित्वहीनता जीवन के प्रति खदाईनता आदि के लक्षण जन्म लेने लगते हैं। दूटती हुई परम्पराओं एवं नवीन भूल्यों एवं आदर्शों के अन्तर्गमन

उनमें अपने-अपने-अन्वकारण्य मन्त्रिण्य एवं स्वमित्र अतीत के बन्ध एक प्रकार की विरक्तता से पूर्ण दत्तमान जीवन अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है। आज देश के अधिकांश आदिवासी समुदाय ऐसी ही परिस्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अधिक उन्नतिशील सम्य समुदायों के बढ़ते हुए सम्पत्तियों के दबाव को रोकना नहीं जा सकता। केवल नियोजित नियोजन के आधार पर इस प्रभाव के परिणामों में कुछ अन्तर लाया जा सकता है। किन्तु ये प्रभाव मानसिक स्तर पर इतने व्यापक होते हैं कि नियोजकों के समक्ष उनके निवारण के सरल उपाय नहीं हो पाते। बहुत से आदिवासियों के आदिमजातीय स्वरूप टूटते जा रहे हैं और कहीं कहीं पर बहुसंख्यक पड़ोसियों में उनका विलीनीकरण हो चुका है। आज अडमान द्वीप समूह के आदिवासी टोडा कोरवा एवं चैंबू आदि आदिमजातियाँ ऐसी ही परिस्थितियों में जीवनयापन कर रही हैं।

वर्तमान समय में देश के आदिवासियों में आधुनिकता के स्वरूपों को दो प्रकार के कारकों के सर्भ में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। एक तो बाह्यकारक और दूसरे आंतरिक कारक। बाह्य कारकों में उपर्युक्त वर्णित सत्तों के परिणामस्वरूप प्रगतिशील तकनीकी एवं जटिल राजनैतिक तथा सामाजिक संगठन का प्रवेश माना जा सकता है। आधुनिकता के आंतरिक कारक दो प्रकार की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं। एक प्रक्रिया के अन्तर्गत संस्कृति में व्याप्त असंगतियों में संश्लेषण तथा सांस्कृतिक तत्वों की पुनर्व्यवस्था नवीन विवेचना आदि के द्वारा संस्कृति विकासोन्मुख होती है। इस प्रक्रिया से आधुनिकता के तत्व स्वयमेव जन्म लेते हैं। दूसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत बाह्य कारकों के द्वारा आधुनिकता के प्रवेश के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियाँ परम्परागत मूल्यों में परिवर्तन आवश्यक कर देती हैं तथा नवीन परिस्थितियों से समायोजन के प्रयास स्वयं आधुनिकता को जन्म देते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे कल्याणकारी प्रयासों के प्रभाव में आज हमारे अधिकांश आदिवासी सशक्त परम्पराओं के विनाश तथा आधुनिकता के सतत प्रहारों एवं प्रघातों से उत्पन्न मानसिक तनाव के शिकार हो रहे हैं।

यद्यपि सभी आदिमजातियाँ तकनीकी एवं साक्षणिक दृष्टि से पिछड़ी हैं, फिर भी उनके विकास स्तरों में अत्यधिक विषमताएँ हैं और सभी आदिवासी कुछ सामान्य राजनैतिक सांस्कृतिक प्रभावों से प्रभावित हैं। सामान्य राजनैतिक प्रभाव संविधान में प्रदत्त संरक्षण एवं विशेष सुविधाओं एवं अधिकारों के परिणाम हैं। सामान्य सांस्कृतिक प्रभाव उस ऐतिहासिक

दृष्टिकोण के परिणाम हैं, जिसके अनुसार आदिवासियों को सर्वत्र पिछड़ा हुआ मानित एवं अन्य समुदायों से बिल्कुल भिन्न समझा जाता रहा है। परिणामस्वरूप आदिवासियों ने भी सर्वत्र राष्ट्र के जीवन से अपने को अलग रखा। परन्तु ऐसी परिस्थितियों में एक संवे समग्र तक रहने के बाद अब हम उन्हें राष्ट्रीय जीवन की क्रियाशील इकाई के रूप में परिवर्तित करना चाहते हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस दिशा में कुछ छोटा सा प्रयास किया तथा परिणामस्वरूप विशेष प्रशासनिक सुविधाओं के दृष्टिकोण से अनुसूचित एवं अधानुसूचित आदिवासी क्षेत्रों का निर्माण किया। राष्ट्रीय सरकार ने इस नीति में थोड़ा सा रूपांतरण किया और इन क्षेत्रों को विशेष रूप से नियोजित करने का कार्यक्रम निश्चित किया। उद्देश्य यह था कि इन क्षेत्रों में विकास कार्य क्रमों को कार्यान्वित करने के पूरा आदिवासियों को कार्यक्रमों के प्रति जागरूक बनाया जाये तथा कार्यक्रमों के औचित्य के प्रति उनमें आवश्यक जागरूकता बनाया जा सके। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में किये गये इन प्रयासों के परिणामस्वरूप आदिवासियों में अपने को एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में कायम रखने की भावना जोर पकड़ती जा रही है जिससे सुविधान में प्रदत्त विशेष सुविधायें उन्हें निरन्तर प्राप्त होती रहे तथा समय समय पर उनमें वृद्धि भी होती रहे। यहाँ तक कि अधिक जनसंख्या वाले आदिवासी क्षेत्रों में स्वतन्त्र राजनैतिक अस्तित्व की भावना जोर पकड़ती जा रही है। उत्तर पूर्वी सीमांत क्षेत्र में आदिवासी प्रदेशों की स्थापना एवं बिहार में 'भारखंड' सम्बंधित आंदोलन इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। स्पष्ट है कि ऐसी प्रवृत्तियों ने उन आदर्शों को ठेस पहुँचाई, जिनके लिये आदिवासियों को विशेष संवैधानिक सुविधायें प्रदान की गई थी। जिस राष्ट्रीय एकता के आदर्श को सामने रख कर यह प्रयास किया गया था बिल्कुल उसके विपरीत परिस्थितियाँ जन्म लेती जा रही हैं यह एक चिंता का विषय है। यह केवल देश के लिये ही एक समस्या नहीं है बल्कि स्वयं आदिवासी भी इस परिस्थिति का शिकार होते जा रहे हैं। कतिपय राजनीतिक दल इस प्रवृत्ति को साधन बनाकर उन्हें राजनीतिक शतरंज में मोहरो के समान प्रयोग में ला रहे हैं। आदिवासियों के सरल जीवन में राजनीतिक जोड़ तोड़ की कदमि दिग प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। ये गतिविधियाँ उनकी आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। सामान्य आदिवासी भाव भी कठिनाइयों में भरा जीवन व्यतीत कर रहा है। राजनीतिक कुचक्र में उनकी कठिनाइयों में वृद्धि ही की है।

अहाँ एक बोर विकास कार्यक्रमों एवं राजनीतिक गतिविधियों के

माध्यम से हुये संपर्कों के प्रभाव उल्लेखनीय हैं, जहाँ दूसरी ओर आदिवासियों में शिक्षा प्रसार की योजनाएँ भी बाह्य प्रभाव से संपर्कों का एक महत्वपूर्ण माध्यम हैं। शिक्षा प्रसार को अत्यधिक सहूल देते हुये देश के अन्य भागों में प्रचलित शिक्षण व्यवस्था आदिवासियों में भी लागू की जा रही है। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार होना है इस आवश्यकता के सम्बन्ध में मतभेद का कोई प्रश्न नहीं उठता। ब्रिटिश प्रशासनकाल में आदिवासियों में शिक्षा प्रसार का कार्य अधिकप्रति ईसाई मिशनरियों के माध्यम से हुआ। मिशनरी के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा का एक विशिष्ट उद्देश्य होता है जो कि आवश्यक नहीं कि हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप हो। मिशनरियों ने सदैव अपनी शिक्षा के माध्यम से आदिवासियों में उनकी परम्पराओं एवं सामाजिक प्रथाओं के प्रति घणा का वातावरण तैयार किया। साथ ही उनका परिचय एक ऐसी जीवन प्रणाली से कराने का प्रयास किया जिसके लिये कोई सांस्कृतिक आधार नहीं था। इस शिक्षा प्रणाली ने उनमें नवीन उपलब्धियों की आकांक्षा तो जागृत की परन्तु वे उपलब्धियाँ ऐसी थी जिनके लिए उनकी परंपराएँ उन्हें कोई अवसर नहीं प्रदान कर सकती थी। परिणामस्वरूप उनमें निराशा का जन्म हुआ। आज नागालैंड बीजोराम एवं मेघालय में शिक्षितों की संख्या अन्य आदिवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। किन्तु इन शिक्षित आदिवासियों का वण ही उस क्षेत्र में आतंक एवं राजनीतिक अशांति का प्रणेता है। उन्होंने जो शिक्षा प्राप्त की है उसके बदले में निराशा एवं कुठा ही उनके हाथ लगी है।

शिक्षा एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में तालमेल होना आवश्यक है। जो शिक्षा व्यक्ति के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप न होकर उसे विपरीत दिशा में प्रेरित करे, वह कभी भी अपने साथ उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकती। ऐसी ही परिस्थितियाँ आज हमारे देश में सर्वत्र उत्पन्न हो रही हैं। हम एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को अपनाते हुये हैं जिसे ब्रिटिश प्रशासन ने अपने विशिष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिये गढ़ा था। इसका हमारी वर्तमान परिस्थितियों से कोई सापेक्षत्व नहीं है। आज ब्रिटिश प्रशासनकालीन आवश्यकताएँ समाप्त हो चुकी हैं। स्वतन्त्र देश की अपनी समस्याएँ हैं और उनके समाधान हमारे अपने ही सामाजिक सांस्कृतिक ढाँचे में होने हैं। परन्तु शिक्षा प्रणाली में उचित परिवर्तन नहीं लाये गये हैं। इसी प्रकार से जब हम देश के सभ्य एवं आदिवासी समुदायों के सांस्कृतिक अंतर

की स्थिति में न तो वे एक ही ही स्थिति में रह सके हैं वरन् विभिन्न व्यवस्था निर्मा-  
रित करी हैं। तो ऐसी ही अवस्था के कारण परिवर्तन समस्या उत्पन्न हो  
है। आदिवासियों में तो ऐसी-विभिन्न व्यवस्था की योजना बनानी चाहिये;  
जिससे वे ही एक-ओर उनमें अपनी परम्पराओं, विचारों एवं भावनाओं के  
प्रति आकर्षण बना रहे वहीं दूसरी ओर उनका आर्थिक जीवन भी समुन्नत  
हो सके।

आदिवासियों की इन समस्याओं के साथ ही साथ एक अन्य महत्वपूर्ण  
प्रश्न जुड़ा हुआ है कि इनके समाधान के लिये हमें क्या करना उचित है। इसमें  
कोई दो मत नहीं हो सकते कि इन समस्याओं से उन्हें मुक्ति दिलाना हमारा  
राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। किन्तु समस्याओं के कारणों की ओर ध्यान देने पर  
यह स्पष्ट हो जाता है कि हम उन कारणों को पूर्णरूप से नियंत्रित भी नहीं  
कर सकते। बढ़ती हुई आबादी, औद्योगीकरण का प्रसार संचार सुविधाओं  
तथा आवागमन के साधनों में वृद्धि आदि प्रक्रियाएँ राष्ट्रीय हित में आवश्यक  
हैं। अतः देश में शीघ्रता से हो रहे परिवर्तनों को रोका अथवा सीमाबद्ध नहीं  
किया जा सकता। प्रत्येक परिवर्तन के साथ साथ कुछ पीड़ाएँ भी होती हैं।  
बिना परिचित व्यवस्थाओं का स्थान जब नवीन व्यवस्थाएँ लेती हैं तो कुछ  
समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पुरातन से नूतन में पदार्थ कितना भी आभाप्रद  
क्यों न हो कष्टकारी भी होता है। कठिन रोग के निवारण के लिये  
रोगी को कभी कभी कड़वी दवा एवं इजेक्शन की वेदना भी सहन  
करनी पड़ती है। अतः आज प्रश्न यह है कि बढ़ते हुये सपनों की  
पृष्ठभूमि में अनुकूलन की ओर समस्याएँ आदिवासियों के समक्ष हैं उनका  
निदान क्या होना चाहिये ?

इस सम्बन्ध में अनेक विचार व्यक्त किये जा चुके हैं और ऐसा प्रतीत  
होता है कि विभिन्न विचारों के अन्तर्गत के अन्त में हम इतना पढ़ चुके हैं कि  
मूल प्रश्न बँसा ही बना हुआ है। एक विचार तो यह है कि आदिवासियों की  
कोई भी विशिष्ट समस्याएँ नहीं हैं। देश के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों की  
ओ समस्याएँ हैं आदिवासियों की समस्याएँ उनसे अधिक भिन्न नहीं हैं।  
अतः विकास योजनाओं में उन्हें हमें एक विशिष्ट वर्ग के रूप में नहीं  
मानना चाहिये।

किन्तु अधिकांश विचारक इस तर्क से सहमत हैं कि आर्थिक एवं  
तकनीकी पिछड़ेपन तथा सामाजिक सांस्कृतिक समायोजन की कुछ जटिल  
समस्याओं (जो कि अन्य वर्गों में नहीं हैं) के दृष्टिकोण से उनके कल्याण के



लिये तथा उन्नती समस्याओं के समाधान के लिये हमें एक विशिष्ट दृष्टिकोण अपनाता चाहिये। समाजशास्त्रियों का जीवन सर्वसत्त्व के अन्य लोगों से भिन्न कोटि का है। हमें इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही कल्याणकारी योजनाओं को उनके अनुरूप नियोजित करना होगा। संभवतः इसी दृष्टिकोण से संविधान में समाजशास्त्रियों को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं, जिनकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

## आदिवासी कल्याण एवं नीतियाँ

स्वाधीनता के पश्चात् सर्वप्रथम आदिवासी समस्याओं एवं उनके समाधानों पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार करने के प्रयास किये गये। सन 1950 में निर्मित सचिवालय में इन विचारों को एक मूलरूप प्रदान किया गया। देश के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासी संस्कृतियाँ समान नहीं हैं और न ही उनकी समस्याओं में एकरूपता है। इन समस्याओं के समाधान के मार्गदर्शन के लिये एक उपयुक्त राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसी नीति के आधार पर कार्य करते हुये ही हम सचिवालय में निर्धारित कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह कर सकते हैं। इस अध्याय में इन्हीं तथ्यों का उल्लेख करते हुये कल्याणकारी योजनाओं में अपनायी जा सकने वाली संभावित नीतियों की विवेचना की गई है।

### समस्या के कुछ प्रमुख पक्ष

पिछले अध्याय में हमने आदिवासी समस्याओं के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना की है। इन विभिन्न समस्याओं का निवारण कैसे हों ? उनके प्रति हमारा उचित दृष्टिकोण क्या होना चाहिये ? यह विचारणीय प्रश्न हैं। इस दृष्टिकोण के निर्धारण से पहले हमें स्वयं यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि हम क्या चाहते हैं। किसी भी समस्या के समाधान के अनेक विकल्प हो सकते हैं। हमें यह देखना है कि हम किस विकल्प का चयन करें।

पिछले अध्याय में हमने कहा है कि अधिकांश आदिवासी समस्याओं का जन्म बाह्य सत्तों के प्रभावों से हुआ है। अतः एक विकल्प यह भी हो सकता है कि हम उन्हें ऐसा संरक्षण प्रदान करें जिससे वे सत्तारूढ़ीन विलगित जीवन व्यतीत करते रहे। एलबिन ने इंडियन प्रस्नरेशनल में बाह्य सत्तों के प्रभावों से पीड़ित बैगा आदिमजाति के कष्टों एवं उनकी समस्याओं की चर्चा करते हुये तत्कालीन प्रशासन से यह संस्तुति की थी कि कुछ समय तक उनके क्षेत्र को सत्तारूढ़ीन बनाया जाये तथा उन्हें आरक्षित राष्ट्रीय पार्क घोषित किया जाये। बुरे एवं कुछ अन्य समाजशास्त्रियों तथा मानव वैज्ञानिकों ने उन्हें इस पृथक्तावादी दृष्टिकोण का पोषक घोषित किया यद्यपि एलबिन ने बाद के अपने लेखों में निरंतर इस आरोप का खंडन किया है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि देश के आदिवासी समुदाय सदियों से निर्जन क्षेत्रों में निवास करते रहे हैं। किंतु इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि वे अन्य समुदायों के साथ सहयोगिता एवं सहचरता का जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। अपने छोटे छोटे समुदायों के सीमित दायरों में उनका सामाजिक संगठन अत्यंत सुगठित होता है। इन दायरों की परिधि में वृद्धि की जा सकती है एवं देश के नवनिर्माण में उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

अधिकांश विद्वानों का ध्यान आदिवासियों के आर्थिक पिछड़ेपन और उसके परिणामस्वरूप उनमें व्याप्त अभाव एवं दरिद्रता की ओर आकर्षित हुआ है। अतः एक दृष्टिकोण यह भी रहा है कि आदिवासियों की भौतिक समृद्धि ही उनके कल्याण का मूल उपाय है। अर्थात् आर्थिक पिछड़ापन का दूर हो जाना ही उनकी सभी समस्याओं का समाधान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अभाव एवं दरिद्रता का नग्नरूप हमें आदिवासियों में देखने को मिलता है। किन्तु वास्तव में उनका जीवनदर्शन ही कुछ इस प्रकार का है

कि यह विषय। उन्हें जब सीमा तक अवसर नहीं होती जितना कि हम अपने जीवन के प्रारम्भ के आचार पर समझते हैं। इस विशिष्ट जीवनदर्शन के कारण ही भौतिक समृद्धि कभी भी उनके आकर्षण का केन्द्र नहीं रही है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें अपने जीवन स्तर को उन्नत करने की अभिलाषा का नितांत अभाव है। इसी विचारधारा के आधार पर उनके सांस्कृतिक पिछड़ेपन की बात भी की जाती है। संस्कृति के अंश में जब हम श्रेष्ठता बख्वा उन्नत बख्वा पिछड़ेपन की बात करते हैं तो अव्यक्त रूप से हमारा तात्पर्य सदैव आर्थिक एवं तकनीकी उन्नति से होता है किन्तु यह वस्तुनिष्ठ विषय संस्कृति की अवधारणा के विरुद्ध है। वास्तव में प्रत्येक संस्कृति का अपना एक व्यक्तित्व होता है। वह अपने में एक विशिष्ट जीवन प्रणाली होती है। अतः किसी भी संस्कृति को तुलना में कम या अधिक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यह कोई समस्या का प्रश्न नहीं है और न ही यह स्थिति किसी समस्या को जन्म ही देती है। वास्तव में सांस्कृतिक पिछड़ापन एक भ्रमक शब्द है। कोई भी कल्याणकारी योजना इतने भ्रमक आधार पर नहीं बनाई जा सकती। आदिवासियों के सांस्कृतिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन की बात करने वाले कतिपय विद्वानों ने उनके आधुनिकीकरण एवं आधुनिक समुदायों में उनके विलीनीकरण (Assimilation) को अत्यधिक महत्व दिया है। इन विद्वानों के विचार से आदिवासियों की सभी समस्याओं का यह एक श्रेष्ठतम समाधान है अतः उनके कल्याण से सम्बन्धित सभी योजनाओं में यही हमारा लक्ष्य एवं दृष्टिकोण चाहिये। इस विचारधारा को 'विलीनीकरणवाद' कहा गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है। आर्थिक पिछड़ापन एक समस्या हो सकती है, किन्तु पूर्णरूपेण आधुनिकीकरण उसका समाधान नहीं है। आदिवासी समुदाय परिवर्तन के प्रति उदासीन नहीं हैं। वस्तुतः स्वाधीनता के पश्चात् के पिछले पन्चीस वर्षों में जो भी परिवर्तन हुये हैं हमारे आदिवासी उन परिवर्तनों से विमुक्त नहीं रहे हैं। किन्तु उनके सांस्कृतिक जीवन को विच्छिन्न करके आधुनिकीकरण के नाम पर अपनी मान्यताओं की श्रेष्ठ मानते हुये उन पर लादना अनैतिक है। परिवर्तन के सिरे उन्हें बाध्य करना अनुचित ही नहीं मान्यनीय भी है। आधुनिक जीवन की मान्यताओं एवं मूल्यों उनकी परम्पराओं से श्रेष्ठ हैं, यह विचारधारा किसी भी प्रकार से सर्वोत्तम नहीं मानी जा सकती। अतः आधुनिकीकरण आदिवासियों की समस्याओं का समाधान नहीं है।

पिछले अध्याय में हमने यह दृष्टिकोण अपनाया है कि वास्तव में

आदिवासियों की अभिकांक्ष सशस्त्रों उनकी स्वजनित समस्याएँ न होकर सभ्य कहे जाने वाले उनके पड़ोसियों एवं प्रशासकों की देन हैं जो समय समय पर उनके संपर्क में आते रहे हैं और जिन्होंने अपने स्वार्थ सिद्धि के आवेश में मनमाने ढंग से उनका लोपण किया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उनकी समस्या पर अपना दृष्टिकोण निर्धारित करने से पहले उनके दृष्टिकोण उनकी मान्यताओं, भूखों एवं विचारों से परिचित हो।

देश के विभिन्न आदिवासी समुदाय विकास के भिन्न भिन्न स्तरों पर हैं। एक दूसरे से भिन्न उनकी आवासी परिस्थितियाँ आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाएँ उन्हें परस्पर अलग करती हैं। स्पष्ट है कि इन सांस्कृतिक विषमताओं के होते हुये हम सभी आदिवासियों के लिये एक सामान्य नीति निर्धारित नहीं कर सकते। हमें उनकी आवश्यकताओं एवं समस्याओं को उनके विशिष्ट सबंधों में समझना है। स्वाधीनता से पहले आदिवासियों के सबंध में प्रशासन की कोई निश्चित योजना नहीं थी। किन्तु अब यह हमारा राष्ट्रीय दायित्व हो गया है कि देश के अग्र सामान्य नागरिकों की भाँति हम उनकी ओर भी समुचित ध्यान दें। उन्हें अधिक समय तक उपेक्षित नहीं रक्खा जा सकता। ऐसा तभी संभव है जब हम उन्हें राष्ट्रीय जीवन से सम्बद्ध कर सकें और वे अपने को राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग समझ सकें। इसके लिये परिवर्तन आवश्यक है। किन्तु परिवर्तन की रूपरेखा कुछ ऐसी होनी चाहिये जिससे उनके जीवन में व्यतिक्रम एवं दुर्व्यवस्था का वातावरण न उत्पन्न हो। हमारा सपना उह उसी अवस्था में असाध्य हो उठता है जब हम उनके विशिष्ट सांस्कृतिक व्यक्तित्व पर आघात करते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने आदिवासियों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा था कि हमें किसी भी दशा में आदिवासियों को अपना अस्तित्व अपनी विशिष्टता समाप्त करने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। हम राष्ट्रीय एकता के नाम पर उन्हें अपने समान हो जाने पर विवश न करें। विविधताओं में एकरूपता का आदेश आदिवासियों के सम्बन्ध में हमारा उचित दृष्टिकोण होना चाहिये। किसी सुन्दर उपवन का सौन्दर्य उसमें खिले हुये पुष्पों की विविधता से और भी अधिक निखर उठता है। सांस्कृतिक विविधता हमारे राष्ट्र की विशिष्टता है। इसी विविधता को ही हमें राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरो देना है। हमें विश्वास है कि नेहरू की उक्त शायतायें बतलाने सदर्भ में आज भी उतनी ही सशक्त हैं।

अतः इस सम्बन्ध में हमारी प्रमुख समस्या यह है कि आदिवासियों

का राष्ट्रीय एकीकरण कैसे किया जाये, जिससे उनका विभिन्न सांस्कृतिक व्यक्तित्व बना रहे तथा देश की समृद्धि से वे भी लाभान्वित हों। इस समस्या के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। एक तो सरक्षणात्मक पक्ष तथा दूसरा विकासीय पक्ष। प्रथम पक्ष से हमारा तात्पर्य है उनके क्षेत्रों में जंगलों एवं भूमि आदि पर उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने की समस्या। अवांछनीय तत्वों के समय समय पर उनके इन अधिकारों का हनन किया है। द्वितीय पक्ष से हमारा तात्पर्य रचनात्मक एवं कल्याणकारी योजनाओं को निर्धारित करने की समस्या से है। इन दोनों पक्षों से सम्बन्धित उचित नीतियों को निर्धारित करके योजनाबद्ध कार्यक्रम के द्वारा ही समस्या का वास्तविक समाधान संभव है।

### संवैधानिक सुविधायें एवं संरक्षण

इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति का निर्धारण संविधान के माध्यम से आदिवासियों को प्राप्त सुविधाओं एवं संरक्षण के आधार पर ही सम्भव है। संविधान में उपर्युक्त दोनों पक्षों को महत्व प्रदान किया गया है। यद्यपि पिछले 23 वर्षों में किये गये काम में इन सुविधाओं एवं संरक्षण की पृष्ठभूमि में निहित भावना का पूणरूपेण अनुसरण नहीं किया जा सका है, फिर भी किसी सीमा तक उन्हें आधार मानकर कार्य किया गया है। मैदानी एवं पर्वतीय क्षेत्रों के आदिवासियों की समस्याओं में अन्तर है। जो भी कल्याणकारी योजनाएँ बनाई गईं उनमें पर्वतीय क्षेत्रों की अपेक्षा मैदानी क्षेत्रों में निवास करने वाले आदिवासियों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि पर्वतीय क्षेत्रों के अधिकांश आदिवासी (विशेषकर उत्तर एवं उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेशों के निवासी) राजनैतिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत अधिक अमान्य होने के कारण प्रशासन का ध्यान उनकी समस्याओं की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है।

स्वाधीनता के पश्चात् संविधान में आदिवासियों के कल्याण का उत्तरदायित्व विभिन्न राज्यों के गवर्नरों एवं राष्ट्रपति के माध्यम से देश की जनतात्मिक सरकार को सौंपा गया। ब्रिटिश प्रशासन काल में आदिवासियों को विधान मंडलों एवं स्थानीय निकायों में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। सन् 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत देश की विधान सभाओं में केवल 24 आदिवासी थे। इस उपेक्षा की नीति का परिणाम यह हुआ कि उनमें एक प्रकार से तटस्थता की स्थिति बनी रही। उनकी भूमि पर निरन्तर

राष्ट्रमन्त्रियों का अधिकार होता गया, जिससे उनकी आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती गई। प्रशासकीय एवं वनविभाग से सम्बन्धित कार्यों के लिए उनके बीच आये बाहरी तत्वों ने अपने निहित स्वार्थों के लिए उनका भरपूर शोषण किया। विदेशी मिशनरियों की गतिविधियों ने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया। इस निरन्तर उत्पीड़न की स्थिति से प्रभावित होकर यदा कदा समय समय पर उन्होंने अपने आक्रोश का प्रदर्शन भी किया।

तत्कालीन प्रशासन ने उनके दमन के साथ साथ कुछ सुधारवादी दृष्टि कोण भी अपनाया, किन्तु इन सबका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ब्रिटिश प्रशासन ने मूलरूप से आदिवासियों के सम्बन्ध में पृथक्तावादी दृष्टिकोण ही अपनाया। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध तत्कालीन अनेक मानवबैज्ञानिकों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये। आदिवासियों के कल्याण की ओर अनेक राष्ट्रीय नेताओं एवं राजनीतिज्ञों ने प्रशासन का ध्यान आकषिप्त किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रम में आदिवासियों का कल्याण भी एक प्रमुख कार्यक्रम था। महात्मा गाँधी ने आदिवासियों को अन्य देशवासियों के निकट लाने एवं उन्हें बराबरी के स्तर पर भाग्यता प्रदान करने पर बल दिया। उसी समय ए० बी० ठक्कर बापा भी आदिवासियों में सराहनीय कार्य कर रहे थे। वेरियर एलमिन ने महात्मा गाँधी एवं सरदार पटेल के आग्रह पर ही आदिवासियों में सेवा एवं अध्ययन कार्य आरम्भ किया था। बिहार में राय बहादुर शरतचन्द्र राय अपनी पुस्तकों एवं लेखों के माध्यम से आदिवासियों के अधिकारों के प्रति जनमत तैयार कर रहे थे। विशेषकर असम एवं बिहार में विदेशी मिशनरियों की गतिविधियों ने आदिवासियों में प्रगति की चेतना जागृत की। कुछ ब्रिटिश पदाधिकारियों जैसे ग्रिगसन एवं हटन ने भी आदिवासियों के कल्याण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये। इन सबके बावजूद भी स्वाधीनता के उपरान्त ही आदिवासी कल्याण के उत्तरदायित्व की ओर उचित ध्यान दिया जा सका। इसी उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुये संविधान सभा ने ठक्कर बापा की अध्यक्षता में एक उपसमिति का गठन किया जिसकी महत्वपूर्ण संस्तुति यह थी कि अत्यन्त निर्धन स्थानों में बसे हुये आदिवासियों के कल्याण के लिए भी राज्य का ही उत्तरदायित्व होना चाहिये। इस प्रकार से आदिवासी कल्याण भी सम्पूर्ण देश के विकास की समस्या का एक अंग बन गया।

इस स्थिति का आभास हमें संविधान में आदिवासियों से सम्बन्धित विभिन्न धाराओं से होता है। संविधान के अनुच्छेद 46 में कहा गया है कि

“राज्य देश के आदिवासियों एवं निम्नजातों (कमजोर वर्गों) के सामाजिक एवं आर्थिक स्थानों की कोई विशेष व्याप्त सेवा तथा उन्हें सभी प्रकार के सामाजिक अन्त्यास एवं अपेक्षा से सुरक्षा प्रदान करेगा।” इस आदेश उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए संविधान की धारा 244 में राष्ट्रपति को यह विशेष अधिकार दिया गया कि वह समय समय पर आवश्यकतानुसार असम के अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों की पाँचवीं सूची के अन्तर्गत तथा छठी सूची में केवल असम की आदिजनजातियों को सम्मिलित कर सकता है। पाँचवीं सूची में अनुसूचित क्षेत्रों पर भी राज्य सरकारों का ही अधिकार क्षेत्र माना गया है, किन्तु व्यवस्था यह है कि राज्यपाल कभी भी अपने विशेष अधिकारों के द्वारा इन क्षेत्रों के निवासियों के हित में राज्य एवं केन्द्रीय कानूनी व्यवस्था में परिवर्तन कर सकता है। संविधान की व्यवस्थाओं के आधार पर ही सभी प्रदेशों में जहाँ अनुसूचित क्षेत्र हैं वहाँ आदिजनजातीय सलाहकार समितियों की स्थापना की गई। राज्य के आदिवासियों के सम्बन्ध में राज्यपाल के लिए समय समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट देना अनिवार्य है। इन क्षेत्रों के सुवाद रूप से प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों को निर्भरित करने का अधिकार भी है।

संविधान की धारा 275 के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार आदिवासियों के कल्याण एवं उनमें सभी सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं के लिए राज्य सरकारों को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। धारा 336 332 तथा 334 में संसद एवं राज्य विधान सभाओं में आदिवासियों के लिए स्थान सुरक्षित करने का प्रावधान भी है। धारा 335 के अन्तर्गत राजकीय सेवाओं में भी आदिवासियों के लिए स्थान सुरक्षित किये गये। धारा 15, 16 एवं 19 में देश के अन्य सभी नागरिकों के समान नाग की जाने वाली व्यवस्थाओं में आदिवासियों की विशिष्ट व्यवस्थाओं को ध्यान में रखने की व्यवस्था है। उद्देश्य यह है कि उनके हितों एवं उनकी संस्कृति की सुरक्षा हो सके। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में इसीलिए एक अतिरिक्त मन्त्रालय की स्थापना की व्यवस्था की गई। इस प्रकार से, संविधान में प्रदत्त इन सुविधाओं एवं संरक्षण के माध्यम से आदिवासियों को सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बद्ध करने के प्रयास किये गये। इस आशय कर सकते हैं कि पिछले 25 वर्षों के अन्त में एक प्रभावशाली बहुमुखी विकास कार्यक्रम की योजना कर सम्पन्न हो सकता और सब इन विशेष सुविधाओं की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं होगा, जिसके परिणामस्वरूप इस अवधि में वृद्धि करनी पड़ेगी। यह निश्चित है कि



व्यवस्था को कार्यान्वित करने की दोग्धपूर्ण यद्दति का परिणाम है। जिससे निश्चित अवधि में ही वांछित परिणाम प्राप्त नहीं हो सके। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार पाँचवी सूची में आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र उड़ीसा एवं मध्य प्रदेश आदि राज्यों में कुछ क्षेत्रों को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया। इन क्षेत्रों में असम तथा केन्द्रशासित क्षेत्र सम्मिलित नहीं हैं। इन सभी राज्यों के राज्यपालों को यह अधिकार प्राप्त है कि राज्य में स्थित अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन के लिए उचित व्यवस्था कर। भूमि पर आदिवासियों के अधिकारों को सुरक्षित रखने तथा महाजनो आदि के आर्थिक शोषण से उन्हें मुक्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक कानूनी व्यवस्था करें। इस उत्तरदायित्व की पूर्ति में राज्यपाल को आविर्भूत भारतीय सलाहकार समिति की राय लेने का भी विधान है। इन क्षेत्रों का निर्माण दो प्रमुख उद्देश्यों से किया गया था। एक तो यह कि आदिवासी अपने वर्तमान अधिकारों का उपभोग करते रहे तथा दूसरा यह कि इन क्षेत्रों की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दिया जा सके जिससे लोगों की आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक उन्नति हो सके। पाँचवी सूची में आरक्षित क्षेत्रों के आदिवासियों के विशेष सवधानिक अधिकारों एवं सुविधाओं का उल्लेख तो है किन्तु इनकी पूर्ति के लिए पर्याप्त निर्देशों का अभाव है। इनके अभाव में राज्य सरकारों के लिए सामान्य विकास कार्यक्रमों के निर्धारण में समुचित वैधानिक व्यवस्था की सीमाओं एवं उनके महत्व का आभास नहीं हो पाता। जिस मनोवृत्ति से सवधानिक सुविधाओं को निश्चित किया गया था तथा एक निर्धारित समय में इनके परिणामों की आज्ञा की गई थी उस समय में निरन्तर बढ़ि करते रहने के कारण उस मनोवृत्ति की पूर्णतया अवहेलना हुई है। इसके लिए केन्द्रीय सरकार का यह उत्तरदायित्व होना चाहिये कि उसके द्वारा निश्चित समय में निर्धारित विकास कार्यक्रम पूरे हो तथा उसे इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को उचित निर्देश देते हुये अपना नियन्त्रण बनाये रखना चाहिये।

एक दूसरी कमी यह है कि राज्यों में विकास कार्यक्रमों पर खर्च किये गये धन का आकलन जिले के स्तर पर होता है। जब तक अनुसूचित क्षेत्रों को एक जिला न बना दिया जाये जबका उन क्षेत्रों में किये गये व्यय का अलग से आकलन न किया जाये तब तक वास्तविक सत्य की पूर्ति के आँकड़े उपलब्ध नहीं हो सकते। केन्द्र का उत्तरदायित्व केवल वित्तीय सहायता तक ही सीमित न होना चाहिये, बल्कि राज्य सरकारों का उचित निर्देशन भी केन्द्र का

उत्तरदायित्व होता चाहिये।

उपरोक्त स्थिति के बचनबूझ और पिछले पच्चीस वर्षों में जो कुछ कार्य किया गया है उसके आर्थिक परिणाम दिखलाई पड़ने लगे हैं। प्रशिक्षित अधिकारियों का यह वर्ग, जिसके विकास कार्यक्रमों के सम्बन्ध में आदिवासियों का सम्पर्क हुआ है, उनका हितचिन्तक एवं सहायक बन कर उनके बीच आया है और अधिकारित आदिवासियों ने उनकी मनोवृत्ति का स्वागत किया है। इसी की हम नियोजित सम्पर्क की सलाह भी दे सकते हैं। आदिवासियों के लिये यह एक नवीन अनुभव था जहाँ उन्हें अपने शोषण की आवाज नहीं थी। साथ ही इन कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप आदिवासी तथा अन्य क्षेत्रों के मध्य भौगोलिक पृथक्करण में भी कमी आई है। वे अपने चारों ओर की वृत्तिविधियों से परिचित हो सके हैं। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास की क्षेत्रव्यापी योजना एवं राजनैतिक चुनावों में आदिवासियों का बराबरी के स्तर पर योगदान, दो अन्य प्रमुख कारक हैं जिनसे उसने एक नवीन चेतना का प्रसार हुआ है। आदिवासियों तथा अन्यो के मध्य विभाजन रेखा किसी सीमा तक धीरे धीरे समाप्त होती जा रही है तथा सामान्य जनजीवन से उनके एकीकरण की भूमिका तैयार हो रही है। फिर भी सविधान की धाराओं में व्यक्त भावना का पूर्णरूप से पालन नहीं हो सका है। अप्रैल सन 1973 में बिहार विधानसभा ने एक संवत्स ने सम्मान यह वक्तव्य दिया कि आज भी बिहार के आदिवासी जलो में केवल 125/ रुपये के कज के लिये पिछले पैंतीस वर्षों से गुलामी करते रहने के बाद भी मूलजन अदा न कर पाये वाले व्यक्ति हैं। यह एक प्रमाण सदियों से चले आ रहे आर्थिक शोषण का प्रतीक मात्र है। आज भी वस्तर के आदिवासी बाजारों में दक्षिण भारत के महानगरों का एक वर्ग सक्रिय है जिसके हाथों में आदिवासियों के शोषण से करोड़ों की सम्पत्ति पकड़ चुकी है। यद्यपि इस सम्बन्ध में विभिन्न किये गये सर्वेक्षण के आधार पर एकत्रित त्वास हमें उबलाने नहीं हैं फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह समस्या केवल के लगभग सभी आदिवासियों में आज भी समान रूप से विद्यमान है। स्पष्ट है कि निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति में अभी बहुत कुछ कार्य करना चाहिये है। किन्तु पिछले तेइस वर्षों में किये किये गये प्रयासों का समय समय पर पुनर्वाक न करके यदि हम बार बार केवल समझ बढ़ाते रहे तो यह निश्चित है कि हमारे उद्देश्यों की पूर्ति असम्भव होगी। हमें अपनी कृटियों से सीखना होगा तथा भविष्य में अधिक सुचारु रूप से समयबद्ध कार्यक्रम चलाया जा सके इसके लिए एक योजना

बनायी होगी।

1. आदिवासियों को सम्पूर्ण राष्ट्रीय नीतिन में सरकारी के स्तर पर भाग लेता है वह एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। संविधान में प्रवेश मौलिक अधिकारों से आदिवासी वंचित न रहें वह देखना हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। हमारी राष्ट्रीय एवं भावनारमक एकता का दावरा इतना विभाजित ही जिससे संघियों से उपेक्षित आदिवासियों का समावेश भी हो सके। इसके लिए हमें सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर आदिवासियों से स्वस्थ सम्पर्क कायम करने होंगे। हम जानते हैं कि आदिवासियों की सभी समस्याओं का समाधान एक साथ एक तत्काल ही सम्भव नहीं है। इन समस्याओं के समाधान में प्राथमिकताओं का निर्धारण प्रयासों के नियोजन की आधारभूत है। किन्तु ये प्राथमिकतायें स्वयं गवेषणा के आधार पर ही निर्धारित की जा सकती हैं। मई सन 1972 में इन्डियन काउंसिल आफ सोशल रिसर्च तथा इन्डियन इस्टीमेट्स आफ एक्वास स्टडीज के समुक्त तत्वावधान में देश के सर्वोच्च मानव वैज्ञानिकों के सम्मेलन में इस समस्या पर विचार विमर्श हुआ जिसके परिणामस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आये हैं।

आदिवासी समस्याओं एवं परिस्थितियों से सम्बन्धित गवेषणा में मुख्य-रूप से आज दो ही सगठन सक्रिय हैं, जिनके माध्यम से समय समय पर वर्तमान वस्तुस्थिति से परिचय प्राप्त होता है। एक तो केन्द्रीय स्तर पर राज्य द्वारा संचालित भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण तथा दूसरे विभिन्न राज्यों में स्थित आदिवासी शोध संस्थान इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इन दोनों प्रकार के सगठनों में सम्बद्धता लाने के लिये इन्हे दो भिन्न प्रकार के काम सौंपे जा सकते हैं। यद्यपि विभिन्न आदिमजातियों पर समय समय पर लिखे गये वृत्तांत काफी सख्या में उपलब्ध हैं फिर भी इनमें से अधिकतम वृत्तांत हमें वर्तमान परिस्थितियों का आभास दे सकने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी छोटी छोटी आदिमजातियाँ भी हैं जिनके सम्बन्ध में कभी कुछ भी नहीं लिखा गया है और उनके सम्बन्ध में हमें कोई सूचना नहीं है। इन सबके बावजूद भी, जो भी सूचनायें हमें उपलब्ध हैं उनसे आदिवासी संस्कृतियों की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे समक्ष आ चुकी है। इन अध्ययनों के आधार पर हम अब ऐसी स्थिति में हैं कि ऐसे समस्यापूर्ण क्षेत्रों का निर्धारण कर सकें जहाँ वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा हम एक राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। अधिकांश आदिमवासीय वृत्तांत बहुत समय पहले लिखे गये थे। पिछले बीस वर्षों के काल में इस

प्रकार के कार्य में काफी विविधता आई है। इस सबके परिणामस्वरूप कार्य-योजना समझनेवाले के अनेक प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श सम्भव नहीं है। कई आदिवासी क्षेत्रों में विभाजन, द्वेष, हिंसा आदि की भावनाएँ जन्म ले रही हैं। जिन आदिवासियों में आज हमें अनेकानेक सार्वजनिक जीवन का भावना हो रहा है, वहाँ भी परिस्थिति किसी भी समय बर्बाद हो सकती है, क्योंकि उनकी आर्थिक प्रगति की गति अस्थिर, कम है तथा उनमें समाज कल्याण के क्षेत्र में किसे नये कार्यों की उपसंस्थित अत्यन्त मूल्य हैं। अतः आदिवासियों की आवश्यकताओं एवं उनकी समस्याओं पर नये सिरे से विचार एक एक नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता है। विशेष कर संविधान में निर्धारित सदस्यों की पूर्ति के सन्दर्भ में यह भी आवश्यक है। कई प्रकार की समस्याएँ आदिवासियों में अपने अपने दृष्टिकोण से शोधकार्य में सामन हैं, किन्तु उनमें परस्पर किसी प्रकार के सम्बन्ध का अभाव है। इस सम्बन्ध के अभाव में ही एक उचित राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में विफल हो रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी प्रकार की समस्याओं के कार्य को एक केन्द्रीय शोध कार्यक्रम के माध्यम से उचित निर्देशन में कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाये। इस सन्दर्भ में भारतीय मानव वैज्ञानिक सर्वेक्षण को राष्ट्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय शोध संस्थान के रूप में माना जा सकता है। दूसरी ओर विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में कार्य कर रहे आदिवासी शोध संस्थानों को इस केन्द्रीय संस्थान से सार्थक रूप से सम्बद्ध किया जा सकता है। हमारे समक्ष दो प्रमुख कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। एक तो जिन आदिवासियों के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है, उनका अध्ययन होना आवश्यक है। इनमें कम जनसंख्या वाले वे छोटे छोटे आदिवासी समुदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिनकी ओर अभी तक इसलिख ध्यान नहीं दिया गया है क्योंकि उनकी जनसंख्या कम है। दूसरे, कुछ ऐसे चुने हुए आदिवासी समुदायों का पुनः अध्ययन करना भी आवश्यक है, जिनमें बहुत समय पहले लिखे गये दस्तावेज हमें उपलब्ध हैं। किन्तु समाजों एवं अन्य माध्यमों से हुये परिवर्तनों के प्रभावों से उनकी परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे सभी संस्थाएँ विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन करके महत्वपूर्ण योगदान कर रही हैं। फिर भी यह आवश्यक है कि केन्द्रीय शिक्षा एवं समाज कल्याण विभाग अपने दृष्टिकोण से आवश्यक परिवर्तन लाकर, उनकी अध्ययनों के लक्ष्य को पुनः निर्धारित करने एवं एक समन्वय कार्यक्रम बनाने के लिए प्रेरित करे। इस कार्य में इतिवृत्त काव्यमय

आज सोशल रिसर्च से सहायकारी सहायता भी जा सकती है। यह परिवर्ष एक निर्धारित कार्यक्रम की रूपरेखा प्रदान करने में सहायक हो सकती है जिससे जायनिकताओं के निर्धारण में एकरूपता जा लके तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया गया सोल काय एक ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का आधार बन लके जिससे अतलोगत्वा एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण निर्धारित किया जा लके। यह कार्य विश्वविद्यालयों के विभागों के माध्यम से भी हो लकता है। इसमें मानव वैज्ञानिकों के अतिरिक्त अय सामाजिक वैज्ञानिकों की सहायता भी ली जा लकती है। किन्तु चूकि इन सभी अध्ययनों का उद्देश्य राष्ट्रीय नीति के निर्धारण के लिए एक उचित आधार एव आवश्यक सूचनायें प्रदान करना है अतः परिवर्ष द्वारा निर्धारित कायक्रम के अन्तर्गत किये गये अध्ययनों के परिणाम कम समय में ही उपलब्ध हो लकें यह आवश्यक है।

वर्तमान समय में परिवर्तनशील सामाजिक पर्यावरण से आदिवासियों के समायोजन से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सामान्य बृहद् विषय के अन्तर्गत विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों को निर्धारित किया जा लकता है जैसे आदिवासियों के देश की राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्यायें। देश की सामान्य राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के परिणामस्वरूप आदिवासियों में एक नवीन राजनीतिक व्यक्त्या का अन्वुदय हुआ जो कि उनकी परम्परागत व्यक्त्याओं से सर्वथा भिन्न है। कहीं कहीं पर इस परिस्थिति ने पृथकतावादी प्रवृत्ति को जन्म देकर राजनीतिक असन्तोष की स्थिति ला दी है। इन नवीन राजनीतिक गतिविधियों के प्रभाव में अधिकांश आदिवासी एक विशेष परिस्थिति में आ लुके हैं, जिसने समायोजन सम्बन्धी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। सामान्य राजनीतिक प्रक्रियाओं का अंग बन कर आदिवासी समुदायों का विभिन्न व्यक्तित्व घीरे घीरे समाप्त होता जा रहा है। परन्तु अपनी सामाजिक विभिन्नता को बनाये रखने का मोह भी वे नहीं त्याग लकते। परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार की तनावपूर्ण स्थिति में वे नवीन राजनीतिक प्रभावों का सामना कर रहे हैं। बिहार में प्रान्तीय स्तर पर आदिवासियों का राजनीतिक संगठन बर्हों की राजनीतिक अस्थिरता का कारण बन लुका है। एक ओर विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त होना सम्भव नहीं है और दूसरी ओर आदिवासियों के रूप में वे अपना पृथक अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। इसलिये किसी दल विशेष में वे अपने को लीन नहीं करना चाहते। इन प्रवृत्तियों के बीच विरन्तर अशान्त एवं तनावपूर्ण राजनीतिक स्थिति उनकी मानसिक अस्थिरता का

प्रमुख कारण है।

दूसरे प्रकार की समस्याएँ आर्थिक समस्याएँ हैं। संघर्ष एवं परिवहन सुविधाओं में तीव्र गति से प्रसार होने के साथ ही साथ आदिवासियों को परम्परागत आर्थिक जीवन प्रभावित हो रहा है। उन्हें भी विविध होकर सामान्य जनजीवन की आर्थिक क्रियाओं में भाग लेना पड़ रहा है। व्यवस्थित एवं संगठित बाजारों की अब व्यवस्था के प्रभाव उनकी परम्परागत आर्थिक व्यवस्थाओं को विच्छिन्न कर रहे हैं। नये आर्थिक अवसर नये नये मूल्यों को आरोपित कर रहे हैं। औद्योगीकरण की प्रक्रिया उनके आदिमजातीय सांस्कृतिक सामाजिक व्यक्तित्व को नष्ट कर रही है। उनके समीपस्थ स्थानों में बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों के चारों ओर नगरों एवं उपनगरों का विस्तार होता जा रहा है। आदिवासियों का आर्थिक पिछड़ापन एक प्रमुख समस्या है जिसके समाधान की प्राथमिकता दी जानी चाहिये। इस पर विचार करने के लिये उपयुक्त सभी स्थितियों का गहन अध्ययन आवश्यक है।

तीसरे प्रकार की समस्याएँ सांस्कृतिक समस्याएँ हैं। देश की औद्योगिक प्रगति के साथ ही साथ अथ समुदायों में उनके सम्पर्क तेजी से हो रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में उनका सांस्कृतिक जीवन पृथक् एवं अप्रभावित नहीं रह सकता। भाषा एवं क्षेत्रीय विलगता के परम्परागत सांस्कृतिक प्रतिरोध प्रभावहीन होते जा रहे हैं। परिवर्तन चाहे आंतरिक चेष्टाओं से हो अथवा बाह्य प्रभावों से हो सदैव एक प्रकार के विघटन को जन्म देता है। संस्कृतियाँ इन विघटनात्मक शक्तियों से समायोजन करने के लिये नवीन स्वरूप ग्रहण करती हैं। आज आदिवासियों में भी यही प्रक्रिया पाई जाती है। नये प्रभावों ने उनकी सांस्कृतिक विशिष्टताओं पर आघात किया है। नवीन एवं पुरातन के अंतर समाप्तप्राय होते जा रहे हैं। अधिकांश क्षेत्रों में आदिवासी संस्कृतियाँ बहद क्षेत्रीय संस्कृतियों में लीन होती जा रही हैं। कहीं कहीं पर इस परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप आदिवासी संस्कृतियाँ नवीन परिवेशों में उदित होकर अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व को एक नया स्वरूप देकर अपनी विशिष्टता को बनाये रखने का प्रयास कर रही हैं। इस सम्बन्ध में किये जाने वाले अध्ययनों में तीन बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। आदिवासियों की शिक्षा व्यवस्था, आधुनिकीकरण प्रक्रिया में उनका समावेश एवं राज्य द्वारा संचालित विकास एवं कल्याणकारी कार्यक्रमों में उनका योगदान। विकास कार्यक्रमों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात उल्लेखनीय है। अक्सर यह सन्देह व्यक्त किया

जाता है कि राज्य की ओर से आदिवासियों के विकास एवं कल्याण से सम्बन्धित कार्यक्रमों में जो धनराशि व्यय की जाती है उसका पूरा लाभ आदिवासियों को न होकर अन्य वर्गों तक भी पहुँच रहा है। अतः इन कार्यक्रमों का परीक्षण आवश्यक है। इन कार्य कर्मों के क्रियान्वित करने की विधियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। यह एक अति आवश्यक अध्ययन का विषय है।

उपर्युक्त प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए नियोजित अनुसन्धान के माध्यम से शीघ्र से शीघ्र समयबद्ध योजना के आधार पर एक ठोस राष्ट्रीय नीति का निर्धारण आज की प्रमुख आवश्यकता है। देश में तीव्रता से हो रहे परिवर्तनों के क्रम को रोकना अथवा सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रत्येक परिवर्तन में कुछ पीड़ाएँ भी होती हैं। विरि परिचित व्यवस्थाओं का स्थान जब नवीन व्यवस्थायें लेती हैं तो कुछ समस्याओं का जन्म लेना आवश्यक ही है। पुरातन से नूतन में पदार्थ कितना ही आशाप्रव क्यो न हो कष्टकारी भी होता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम एक ऐसा मानवीय दृष्टिकोण निर्धारित कर सकें जिससे ये कटुताएँ कम की जा सकें तथा आदिवासियों के लिए भी प्रगति के द्वार खोले जा सकें।

**परिशिष्ट**



## भारत की अनुसूचित आदिम जातियाँ

### अरुणाचल प्रदेश

अबोर	खोबा
आक्का	मिसमी
आपातानी	गोम्बा
डाफला	शीरडुकपेन
गलोग	सिचपो
खाम्पटी	बारमास

### असम

बोरो-बोरोकछारी	मीरी
देबरी	रामा
होजाई	बकमा
कछारी	दिमसा
लाखुग	हजोय
मेच	मिकिर

### मिजासम

गारो	हुमार
खासी	

### मणिपुर

नाक	सिटेय
-----	-------

बल्लिपुर

कुकी

मिळौराज

मिजो

मात

साखेर

पाकी

पश्चिमी बंगाल

हो

कोरा

लोघा खेडिया या खडिया

मल पहाडिया

मुडा

ओराँब

सथाल

भूमिज

भुटिया

चकमा

गारी

हुजांग

लेपचा

माध

महाली

मेच

म्रू

नगेसिमा

राभा

असुर

बैना

बजारा

बठूडी

बेडिया

बिश्निया

बिरहोर

बिरजिया

बेर

चिक बारैक

गोड

गोडैत

करमाली

खरबार

खोड

किसान

कोरबा

लोहरा

माहली

परहैया

सौरिया पहाडिया

सबर

## बिहार

असुर

बैगा

बंजारा

बटूडी

बेडिया

बिझिया

बिरहोर

बिरजिया

बेर

चिक बारिक

गोड

गोडैत

हो

करमाली

खडिया

## उत्तर प्रदेश

थाक

भोकसा

भोटिया

## उड़ीसा

बगाटा

बैगा

बंजारा या बजारी

बटूडी

भोटाडा या डोटाडा

भुइया या भुया

भूमिया

भूमिज

खरबार

खोंड

किसान

कोरा

कोरवा

लोहरा

माहली

मलपहाडिया

मुडा

ओराब

परहैय्या

उंघाल

सौरिया पहाडिया

सबर

भूमिज

राजी

जीनसारी

किसान

कोल

कोल्हा कोल लोहार

कोल्हा

कोली

कोंडाडोरा

कोरा

कोरवा

भुजिया  
 बिस्मल  
 बिस्मिया या बिस्मोजा  
 बिरहोर  
 बोदो पोरजा  
 बेंचू  
 डाल  
 देसुजा भूमिज  
 धरुआ  
 दिदायी  
 गडाबा  
 गाडिया  
 घारा  
 गोड गोडो  
 हो  
 काधा गौडा  
 होलबा  
 जटाप  
 जुआग  
 काधा गाडा  
 कवार  
 खडिया  
 खरवार  
 खोड या कष

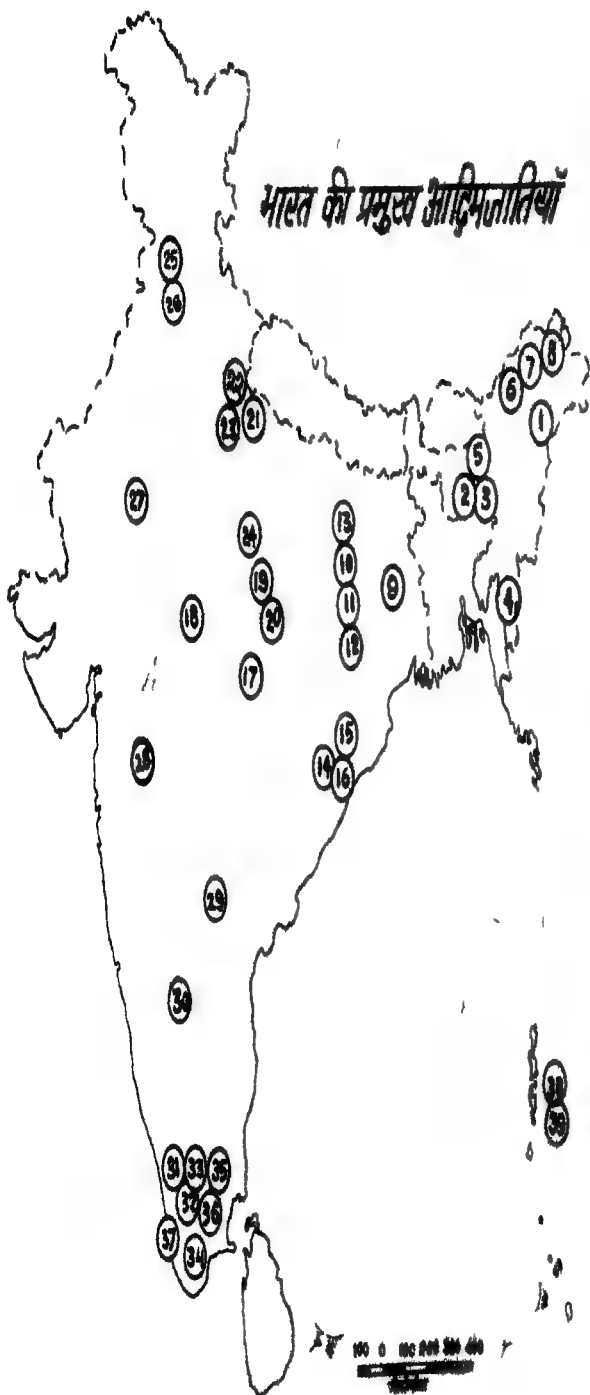
### मध्य प्रदेश

गोड  
 कोरकू  
 सेहारिया  
 भील  
 भिलाला

कोटिया  
 कोया  
 कुली  
 लोष  
 माडिया  
 महाली  
 मानकीदी  
 मानकिरदिया  
 मत्या  
 मिरघा  
 मुडा  
 मुडारी  
 ओमत्या  
 ओराब  
 परगा  
 परोजा  
 पेंटिया  
 राजौर  
 सथाल  
 साओरा  
 सबर या लोष  
 सोटी  
 थारुआ

मुडा  
 नगेसिया  
 निहाल  
 ओराब  
 परधान

# भारत की प्रमुख आदिमजातियाँ



1	नामा	21	बाह
2	सांसी	22	सांसा
3	गारो	23	भोक्सा
4	मिचो	24	कोरवा
5	कुकी	25	गद्दी
6	हाफली	26	गुक्जर
7	मिकिर	27	मीना
8	बापाताली	28	कटकरी
9	सधास	29	चैपू
10	बोरोब	30	येनासी
11	मुसा	31	टोडा
12	हो	32	कोटा
13	बिरहोर	33	बड़वा
14	ताकरा	34	इरुला
15	बोडो	35	पनिखन
16	खोंब	36	उरासी
17	पोड	37	काशार
18	मील	38	मोंब
19	बैरा	39	चरावा
20	कवार		

कन्ध  
 बैगा  
 बैना  
 भारिया-भूमिका  
 भरतरा  
 भूजिया  
 बिक्रवार  
 बिरहोर या बिरहुल  
 धनवार  
 गडावा या गावा  
 हलवा या हलबी  
 कमार  
 कावर  
 खैरवार  
 लड़िया  
 खोड या कोध या कध  
 कोल  
 कोलम  
 कोरवा  
 लक्षवार

### हिमाचल प्रदेश

गद्दी  
 गुज्जर  
 जड, लाम्बा, खम्पा और झोड

### पंजाब

गद्दी  
 स्वागला

### राजस्थान

भील

परखी  
 परजा  
 साबौला  
 सवर  
 जगारिया  
 बियार  
 माक्षी  
 मबासी  
 नट  
 पतिका  
 पावो  
 सौर  
 सोवर  
 करकू  
 कीर  
 मोगिया  
 भील भीना  
 दमोर  
 गरासिया  
 भीना

किसर या कनी  
 लाहुला  
 पंगवाला

भोट या बोध

भील भीना

दमोर  
गरासिया  
मीला  
सेठरिया  
बरवा  
बाबचा या बमचा  
चोघारा  
डाँका  
डोडिया  
दुबला  
गमिट  
गोड या राजगोड

कठोडी या कटकरी  
कोकना कोकली, कुकना  
कोली डोर  
नायका या नैकदा  
परघी  
पटेलिया  
पोमला  
रबाबा  
बरली  
बिटोलिया  
कोरकू

### महाराष्ट्र

बरवा  
बाबचा या बमचा  
मील  
चोघारा  
डाका  
डोडिया  
दुबला  
गमिट  
गोड या राजगोड  
कठोडी या कटकरी  
कोकना, कोकली, कुकना  
कोली डोर  
नायका या नैकदा  
परघी  
पटेलिया  
पोमला  
रबाबा

बिसवार  
बिरहोर या बिरहुल  
घनवार  
गढाबा  
हलबा या हलबी  
कमार  
कुबार  
खरवार  
खडिया  
कघ या खोड  
कोल  
कोलम  
कोरकू  
कोरवा  
भक्षवार  
भुंडा  
नयेसिया

बरखी  
बिटोलिया  
कुनबी  
कौधरी  
कोली भस्कर  
कोली महादेव  
ठाकुर या ठाकर  
बन्ध  
बैया  
भैना  
भारिया भबिया  
भतरा  
भील  
भुजिया

भान्ना प्रवेश

बैयू  
कोया  
गडाबा  
बगाटा  
जटापू  
कम्भारा  
कहूनेयकन  
कोडाबोरा  
कोडाकाकू  
कोंडारेड्डी  
कोथ  
कोटिया बिंधू  
कुलिया  
माली  
मलाधोरा  
मुन्नाधोरा

मिहारा  
बोरांग  
बरखान  
गरबा  
खामोता  
खबर  
कोया  
ठोटी  
सिद्दी  
बारबाथ  
बारन  
रबारी  
पबार  
बागरी

पोरजा  
रेड्डीबोरा  
दोना  
साबरा  
सुगाली  
येनावी  
येरकुसा  
बन्ध  
भील  
पोंड  
कोलम  
बरखान  
कोटी  
बोहू  
मन्धक  
बास्वीकि



## कर्मविवेक

गोडावू  
 हक्की पिक्की  
 हसादाह  
 इकलिया  
 जेनूकुखा  
 काइकुखा  
 माभाइकुडी  
 मलेह  
 सोलीयारु  
 बरडा  
 बमबा  
 सील  
 बोधारा  
 ठाका  
 ठोडिया  
 दुबला  
 गामटा  
 राजगोड  
 कठोडी  
 कोकना  
 कोलीठोर  
 लैकवा  
 परखी  
 पटेलिया  
 पोमला  
 रधावा  
 वरली  
 बिटोलिया  
 चेंबू  
 कोबा

बोटी  
 भाडियान  
 जरनाडन  
 इरुलार  
 कादार  
 कम्मारा  
 कहूनायकन  
 कोडाकाकुश  
 कोडा रेड्डी  
 कोरागा  
 कोटा  
 कुडिया  
 कुरीचाचन  
 कुहम्मन  
 महाबालासार  
 मलाइकडी  
 मुडुगार  
 पलियान  
 पनियान  
 पुलायन  
 सोलगा  
 टोडा  
 कनियान  
 मारटी  
 पोरामा  
 कुडिया  
 कोरुबा  
 मराठा  
 मेडा  
 येराबा

सामिलनाहू

कादार  
इस्लाज  
आडियान  
अरनादन  
कम्भारा  
कहूनायकन  
कोडाकाकुश  
कोडारेडुी  
को रागा  
कोटा  
कुडिया  
कुरीचाचन  
कुरुमान  
मालसर  
महाईकिणी  
मुडुगार  
पलियान  
पनियान  
कुलायन  
शोलगा

केरल

कादार  
इस्लाज  
मुथुवान  
इरावल्लन  
कन्निकर  
कोच्चूवेलन  
मालाकुरंबन

टोडा  
भसयाली  
कनियान  
कुरुम्बा  
इराबालन  
कानिकरन  
कोच्चूवेलन  
मालाकुरंबन  
मलाईआयन  
मलाईपण्डरम  
मल्लईवेडन  
मलायान  
मलायारायार  
मन्नन  
मुथूरान  
पलियार  
उल्लाडान  
उराली  
विशावन

कवियान  
अरनादन  
कम्भारा  
कहूनायकन  
कोडाकाकुश  
कोडारेडुी  
कोरागा

मलाईबार्न  
 मलाईपंडर  
 मलाईबिडन  
 मलायान  
 मलायारायार  
 मम्मन  
 पत्तयान  
 पत्तियार  
 उस्तादान  
 उराली  
 बिशवान

कोटा  
 कुडिया  
 कोरीबन्धन  
 कुडमान  
 मालामलसार  
 मलायकाण्डी  
 पनियान  
 पुलावान  
 कुरुम्बा  
 भारती



## प्रस्तावित पाठ्य सामग्री

### अध्यास 1

- |                              |   |   |
|------------------------------|---|---|
| Anderson J D                 | — | The Peoples of India, Cambridge 1913                        |
| Atal Yogesh                  | — | Adivasi Bharat  |
| Bailey F G                   | — | Tribes, Caste and Nations, Manchester University Press 1960 |
| Ghurey, G S                  | — | Scheduled Tribes, Bombay 1959                               |
| Govt of India                | — | Advasi, Delhi 1959  |
| Publication                  |   |   |
| Iyer, L A K & Balaratnam L K | — | Anthropology in India 1961                                  |
| Mamoria, C B                 | — | Tribal Demography in India, Kitab Mahal Delhi               |
| Rusley, H H                  | — | The Peoples of India, Calcutta 1915                         |

### अध्यास 2

- |                                |   |   |
|--------------------------------|---|---|
| Bhartiya Adim Jati Sewak Sangh | — | Tribes of India, Delhi 1957   |
| Chandra Shekhar S              | — | Indian Population facts and Policy 1950   |
| Das, T C                       | — | Classification of the Tribes in India, Report of the IVth Conference for Tribes and Tribal areas 1959 |
| Elwin, V                       | — | The Aborigines, Bombay D P I, Pamphlet No 14, 1943,   |

- Grierson Sir G A — The Linguistic survey of India and the census of 1911, Calcutta, 1919
- Guha, B S — The Racial Elements in Indian Population
- Iyer, L K A — Lectures in Ethnology
- Majumdar D N — Races and Cultures of India
- Rusley H H — The Peoples of India Calcutta 1915
- Sarkar S S — The Aboriginal Races of India Calcutta 1974

## अध्याय 3

- Bose N K — Tribal Life in India
- Ehrenfels U R — Kadar of Cochin Madras 1952
- Fordé, C D — Habitat Economy and Society, London 1957
- Furer-Haimendorf  
C Von — The Chenchus London 1945  
The Naked Nagas, Calcutta 1946  
The Apatanis and their Neighbours  
London 1962
- HersKowitz M S — Economic Anthropology New York 1953
- Mandelbaum D G — Cultural Change among the Nilgiri Tribes, American Anthropologist Vol 43, Jan-Mar 1941
- Murdock G P — Our Primitive Contemporaries New York 1961
- Nag D S — Tribal Economy Delhi 1958
- Saxena, R N — Social Economy of a Polyandrous people, Agra 1955

## अध्याय 4

- Bose N K — Cultural Anthropology Calcutta 1963
- Das, T C — Social Organization of the Tribal

- People, Delhi, Indian Journal of Social Work, Vol XIV-1951
- Ehrlich, V — The Kingdom of the Young, Bombay 1968
- Gorwami, M C. & — Social Institutions of the Garo of  
Majumdar, D N, Meghalaya, Calcutta 1972
- Karve, Iravati — Kinship Organization in India, Poona,  
Deccan College, 1962
- Kapadia, K M — Marriage and Family in India,  
Bombay
- Mathur, K S &  
Agrawal B C. (ed) — Tribe, Caste and Peasantry
- Majumdar D N — Races and Cultures of India, Asia  
Publishing, Bombay
- Majumdar D N & — Introduction to Social Anthropology  
Madan T N — Bombay 1956
- Majumdar D N — Himalayan Polyandry
- Makane, C — Garo and Khasi A Comparative study  
in Matrilineal system Paris 1967
- Sachchidananda — Profiles of Tribal Cultures in Bihar
- Schneider D N & — Matrilineal Kinship Berkeley and Los  
Angeles-1961
- Gough K — Cultural Contours of Tribal Bihar,  
Calcutta 1964
- Vidyarthi, L P —

अनुसूची 5

- Bailey F G — Tribe, Caste and Nation, Manchester  
University Press, 1960
- Bailey, F G — Stratagems and Spoils-A social Anthro-  
pology of Politics
- Chattopadhyaya, — Report on Santhals in Bengal, Calcutta  
K P — University Press 1947
- Das Gupta K K — A Tribal History of Ancient India,  
Calcutta
- Gluckman, M — Politics, Law and Ritual in Society,  
Chicago-1965.

- Joshi, M M — *Bastar-India's Sleeping Giant*, New Delhi 1967
- Majumdar, D N — *Matrix of Indian Culture*, Lucknow 1947
- Singh Inderjit — *Gondwana and the Gonds*, Lucknow 1944
- Vaidyarthi, L. P — *Indian Anthropology in Action (ed)*, Ranchi 1960

## अध्याय 6

- Dutta K K — *The Santhal Insurrection of 1855-57*, Calcutta' 40
- Elwin, V — *The Naga in the 19th Century*, Bombay 1969
- Fuchs Stephon — *Rebellious Prophets* Bombay 1965
- Goswami B B — *The Mizo Movement Bulletin of the Anthropological Survey of India* 1971
- Kar P C. — *British Annexation of Garo Hills* Calcutta 1920
- Orans Mutia — *The Santhal A Tribe in search of a Great Tradition* Detroit 1965
- Singh K S — *Tribal Situation in India (Ed) Simla*
- Raghaviah, V — *Tribal Revolts, Bhartiya Adim Jati Sewak Sangh*

## अध्याय 7

- Elwin, V — *Bondo Highlanders* O U P 1958
- *The Religion of an Indian Tribe*, London 1955
- Furrer-Haemendorf, — *The After Life in Indian Tribal Belief*  
C Von *Journal of Royal Anthropology Institute*, London 1953
- Fuchs, Stephen — *Man in India*
- Furrer-Haemendorf, — *The Raj Gonds of Adilabad, Myths and Ritual*, London 1948,  
C Von

- Ghurey, G S. — *Scheduled Tribes, Bombay 1959*  
 Majumdar, D N — *The Affairs of Tribe Lucknow 1950*  
 Roy, S C. — *The Oraon Religion and Customs, 1926*  
 Srinivas, M N — *Religion and Society among the Coorgs of South India, Oxford 1952*

अनुसूचित ४

- Aiyappan, A — *Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginal Tribes of the Province of Madras, 1948*  
 Bose, N K — *The Hindu Method of Tribal Absorption, Science and Culture Vol VI 1941*  
 Dube, S C — *Approaches of Tribal Problems—Indian Anthropology in Action. Ranchi 1960*  
 Elwin V — *The Loss of Nerve, Bombay 1942*  
                               *The Tribal World of Varier Elwin, London 1964*  
 Ghurey G S — *Scheduled Tribes, Bombay 1959*  
 Govt of India — *The Adivasis Delhi 1959*  
 Guha, B S — *The Indian Aborigines and their administration, Journal of Asiatic Society Vol XVII 1951*  
 Jay E J — *The Anthropological and Tribal Welfare, Hill Muria, A Case Study—Journal of Social Research, Ranchi 1959*  
 Kalia, S K — *Sanskritization and Tribalization, Bulletin of the Tribal Research Institute, Chhindwara, April, 1959*  
 Majumdar, D N — *A Tribe in Transition, London 1937*  
 Majumdar, D N & — *An Introduction to Social Anthropology, Bombay 1952*  
                               Madan, T N —  
 Nath, K. S — *Some Problems of Tribal Rehabilitation*



- tion in M P Journal of Social Research III-2, 1960
- Tribal Identity, The Eastern Anthropologist Vol. XXII-2, 1969
- Sachchidananda — Culture Change in Tribal Bihar, Calcutta 1964
- Sahay K. N. — Trends of Sanskritization among the Oraon, Ranchi Bulletin of Bihar T R I Vol IV No 2, Sept 1967
- Vidyarthi, L. P. — Applied Anthropology in India (Ed), Allahabad 1968
- Socio Cultural Implications of Industrialization in Tribal India Report submitted to the S P C of the Planning Commission Delhi 1970

#### संभाव 9

- Bose N. K. — Anthropology and Tribal Welfare Report of the Fourth Conference for Tribes and Tribal Areas Delhi 1957
- Problems of National Integration Simla 1967
- Dhebar U. N. — Report on the Scheduled Tribes, Delhi, Govt of India, 1960
- Elwin, V. — The Philosophy for NEFA Shillong 1960
- New Deal for Tribal India, Delhi 1963

## संदर्भ ग्रंथ सूची

- Aiyappan, A — 'Nair Polyandry', Man No 55 1934  
 — Social & Physical Anthropology of the Nayadis of Malabar, Madras, 1937  
 — Iravas & Culture Change, Madras, 1944  
 Report on the Socio-Economic Conditions of the Aboriginal Tribes of the Province of Madras, 1948
- Anderson, J D — The Peoples of India, Cambridge, 1913
- Archer W G — 'The Santal Problem Man in India, Dec 1945  
 — Tribal Heritage London 1949
- Arya, B S — Kolta Enquiry Committee Report (Hindi), Lucknow 1960
- Atal, Yogesh — Adivasi Bharat, Delhi, 1965
- Baleja, J D — Across the Golden Heights of Assam & NEFA, Calcutta Modern Book Depot
- Bagchi P C — Pre-Aryan & Pre-Dravidian in India Calcutta 1920
- Bahadur, F & Sharma D K — Bhils of Madhya Pradesh Consumption Pattern, Tribal Research Institute, Bhopal, 1970  
 — Murias of Bastar—Consumption Pattern, Tribal Research Institute, Bhopal 1971
- Bailey, F G — Tribe, Caste & Nation, Manchester

- Baines, A — University Press, 1960
- Census of India, 1891, Report
- Ethnology, Strassburg, 1912.
- Ball, V — Jungle Life in India, London, 1880
- Bannerjee Dr A P — The Asur India, 1926
- Bannerjee, M — Primitive Man in India, Ambala, 1964
- Barkatakī, S — Tribes of Assam, Delhi, National Book Trust 1969
- Barnes E — The Bhils of Western India, Journal of the Society of Arts Vol LV 1906-07,
- Best, J W — Forest Life in India 1935
- Bhargava B.S — Criminal Tribes Lucknow 1949
- Bhartiya Adimjati Sewak Sangh — Tribes of India Delhi 1957
- Baddulph I — Tribes of Hinukoosh, 1880
- Biswas P C — Santals of Santal Parganas Delhi 1956
- Bose, J K — The Garo Law of Inheritance, Anthropological Paper (New Delhi) ■ Calcutta 1941
- Bose, N K — The Hindu Method of Tribal Absorption, Science & Culture Vol VI 1941
- Anthropology & Tribal Welfare Report of the Fourth Conference for Tribes & Tribal Areas, Delhi, 1957
- Cultural Anthropology, Bombay 1962
- Fifty Years of Science in India—Progress of Anthropology & Archaeology, Calcutta, 1963
- Culture and Society in India, Calcutta, 1967
- Problems of National Integration, Simla, 1967
- Tribal Life in India, Delhi, 1971
- Bouding, P O — Traditions & Institutions of the San-

- |                          |   |  |
|--------------------------|---|--|
|                          | — | 1881, Calcutta, 1942   |
| Bower, U G.              | — | Naga Path, London, 1930  |
| Campbell, J              | — | A Personal Narrative of Thirteen Years' Service Amongst the Wild Tribes of Khondistan London, 1864     |
| Cantlie, Keith           | — | Notes on Khasi Law, Henry Munro Ltd., 1934   |
| Chanda, R P              | — | The Indo Aryan Races, Rajasthan 1916.  |
| Chandrashekhar, S        | — | Indian Population—Fact & Policy, 1950  |
| Chatterji, A. & Das, T C | — | The Hos of Sarankella, Calcutta, 1927  |
| Chatterji D D            | — | The Story of Gondwana, London 1916   |
| Chattopadhyay K P        | — | Report on Santals in Bengal Calcutta University Press 1947   |
| Chaturvedi S C           | — | Andaman Island, Delhi, National Book Trust   |
| Cooper, T T              | — | The Mishmee Hills London, 1873   |
| Crooke W                 | — | Tribes & Castes of the N W Provinces & Oudh, Calcutta, 1896  |
| Culshaw, W J             | — | Tribal Heritage (The Santhal) London 1949  |
| Dalton E T               | — | Descriptive Ethnology of Bengal, Calcutta, 1872  |
| Das, T C                 | — | Social Organisation of the Tribal People', Delhi, Indian Journal of Social Work, Vol XIV, 1953         |
|                          | — | Classification of the Tribals of India, Report of the Fourth Conference for Tribes & Tribal Areas 1957 |
|                          | — | The Parangs  |
|                          | — | The Bhumiya of Sarankella.   |
| Das, T                   | — | The Wild Kharias of Manbhum, Calcutta, 1931  |
| Datta, K.K               | — | The Santal Insurrection of 1855 57.  |

- Calcutta, 1940
- Datta Majumdar, -- The Santal, A Study in Culture  
N Change, 1956
- Dhebar, U N -- Report on Scheduled Tribes, Delhi,  
Govt. of India, 1960
- Doshi, S L -- Bhils, Delhi 1971
- Dube, S C -- The Kamar, Lucknow, 1951  
-- Manav Aur Sanskriti  
-- Approaches of Tribal Problems  
Indian Anthropology in Action,  
Ranchi, 1960
- Ehrenfels U R -- Kadar of Cochun, Madras, 1952
- Eckstedt, E V.F -- The Travancore Tribes & Castes,  
Trivandrum 1939
- Ellis R H -- A Short Account of the Laccadive  
Islands & Minicoy, Madras, 1924
- Elwin V -- The Baiga London 1939  
-- The Agaria, Oxford, 1942  
-- The Loss of Nerve, Bombay 1942  
-- Maria Murder & Suicide, O U P ,  
1943  
-- The Aborigines Bombay D P I  
Pamphlet No 14, 1943  
-- Bondo Highlanders O U P 1950
- Elwin, V -- The Religion of an Indian Tribe,  
London, 1955  
-- India's North East Frontiers in the  
19th Century, London, 1959  
-- The Philosophy for NEFA, Shillong,  
1960  
-- When the World was Young Delhi,  
1961  
-- Nagaland, Shillong, 1961  
-- New Deal for Tribal India, Delhi,  
1963,  
-- The Tribal World of Verrier Elwin,  
London, 1964

- The Kingdom of the Young, Bombay, 1962.
- The Nagas in the 19th Century, Bombay, 1969
- Endie, Sidney — The Kacharis, London, 1911
- Enthowern, R.E. — Tribes & Castes of Bombay, (3 Vols), Bombay, 1920.
- Fawcett, F — The Nayers of Malabar, Madras, 1915
- Forde, C D — Habitat, Economy & Society, London, 1957
- Forsyth J — The Highlands of Central India, 1876
- Frazer, J G — The Golden Bough
- Fuchs, Stephen — Census of India 1941, Vol XVI Pt I
- The Gond & Bhumsia of Eastern Mandia Bombay, 1960
- Rebelious Prophets, Bombay 1965
- Furrer-Haemendorf
- C Von — The Chenchus London, 1943
- The Reddis of the Bison Hills, London, 1945
- The Tribal Population of Hyderabad, Hyderabad, 1945
- The Naked Nagas, Calcutta 1946
- The Raj Gonds of Adilabad—Myth & Ritual, London, 1948
- 'The After life in Indian Tribal Belief,' Journal of Royal Anthropology Institute, 83, 1 London 1953.
- The Apatana & Their Neighbours, London, 1962
- Gait, E.A. — Census of India, 1911, Report Vol I, Pt I
- Gates R.R. — Human Ancestry, Cambridge, Mass, 1948.
- Ghurye, G S — The Abergones So-called & Their Future, Poona, 1943.

- The Mahadev Kols, Bombay, 1957  
 — Scheduled Tribes, Bombay 1959  
 Gilbert, W A — Peoples of India, Washington, 1944  
 Gauffride, Ruggeri — Arch Anthropol Etnol Firenze XLVII  
 1917 (Translated by Chakladar, H C.)  
 Gluckman, M — Politics Law & Ritual in Society  
 Chicago, 1965  
 Goswami, B B — The Mizo Movement, Bulletin of the  
 Anthropological Survey of India 1971  
 Goswami M C. & — Social Institutions of the Garo of  
 Majumdar D N Meghalaya, Calcutta 1972  
 Govt. of India — The Adivasis, Delhi 1959  
 Govt of M P — A Study of Tribal People & Tribal  
 Areas of Madhya Pradesh, Bhopal,  
 1967  
 — The Tribes of Madhya Pradesh  
 Bhopal, 1964  
 Govt of Rajasthan — Tribal Rehabilitation in Rajasthan  
 1956  
 Graham, D.C — A Brief Historical Sketch of Bheel  
 Tribes Inhabiting the Province of  
 Khandesh, 1843  
 Griffiths, Walter G — The Kol Tribe of Central India  
 Calcutta, 1946  
 Grierson, Sir G A — The Linguistic Survey of India & the  
 Census of 1911 Calcutta, 1919  
 Grigson, W V — The Maria Gonds of Bastar Oxford,  
 1938  
 — The Aboriginal Problems of C. P. &  
 Berar, Nagpur  
 — Notes on the Settlement of the Abhugh  
 near Villages, Document C-14, Jodhpur  
 Record Room Baster  
 Guha, B.S. — Census of India 1931 Delhi, 1935.  
 — The Racial Elements in Indian Popu-  
 lation, Bombay, 1938  
 — The Indian Aborigines & their

- Administration, Journal of Asiatic Society, Vol. XVII, 1951
- Gupta, K. K. Das — A Tribal History of Ancient India, Calcutta.
- Haddon, A. G. — Wanderings of People.  
— Head Hunters, 1901
- Hampton, F. B. — The Abor Jungle, London, 1912
- Harem, K. — Traditions & Institutions of the Santals, Benarona 1887
- Harkness, H. — A Description of a Singular Aboriginal Race Inhabiting the Summit of the Nilgherry Hills London, 1832
- Hasan Amir — A Bunch of Wild Flowers, Lucknow
- Herskovits M. J. — Economic Anthropology New York, 1952
- Huslop — Aboriginal Tribes of the Central Provinces.
- Hivale, S. — The Pardhans, Oxford, 1946
- Hobhouse L. T. &  
Wheeler, G. G. & — The Material Culture & Social Organizations of the Simpler People, London, 1930
- Ginsberg M
- Hodson T. C. — The Meiteis of Manipur London, 1908.  
— The Naga Tribes of Manipur, London, 1912  
— The Primitive Culture of India, 1922
- Hosbel, E. A. — Anthropology—The Study of Man, New York, 1949
- Hoffman, J. — Encyclopaedia Mundarica, Patna, 1950.
- Hutton J. H. — The Angami Nagas, London, 1921  
— The Sema Nagas, London 1921.  
— Census Report of India—1931, Vol I, Pt. I, Delhi, 1932.
- Iyer, A. K. — The Cochin Tribes & Castes, 2 Vols, Madras, 1912.



- Iyer, L A K. — Travancore Castes & Tribes, 2 Vols  
Trivandrum 1938 & 1939
- Iyer, L A K. & Bala  
Ratnam, L K — Anthropology in India, 1961
- Iyer L K A — The Cochin Tribes & Castes 1909  
— Lectures on Ethnology 1925,  
— The Mysore Tribes & Castes, 1928  
— The Travancore Tribes & Castes, 1937
- Jay E J — The Anthropologist & Tribal Welfare  
Hill Maria a Case Study Journal of  
Social Research Ranchi, 1959
- Jay E J — A Tribal Village of Middle India,  
Calcutta 1970
- Johnstone, J — My experience in Manipur & the Naga  
Hills, London, 1896
- Josh, M M — Bastar-India's Sleeping Giant New  
Delhi 1967
- Kalia, S K — Sanskritization & Tribalization  
Bulletin of the Tribal Research  
Institute Chhindwara April 1959
- Kapadia, K M — Marriage & Family in India Bombay  
— The Matrilineal Social Organization  
of the Nagas of Assam
- Kar P C. — British Annexation of Garo Hills  
Calcutta 1970
- Karve I — Kinship Organisation in India, Poona,  
Deccan College, 1962
- Karve, I & Majumdar, D N — Racial Problems in Asia Indian  
Council of World Affairs 1948
- Khanpurkar D V — Aboriginal Tribes of South Gujarat,  
(Unpublished Thesis Bombay Uni  
versity)
- Kitts E J — A Compendium of the Castes & Tribes  
in India 1885
- Kroeber, A L — Anthropology Chicago, 1923
- Kutty, A.R — Marriage and Kinship in an Island  
Society, Delhi, 1972

- Lacey, N G — Notes on the Santals & other Chhota Nagpur Tribes, Census of India, 1931, I Pt 3 (b), 1933
- Lalit 'Nakung' — Sansar Ki Adimyatryan, Lucknow, 1954
- Latham, R G — Ethnography of India London, 1959
- Law, B.C — Ancient Indian Tribes, Vol. I, Lahore, 1926  
Ancient Indian Tribes, Vol II, London, 1934
- Leuva K K — The Asur, Delhi, 1963
- Lewin, Lt Col — Wild Race of South Eastern India, T A 1870
- Luard, C E — The Jungle Tribes of Malwa, Monograph No 11 Lucknow, 1909
- Luz, A A.D — Tribes of Mysore.  
— Tribes of Madras  
— Nomadic Tribes of India  
— Tribes of Kerala Delhi 1962
- Mac Alpin, M C — Report on the Conditions of the Santals in the district of Barbham, Midnapore & North Balasore 1909
- Madan T N & Sarana, G — Indian Anthropology (ed), Bombay 1962
- Mahapatra, L K — Transformation of Tribal Society in India, Delhi University, National Lecture 1970
- Majumdar, D.N — A Tribe in Transition London, 1937  
— The Fortunes of Primitive Tribes, Lucknow, 1944  
— The Matrix of Indian Culture, Lucknow, 1947  
— The Affairs of a Tribe, Lucknow, 1950.  
— Races and Cultures of India, Bombay, 1958  
— Himalayan Polyandry, Bombay, 1962

- Majumdar, D N & Madan T N** — *An Introduction to Social Anthropology* Bombay, 1956
- Mandelbaum, D G** — *Cultural Change Among the Nilgiri Tribes* *American Anthropologist* Vol 43, Jan-Mar, 1941
- Man, E G** — *Santhalia & Santhals* Calcutta, 1867
- Man E H** — *On the Aboriginal Inhabitants of the Andaman Islands*, London 1932
- Marshall W E** — *A Phrenologist Amongst the Tribes* London 1873
- Mathur, K K** — *Nicobar Islands* Delhi
- Mathur, K S** — 'Some Problems of Tribal Rehabilitation in M P *Journal of Social Research*, III-2 1960
- 'Tribal Identity *The Eastern Anthropologist*, XXII-2 1969
- *Manav Pragati ki Kahani* Lucknow 1971
- Mathur, K S Shukla, B R K & Singh Banvir** — *Studies in Social Change* (Ed) Lucknow 1973
- Mathur K S & Verma S C** — *Man & Society* (Ed) Lucknow 1972
- Mathur K S & Agarwal B C** — *Tribes Caste & Peasantry* (Ed), Lucknow 1974
- Majumdar B C** — *The Aborigines of the Highlands of Central India* Calcutta 1927
- M E Culluch, W** — *Account of the Valley of Munnipore & of the Hill Tribes* Calcutta 1859
- Mamoria, C B** — *Tribal Demography in India*, Kitab Mahal
- Metz, J F** — *The Tribe Inhabiting the Neilgherry Hills, Mangalore* 1864
- Mills J P** — *The Lhota Naga* London, 1922
- *The Ao Naga* London 1926
- *The Rengama Naga* London, 1937,

- Mitchell — North East Frontiers of India.
- Morgan, L.H. — Ancient Society, New York, 1877
- Mukherjee, C — The Santals, Calcutta 1962
- Murdoch, G P — Our Primitive Contemporaries, New York, 1961
- Nadel, S F — Foundations of Social Anthropology, London 1953
- The Theory of Social Structure, London, 1957
- Nag, D S — Tribal Economy Delhi 1958
- Naik, T B — The Bhils, Delhi, 1956
- Naik T B & — Tribal Economic Organization & Bhouraskar K M Market, Chhindwara 1964
- Nakane C — Garo & Khasi, A Comparative Study in Matrilineal System Paris, 1967
- O Malley L S S — Popular Hinduism, the Religion of Masses, Cambridge 1935
- Modern India & the West (Ed), Oxford 1941
- Oppenheimer F — The State (Translated from German by Gitterman) New York 1922
- Orans, Mutin — The Santal A Tribe in Search of a Great Tradition Detroit, 1965
- Oswalt W H — Other Peoples Other Customs New York, 1972
- Pant, S D — Social Economy of the Himalayas, Lucknow
- Parry, N E — The Lakhers, Macmillan, 1932
- A Monograph on Lushai Customs & Ceremonies, Assam Govt. Press.
- Pearson, Roger — Introduction to Anthropology New York, 1974
- Pemberton R B. — Report on the Eastern Frontier of British India Calcutta, 1835
- Playfair, A — The Garos, London, 1909
- Radcliff Brown, — The Andaman Islanders, Cambridge, A.R., 1922,

- Ray, P C. — The Effect of Culture Contact on the Personality Structure of two Indian Tribes the Riang of Tripura and the Baiga of M P, Calcutta, Anthropological Survey of India Research Bulletin Vol VI No 2 1957
- Risley H H — The Study of Ethnology in India' Journal of Anthropological Institute, Vol XX 1890  
 — The Tribes & Castes of Bengal, 4 Vols Calcutta 1891  
 — The Peoples of India Calcutta, 1915
- Rivers, W H R — The Todas, London, 1906  
 — Social Organization London 1932
- Rowney H B — The Wild Tribes of India London 1882
- Roy S C — The Mundas and their Country Calcutta 1912  
 — The Oraons of Chhota Nagpur Ranchi 1915  
 — The Birhor Ranchi 1925  
 — The Oraon Religion & Customs 1926  
 — The Hill Bhuiyas of Orissa Ranchi, 1935
- Roy S C &  
 Roy, R C — The Kharias Ranchi 1937
- Russel R N &  
 Hira Lal — The Tribes & Castes of the Central Provinces of India Vol I-IV London, 1916
- Sachchidananda — Culture Change in Tribal Bihar Calcutta, 1954  
 — Profiles of Tribal Culture in Bihar  
 — Tribal Village in Bihar  
 — 'Tribe-Caste Continuum A Case Study of the Gond in Bihar'-Anthropos, LXV 1970
- Sahay K N — Trends of Sanskritization Among the

- Orson, Ranchi, Bulletin of the Bihar Tribal Research Institute, Vol. IV No 2, Sep 1962.
- Saksena, R.N — Social Economy of A Polyandrous People, Agra, 1955
- Sarkar, S.A. — The Males of the Rajmahal Hills, Calcutta, 1938
- The Aboriginal Races of India, Calcutta, 1954
- Save, K J — The Warias of Gujarat Bombay, 1945
- Schapera, I — Government & Politics in Tribal Societies, London 1956
- Schneider, D M. & — Matrilineal Kinship, Berkeley & Los Angeles, 1961
- Gough, K
- Sedgwick — Census of India 1921 Report
- Shah, P G — Dublas of Gujarat Delhi, 1958
- Shakespeare, J — The Lushai Kuki Clans, London, 1912
- Sharma R.L — Janjatiya Jeevan Aur Sanskriti Kanpur 1967
- Shaw William — The Thadou Kukis Govt of Assam
- Singer, M — Introduction to the Civilization of India (Ed ), Chicago 1957
- Traditional India Structure & Change (Ed), Philadelphia 1959
- Singh Inderjeet — The Gondwana & the Gonds Lucknow 1944
- Singh K S — Tribal Situation in India (Ed), Simla, 1972
- Sinha, D P — Culture change in an Inter Tribal Market, Bombay 1968
- Sinha, Surjit — Tribe Caste & Tribe-peasant Continuation in Central India, Man in India, Vol. 45 No 1, 1965
- Smith, W C. — The Ao Naga Tribe of Assam, London, 1925

- Soppit, C A — A Short Account of the Kacha Naga Tribe Shillong, 1885  
 — A Short Account of the Kuki Lushai Tribe on the North East Frontier, Shillong, 1885
- Srinivas M N — Kachari Tribes in North Cachar Hills  
 — Religion & Society Among the Coorgs of South India Oxford 1952  
 — India's Villages (Ed) Calcutta, 1955  
 — Social Change in Modern India, Berkeley & Los Angeles, 1966
- Srivastava S K — The Tharus, Agra, 1958
- Stack, E & Lyall — The Mikris London 1908
- Thakkar A.V — The Tribes of India
- Thurnwald — Economics in Primitive Societies Oxford 1932
- Thurston, E — Anthropology of the Todas & Kotas of the Nilgiri Hills, Madras Govt Museum, Bulletin Vol I No 4, Madras 1896  
 — Ethnographic Notes in Southern India, Madras, 1907
- Thurston E & Rangachari — Castes & Tribes of Southern India  
 — 7 Vols Madras 1909
- Vedalkar H — Bhartiya Naslen Avum Janjatiya Jeevan Dehradun 1957
- Vidyarthi L P — Bihar ke Adivasi (Ed) Patna 1960  
 — Indian Anthropology in Action (Ed), Ranchi, 1960  
 — Maler A Study in Nature-man spirit Complex of a Hill Tribe, Calcutta, 1963  
 — Cultural Contours of Tribal Bihar, Calcutta 1964

- Applied Anthropology in India (Ed), Allahabad, 1968.
- Socro—Cultural Implications of Industrialisation in Tribal India, Report submitted to the R. P. C. of the Planning Commission, Delhi, 1970
- Weling, A.N — The Karkaru



## विषय संदर्भिका

### अ

अर्थव्यवस्था	53-88
मूल तत्त्व	81-85
अर्द्धजातिमज्जाति	92, 97
अर्द्धजाति आदिमजातियाँ	11-12
अरेन	201
अस्थायी कुषक	68-72
बैगा	70
नागा	70
जुआग	70
साबरा	71

### आ

आर्थिक वर्गीकरण	54-57
आर्थिक शोषण से प्रेरित आंदोलन	163-165
आर्थिक समस्याएँ	221-232
आदिमजाति	2, 4, 24
आदिवासी	4-43
आदिमजातीय जनसंख्या	18-24
आदिवासी आंदोलन	107-192
आदिवासी धर्म	193, 194, 197
आदिम धर्म	194, 195, 213, 216, 217
आर्यवर्षिण	36
आरस	66

आस्ट्रिक भाषा परिवार	30
आस्ट्रेलायड	38, 39
ओटो	39, 40, 42, 44

इ

इण्डिड	37 38
इण्डो अल्पाइन	37
इण्डो एरियन	37

ए

एपिकैम्बिक फोल्ड	43
------------------	----

जी

जीवोद्योगिक मजदूर	79-81
जीवोद्योगिकरण के प्रभाव	235-239
कय विवाह	105
कर्णवान	94 96
कृषक	72 77
मिजो	72
मापातानी	72-74
संघाल	74
ओरांब	74-75
जुमांग	75
सावरा	75-76
बारू	76
कोरबा	76
कबीसा	2
काबडू	96
कोमन	69
कोविड	38

क

काव्यसंग्रहक एवं शिकारी	57-63
काँज	58-59
कावर	59-61
कालपत्रम्	62
कानियन	62
कुम्भवा	62
कंचू	62-63
किरहोर	63
केल (नागा गण समूह)	139

ख

खण	60, 97
खुडिया	69
खोटा	79
खोण्डिह	37
खोतुल	100

ग

चीनी तिब्बती भाषा परिवार	51
--------------------------	----

घ

जगतोपा	203
जनजाति	2, 4
जाति	2 14-18
जादू	196, 213 214, 215, 216
जीवपानी	204
जीववाद	12, 13
जीवात्मावाद	12
जूम	69

इ

टाई समूह	65
ट्राइब	12
टारवर	67
टैबू	113, 114
टोटम	112-115, 206-208
टोटमवांश	206-207

उ

डोंगरचस	69
---------	----

त

ताना भगत जांबोलन	174-177
तैबाली	67

थ

थवाजी	94
थारवाव	94

द

द्विड	36-39
द्विड भाषा परिवार	49-50
दाही	69
देशप्रधान	143 144

ध

धर्ष	194, 213, 216-217
ध्यांती	102
धार्मिक समस्याएँ	232-235

न

नईय	67
नागा विद्रोह	188-192
नातेवारी	108-110
प्रथाएँ	108-110
निषाद	42
निसाग्रिक	44
नेग्रिटो	36 38, 39, 42-47
नेतृत्व	119 124, 125 127, 131
नोकना	97, 112
नोक्रोम	112

प

परसंस्कृतीकरण	226
परिवार	93 97
केन्द्रीय	93
प्रारम्भिक	93
न्यष्टि	93
विस्तृत	93
हिन्दू समुक्त	94
रक्त सम्बन्धी	94
विवाह सम्बन्धी	94
जन्म	95
जनन	95
एक विवाही	95
बहुविवाही	95
बहुपतिविवाही	95
बहुपत्नीविवाही	95
समूह विवाही	96
पितृसत्तात्मक	96
मातृसत्तात्मक	96

पितृस्वामीय	९६
मातृस्वामीय	९६
मातृस्वामीय	९६
नवस्वामीय	९६
मातृस्वामीय	९६
पितृस्वामीय	९६
परिवीक्षा विवाह	१०३
परीक्षा विवाह	१०४
पल्लव	६५
पर्वतीय कबीला	१२
पशुपालक	६४, ६८
टोडा	६४, ६७
गुज्जर	६७, ६८
भोटिया	६८
प्रजाति	२, ३४
प्राक्प्रविण	३७, ३८ ४२
पिछडे कबीले	१२
पिछडे हिन्दू	१२, १३
प्रिमिटिव ट्राइब	१३
पेंडा	६९
प्रेतात्मावादी	१९५, १९६
पोडू	६९

क

फँटरी	९७
-------	----

ख

बस्तर बान्धोलन	१८०-१९४
बाजार	८८
बिटलहा	११४, १४४
बेबर	६९

बोया 201, 202

ब

बयोल	36, 37, 41 43 44
बंगोलो इन्विडियन	36
बरक	97
बसीही आन्दोलन	161, 163
मानव विज्ञान	3
माता	201
मिजो विद्रोह	185, 187
मुस्त्रिया	127 128 130 131 133 136 138-143, 145, 146 148-151
मुडा विद्रोह	169-174
मोलिड	37
मेलानिड	37
मोद ग	98, 99

ब

बुबागूह	100
यो	98

र

रक्तसम्बन्धी	108
राजनैतिक आन्दोलन	167, 168
राजनैतिक संगठन	118-153
तत्त्व	120
विशेषताएँ	121
कार्य	121 122
आदिमजातियो में	124-132
वर्गीकरण	129-132
भारत के आदिवासियो में	132-153

राक्षी	102
रामा	69

## ब

बर्ग	2
बर्गीकरण	25-52
के आधार	27 28
भौगोलिक	28-34
प्रजातीय	34-47
भाषा के आधार पर	47
बर्गात्मक सम्बोधन शब्द	110
बर्णनात्मक सम्बोधन शब्द	110
बन्ध कबीला	12
बस्तुपूजावाद	204-206
बंस	97
बिलीनीकरण	247
बिलीनीकरणवाद	247
विवाह	101 108
एकविवाह	106
बहुविवाह	107
बहुपतिविवाह	107
बहुपत्नी विवाह	107
विभिन्न विवाह	106
वेदिक	37 42

## क

किल्पी	77-79
कक्षा	110-111

## ख

खंभया	97
-------	----



संघाल विद्रोह	177-180
सम्यक्ति	85-88, 111, 112
स्वामित्व	86-87
उत्तराधिकार	87
सम्बन्धन	96
स्वातन्त्र्य आन्दोलन	165-167
सर्वोच्चानिक सुविधाएँ एवं संरक्षण	249
संरक्षण	202
सहपलायन विवाह	106
सामाजिक संगठन	89-115
सांस्कृतिक समस्याएँ	239-244
सेवा विवाह	105

ह

हठ विवाह	106
हरण विवाह	104
हिन्दू संस्कृति के प्रभाव	226-231

## मुद्रि पत्र

पृ० स०	वैरा	अमुद्र सञ्ज	मुद्र सञ्ज
1	1	सदिग्ध	संदिग्ध
6	अतिम	जनजाति	आदिमजाति
11	2	आसाम	असम
16	2	राजपूत	राजपूत
19	3	अमराम	अरामम
19	3	अधिकारी तथा	अधिकारतया
28	अतिम	25 वर्षों	28 वर्षों
30	अतिम	जनजातियाँ	आदिमजातियाँ
34	2	बहिर्विवाह	अत-विवाह
42	3	बेडुई	बेडुड
45	1	उराली	उराली
59	1	हमे	हम
64	अतिम	बठाठा	बडाया
66	2	बटियाँ	बंटियाँ
68	2	नब्बे	अस्सी
69	2	बेबुर	बेबर
77	2	बाह्य	बाह्य
86	2	बनो	बनों
91	1	टैबू	टैबू
92	अतिम	अतविवाही	अत-विवाही
97	4	अतविवाही	अंत-विवाही
98	2	डोडा	टोडा

302

भारतीय बर्गविवाही

113

1

अंतर्विवाही

अंतर्विवाही

132

अंत्य

कासाम

असम

136

2

साम्राज्य

साम्राज्य

195

1

है

है

196

1

यसम

समय

229

1

अभूतपूर्व

अभूतपूर्व

